



[विराटपर्व सम्पूर्ण, और उद्योगपर्व अध्याय १-५४ तक]

जिसका सम्पादन और संशोधन

महामहोपाध्याय श्री माधव शास्त्री भाण्डारी

व्याकरण-वेदान्ताचार्य साहित्य-मीमांसातीर्थ

प्रधानाध्यापक ओरियण्टल कालेज, लाहौर

ने किया है ।

जिसकी टीका

काशी निवासी विद्वद्भर श्रीराम शास्त्री तैलंग

ने

बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल हिन्दी-भाषा में की है ।

प्रकाशक—

लक्ष्मणदास प्यारेलाल जैनी

श्री महावीर प्रिंटिङ्ग प्रेस, लाहौर ।

(इस ग्रन्थ के सब प्रकार के अधिकार प्रकाशक के आधीन हैं)

प्रथमवार]

सन्वत् १९९३

६)

कन्हीराम नामा के ग्रन्थ में श्री महावीर प्रिंटिङ्ग प्रेस लाहौर में मुद्रित हुआ ।

विराटपर्व।

अध्याय	विषय	पृष्ठ	अध्याय	विषय	पृष्ठ
(पाण्डव-प्रवेश पर्व)			(कीचक-वध पर्व)		
१.	अज्ञातवास के लिए युधिष्ठिर का माइयों से सम्मति करना।	२९३५-२९३८	१४.	कीचक का द्रौपदी पर मोहित होना।	२९८३-२९९०
२.	भीमसेन और अर्जुन की सम्मति।	२९३८-२९४२	१५.	रानी सुदेष्णा का द्रौपदी को कीचक के घर भेजना।	२९९०-२९९३
३.	नकुल, सहदेव और द्रौपदी की सम्मति।	२९४२-२९४५	१६.	राजा विराट की सभा में द्रौपदी का भाग कर जाना और वहीं पर कीचक का उनको लात मारना।	२९९३-२९९९
४.	धौम्य पुरोहित का पाण्डवों को उपदेश देना।	२९४५-२९५३	१७.	द्रौपदी का छिपकर भीमसेन के पास जाना।	३०००-३००२
५.	पाण्डवों का विराट नगर के पास पहुँचना।	२९५३-२९५८	१८.	द्रौपदी का भीमसेन से अपना दुःख कहना।	३००२-३००६
६.	धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा देवी की स्तुति।	२९५८-२९६२	१९.	द्रौपदी का फिर खेद प्रकट करना।	३००६-३०१२
७.	छत्रवेपथारी युधिष्ठिर का राजा विराट की सभा में जाना।	२९६२-२९६५	२०.	द्रौपदी का और भी अपने दुःख कहना।	३०१२-३०१६
८.	भीमसेन का राजा विराट के यहाँ जाना।	२९६५-२९६६	२१.	भीमसेन और द्रौपदी की बातचीत।	३०१६-३०२२
९.	द्रौपदी का राजा विराट के निवास में जाना।	२९६७-२९७१	२२.	द्रौपदी से भीमसेन की सम्मति। कीचक का मारा जाना।	३०२२-३०३४
१०.	सहदेव का राजा विराटके यहाँ उपस्थित होना।	२९७१-२९७४	२३.	मरघट में टपकीचकों का मारा जाना।	३०३४-३०३८
११.	अर्जुन का राजा विराट के यहाँ जाना।	२९७४-२९७६	२४.	रानी सुदेष्णा, द्रौपदी और बृहन्नला का संवाद।	३०३८-३०४२
१२.	नकुल का राजा विराट के यहाँ जाना।	२९७६-२९७८	(गोहरणपर्व)		
(समय-पालन पर्व)			२५.	दुर्योधन के पास जाकर उसके जासूसों का कीचक-वधका वृत्तान्त कहना।	३०४२-३०४४
१३.	भीमसेन के हाथ से जीमूतपहलवान का वध।	२९७८-३०८३	२६.	पाण्डवों का पता लगाने के बारे में दुर्योधन	

अध्याय	विषय	पृष्ठ	अध्याय	विषय	पृष्ठ
	आदि का सम्मति करना ।	३०४४-३०४६		भाइयों का परिचय ।	३१०१-३१०४
२७.	द्रोणाचार्य की सम्मति ।	३०४७-३०४८	४५.	युद्ध करने के लिए अर्जुन की तैयारी ।	३१०४-३१०९
२८.	भीष्म पितामह की सम्मति ।	३०४८-३०५२	४६.	अर्जुन की तैयारी और द्रोणाचार्य का कौरवों से होनेवाले असगुनों का वर्णन करना ।	३१०९-३११३
२९.	कृपाचार्य की सम्मति ।	३०५२-३०५४	४७.	दुर्योधन का उत्तर और युद्ध का निश्चय ।	३११३-३११८
३०.	विराट नगर के लिए सुशर्मा आदि की युद्ध-यात्रा ।	३०५४-३०५७	४८.	कर्ण की वक्ति । अर्जुन को मारने की इच्छा ।	३११८-३१२०
३१.	युद्ध के लिए राजा विराट की तैयारी ।	३०५७-३०६१	४९.	कृपाचार्य की सम्मति ।	३१२१-३१२४
३२.	सुशर्मा और राजा विराट का युद्ध ।	३०६१-३०६५	५०.	अश्वत्थामा के वचन ।	३१२४-३१२७
३३.	विराट का हारना, छुटकारा, और फिर सुशर्मा का परास्त होना ।	३०६५-३०७२	५१.	पितामह भीष्म की सम्मति ।	३१२७-३१३०
३४.	विराटकृत पाण्डवों का सम्मान	३०७२-३०७४	५२.	पितामह भीष्म की सम्मति ।	३१३०-३१३३
३५.	कौरवों का मत्स्यराज की राजधानी में पहुंच कर गाँव छीन ले जाना ।	३०७४-३०७७	५३.	कौरव दल पर अर्जुन का आक्रमण ।	३१३३-३१३६
३६.	उत्तर कुमार और द्रौपदी की बातचीत ।	३०७७-३०८०	५४.	कर्ण का हारकर युद्ध-क्षेत्र से भागना ।	३१३६-३१४१
३७.	राजकुमारी उत्तरा और बृहन्नला का संवाद ।	३०८०-३०८४	५५.	अर्जुन का अन्य वीरों के साथ युद्ध करने जाना ।	३१४१-३१४८
३८.	उत्तर का भयभीत होना और अर्जुन का दाइस बंधाना ।	३०८४-३०९०	५६.	युद्ध से पहले ।	३१४८-३१५०
३९.	कौरवों का अर्जुन के सम्बन्ध में बातचीत करना ।	३०९०-३०९३	५७.	कृपाचार्य और अर्जुन का युद्ध	३१५१-३१५५
४०.	अर्जुन का उत्तर से शमीवृक्ष पर चढ़कर अस्त्र-शस्त्र उतारने के लिए कहना ।	३०९३-३०९४	५८.	द्रोणाचार्य और अर्जुन का युद्ध ।	३१५५-३१६४
४१.	उत्तर का वृक्ष पर चढ़कर शस्त्रों को देखना ।	३०९४-३०९५	५९.	अश्वत्थामा से अर्जुन का युद्ध	३१६४-३१६६
४२.	उत्तर का अस्त्रों के बोरे में पूछना ।	३०९६-३०९८	६०.	कर्ण का हारकर भागना ।	३१६७-३१७०
४३.	अर्जुन का दिया हुआ अस्त्रों का परिचय ।	३०९८-३१००	६१.	दुःशासन आदि योद्धाओं का हारना ।	३१७०-३१७६
४४.	अर्जुन का दिया हुआ अपना और अपने		६२.	सब महारथियों का मिळकर अर्जुन से युद्ध करना ।	३१७६-३१७८
			६३.	सब महारथियों का अर्जुन से हारकर भागना ।	३१७९-३१८०

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पांडवान् ।

धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥ १७ ॥

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम् ।

कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥ १८ ॥

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम् ।

आसाद्य मत्स्यं तत्कर्म प्रब्रूत कुरुनंदनाः ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच—नरदेव कथं तस्य राष्ट्रं कर्म करिष्यसि ।

विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ॥ २० ॥

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः ।

राजंस्त्वमापदाऽऽकृष्टः किं करिष्यसि पांडव ॥ २१ ॥

न दुःखमुचितं किंचिद्राजा वेद यथा जनः ।

सं इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—शृणुध्वं यत्करिष्यामि कर्म वै कुरुनंदनाः ।

विराटमनुसंप्राप्य राजानं पुरुपर्षभाः ॥ २३ ॥

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः ।

कंको नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥ २४ ॥

में सम्मति करके एक ऐसा रमणीय कल्याणदायक स्थान रहने के लिए ठीक कर देना चाहिए, जहां हम इस तेरहवें वर्ष को बेलटके व्यतीत कर सकें। हे भाई! मत्स्य देश के राजा विराट धर्मात्मा, दाता, वृद्ध, बलवान् और हम पाण्डवों पर कृपा रखनेवाले हैं। मेरी समझ में हम लोगों को उन्हीं के यहां रहना चाहिए। जो तुम लोग पसन्द करो तो गुणी जगत्प्रसिद्ध राजा विराट के कार्य करते हुए हम लोग उन्हीं के यहां यह वर्ष बितावें। हे भाइयो! अब तुम लोग यह निश्चय करके कहो कि हममें से कौन क्या कार्य करके उनके यहां रहेगा ॥१५॥१६॥

अर्जुन ने कहा—हे नरदेव! आप राजा विराट

के यहां रहकर क्या कार्य करेंगे? हे महाराज! आप कोमल, उदार, लज्जाशील, धार्मिक और सत्यवादी हैं। इस आपत्ति में पढ़कर आप कौन सा कार्य करेंगे? आप पृथ्वी के अधीश्वर होकर साधारण जनों की तरह दुःख सहने में असमर्थ हैं। भला आप इस घोर आपत्ति में पढ़कर किस तरह इससे उबरेंगे? ॥२०॥२१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे अर्जुन! मैं राजा विराट के यहां जाकर जो कार्य कलेंगा सो सुनो। मेरा निश्चय यह है कि मत्स्य देश राजा विराट के पास जाकर उनकी सभा में मुख्य सभासद बनकर रहूंगा। मैं वहां यह प्रसिद्ध करूंगा कि मैं पाँसे के खेल (चौसर) में उस्ताद, घृतपिय, कइ नाम का ब्राह्मण

अध्याय	विषय	पृष्ठ	अध्याय	विषय	पृष्ठ
		३३१४-३३१८			३४१२-३४२३
२७.	सन्धि के लिए सञ्जय का फिर समझाना ।	३३१८-३३२२	४०.	विदुर का फिर समझाना ।	३४२३-३४२७
२८.	धर्मराज युधिष्ठिर का उत्तर ।	३३२२-३३२५		(सनत्सुजातपर्व)	
२९.	सञ्जय के प्रति श्रीकृष्ण से वचन ।	३३२५-३३३४	४१.	सनत्सुजात ऋषि का आना ।	३४२७-३४२९
३०.	युधिष्ठिर का सञ्जय से, अपनी ओर से, सगको यथायोग्य पूछने के लिए कहना ।	३३३४-३३४१	४२.	धृतराष्ट्र और सनत्सुजात का संवाद ।	३४२९-३४३६
३१.	युधिष्ठिर का फिर सञ्जय से नीति-वाक्य कहना ।	३३४१-३३४४	४३.	सनत्सुजात का धृतराष्ट्र को तत्त्वोपदेश कहना ।	३४३६-३४४४
३२.	सञ्जय का हस्तिनापुर को लौटना ।	३३४४-३३४८	४४.	उपनिषद् की बातों का वर्णन	३४४४-३४४९
	(प्रजागरपर्व)		४५.	ब्रह्म और ब्राह्मण का वर्णन	३४४९-३४५२
३३.	विदुर, धृतराष्ट्र-संवाद ।	३३४९-३३६५	४६.	शुक्र-महात्म्य-वर्णन ।	३४५२-३४५७
३४.	राजाओं के चरित्र और अन्य रीतियाँ ।	३३६५-३३७६		(यानसन्धिपर्व)	
३५.	विरोचन और सुघन्वा का झगड़ा ।	३३७७-३३८७	४७.	धृतराष्ट्र की सभा में सञ्जय का आना ।	३४५८-३४५९
३६.	आत्रेय मुनि और साध्यगण का संवाद ।	३३८७-३३९७	४८.	पाण्डवों का संदेशा कहना ।	३४६०-३४७४
३७.	विदुर का हित के अनेक वचन कहकर धृतराष्ट्र को समझाना ।	३३९७-३४०६	४९.	भीष्म, कर्ण, और द्रोण की सम्मति ।	३४७४-३४८०
३८.	विदुर का फिर समझाना ।	३४०६-३४१२	५०.	सञ्जय का युधिष्ठिर के उद्योग का हाल कहना ।	३४८०-३४८६
३९.	विदुर और धृतराष्ट्र की और भी बातचीत ।		५१.	भीमसेन का बल याद करके धृतराष्ट्र का शोक ।	३४८६-३४९३
			५२.	अर्जुन का बल बखान कर धृतराष्ट्र का खेद ।	३४९४-३४९६
			५३.	धृतराष्ट्र का पश्चात्ताप ।	३४९६-३४९८
			५४.	सञ्जय का उत्तर ।	३४९८-३५०१

अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषान्द्रुतम् ।
 दिव्यान्यस्त्राणि चाऽऽप्तानि देवरूपेण भास्वता ॥ २० ॥
 यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम् ।
 वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ॥ २१ ॥
 यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ ।
 दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ॥ २२ ॥
 हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव ।
 त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाद् ॥ २३ ॥
 मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव ।
 वरः सन्नह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ २४ ॥
 अर्जुन उवाच—प्रतिज्ञां पढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ।
 ज्याघातौ हि महांतौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ॥ २५ ॥
 बलवैश्लादायिष्यामि बाहू किणकृताविभौ ।
 कर्णयोः प्रतिमुच्याऽहं कुडले ज्वलनप्रभे ॥ २६ ॥
 पिनद्धकंबुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
 वेणीकृतशिरा राजन्नाम्ना चैव बृहन्नला ॥ २७ ॥
 पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः ।
 रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चांस्तःपुरे जनात् ॥ २८ ॥

पांच वर्ष तक न्वर्ग में रहकर अपने प्रभाव से वह अस्त्र-विद्या सीखी है जो मनुष्यों के लिए असाध्य है और सब दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥१५१२०॥

मैं इन्हें बाणवा रुद्र, तेरहवा आदित्य, नवा वसु और दशवां ग्रह समझता हूँ। इनकी सुजाएँ लम्बी, नरावर का बल रखनेवाली और प्रत्यक्षा की रगड़ से कठिन हैं। जैसे पर्वतों में हिमाचल, नदियों में समुद्र, देवताओं में इन्द्र, वसुओं में अग्नि, मृगों में सिंह, और पक्षियों में गरुड़ श्रेष्ठ हैं वैसे ही सब धारों में श्रेष्ठ अर्जुन राजा विशाट के यहाँ [कौन सा

रूप रखकर] क्या काम करके अज्ञातवास करेंगे? २१।२४

अर्जुन न कहा—हे धर्मराज! मैं विशाट के यहाँ जाकर अपने को नपुंसक (हिजड़ा) बताऊंगा। हे राजेन्द्र! मेरी कलाइयों में घनुष की डोरी की रगड़ के बड़े-बड़े घट्टे पड़े हुए हैं। उन्हें छिपाने के लिए मैं हाथों में चूड़ियाँ पहन लूंगा। कानों में चमकीले कुण्डल, हाथों में चूड़ियाँ और सिर पर चोटी धारण करके मैं वहाँ अपना नाम बृहन्नला बताऊंगा। इस प्रकार स्त्री-वेश धारण करके मत्स्यराज के यहाँ रहूँगा। वहाँ प्रायः स्त्रियों के कहने-सुनने योग्य कित्से-कहा-

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उपिताऽस्मीति वक्ष्यामि पृष्ठा राज्ञा च भारत ॥ १९ ॥
आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २० ॥
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्या यशस्विनीम् ।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत्ते दुःखमीदृशम् ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कल्याणं-भापसे कृष्णे कुले जाताऽसि भामिनि ।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता ॥ २२ ॥
यथा न दुर्हृदः पापा भवंति सुखिनः पुनः ।
कुर्यास्तत्त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

के यहां मैं अपने को सैरन्त्री बताऊंगी। लोग जानते हैं कि सैरन्त्री पतिव्रता और अच्छी जाति की होती हैं। मैं राजमवन में आप अपनी रक्षा कर लूंगी। [कहूंगी कि मेरे कुछ नियम हैं, उनका मैं पालन करती हूँ। उन्हीं नियमों से मैं अपनी रक्षा करूंगी।] मैं अपने को केशों का शूद्रार करने में निपुण बताऊंगी कोई पृच्छेगा तो कहूंगी कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर के यहां द्रौपदी के पास रहती थी। मैं यशस्विनी

महारानी सुदेष्णा के पास रहूंगी। वे सदा मेरी रक्षा करेगी। वे अवश्य मुझे रख लेंगी ॥१८२१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे द्रौपदी! तुम भले घर की बेटी हो, तुमने अपने योग्य ही बात कही है। तुम पतिव्रता हो। तुम पाप को जानती ही नहीं। देखो, ऐसी सावधानी से वहां रहना जिसमें कोई तुमको पदचान न सकें और हमारे पापी शत्रु फिर सुखी होने का अवसर न पा जायं ॥२२२३॥

विराटपर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ ।

मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात् ॥ १ ॥

पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु ।

सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने ॥ २ ॥

चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—विनाट के यहां रहकर तुम लोग जो कार्य करोगे उन्हें कह चुके और मैं जो करूंगा सो भी कह चुका। मेरी सन्मति यह है कि अब

हमारे पुरोहित घौम्य, रसोदये आदि के साथ, महाराज द्रुपद के यहां जाकर रहें और वहां हमारे अग्निहोत्र के अग्नि की रक्षा करें। इन्द्रसेन आदि हमारे

स साधु कौतिय इतो वासमर्जुन रोचय ।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाऽविदिताः परैः ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच—तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप ।
अज्ञाता विचारिष्यामो नराणां नाऽत्र संशयः ॥ १० ॥

तत्र वासाय राप्राणि कीर्त्तयिष्यामि कानिचित् ।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किञ्चित्स्म रोचय ॥ ११ ॥

संति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटञ्चराः ॥ १२ ॥

दशार्णां नवराप्राश्च मल्लाः शाल्वा युगंधराः ।
कुंतिराष्ट्रं च विपुलं सुराप्रावंतयस्तथा ॥ १३ ॥

एतेषां कतमो राजन्निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन्संवत्सरमिमं वयम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान्प्रभुः ।
अत्रवीत्सर्वभूतेशस्तत्तथा न तदन्यथा ॥ १५ ॥

अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
समन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ॥ १६ ॥

अपने राज्य से निकलकर वन में रहते बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस समय बहुत ही क्रेश देनेवाला अज्ञातवास का तेरहवां वर्ष लगा हुआ है। इसलिए हे अर्जुन! तुम देसा कोई स्थान पसन्द करो, जहाँ गुप्त रूप से एक वर्ष तक हम रह सकें और शत्रु लोग हमारा पता न लगा पावें ॥७१॥

अर्जुन ने कहा—हे नरश्रेष्ठ! इसमें सदेह नहीं कि हम लोग धर्मराज के वादान के प्रभाव से एक वर्ष इस तरह व्यतीत कर देंगे कि कोई मनुष्य हमको न पहचान सकेगा। मैं अज्ञातवास के योग्य कई एक परम रमणीय सुरक्षित राज्यों के नाम गिनाता हूँ। इनमें से आप जिस राज्य में रहना पसन्द करें उसे

बतावें। कुरूदेश के चारों ओर पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटञ्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, बहुविस्तृत कुंतिराष्ट्र, सुराष्ट्र, अवन्ती, [वैदेह, मगध] आदि अनेक घन-धान्य से पूर्ण रमणीय राज्य हैं। राजा विराट का राज्य भी अज्ञातवास के योग्य है। बताइए, इनमें कौन सा राज्य आपकी समझ में रहने योग्य है? हम वहीं पर आपके साथ रहकर सुख से तेरहवा वर्ष व्यतीत कर सकते हैं ॥१०॥१४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाबाहो! सब प्राणियों के ईश्वर भगवान् धर्म ने जो कहा है वह कदापि मिथ्या न होगा। हम लोग तेरहवा वर्ष छिपकर व्यतीत करने में अवश्य ही सफल होंगे। इस समय आपस

नाऽस्याऽनिष्टानि सेवेत नाऽहितैः सह संबदेत् ।
 स्वस्थानान्न विकंपेत स राजवसतिं वसेत् ॥ २७ ॥
 दक्षिणं वाऽथ वामं वा पार्श्वमासीत् पंडितः ।
 रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चाद्विधीयते ॥ २८ ॥
 नित्यं हि प्रतिपिद्धं तु पुरस्तादासनं महत् ।
 न च संदर्शने किंचिप्रवृत्तमपि संजयेत् ॥ २९ ॥
 अपि ह्येतद्दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम् ।
 न मृपाऽभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥
 असूयंति हि राजानो नरान्मृतवादिनः ।
 तथैव चाऽवमन्यन्ते नरान्पंडितमानिनः ॥ ३१ ॥
 शूरोऽस्मीति न हसः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः ।
 प्रियमेवाऽऽचरन्राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ ३२ ॥
 ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः ।
 अप्रमत्तो भवेद्राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ॥ ३३ ॥
 यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः ।
 कस्तस्य मनसाऽपीच्छेदनर्थं प्राज्ञसंमतः ॥ ३४ ॥

कहनी चाहिए । राजा की आज्ञा या उसकी बात का
 अनादर न करना चाहिए । राजा के सम्बन्ध में
 अप्रिय और अहित वचन कभी न कहना चाहिये ।
 बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अपने को राजा का प्रिय-
 पात्र न समझकर उसकी सेवा करे; राजा का प्रिय
 और हित करने में सावधानी से सचेष्ट रहे । जो व्यक्ति
 राजा के अनिष्ट की चेष्टा से दूर रहता है, अनधिकार
 चर्चा नहीं करता और राजा का अहित चाहने-
 वालों से अलग रहता है वही राजा के पास रहने
 का अधिकारी है ॥२२।२७॥

बुद्धिमान् पुरुष को राजा के दाहने या बायें
 बैठना चाहिए; क्योंकि राजा के पीछे अन्न-शस्त्र-धानी

सैनिकों का स्थान होता है [और आगे का स्थान
 खाली पड़ा रहता है । राजदरबार में विनोत भाव से
 बैठना चाहिए] । राजा के आगे बैठना मना है ।
 राजा के पुरस्कार आदि देते समय, बिना बुलाये,
 लेने को न पहुँचना चाहिए । राजा की किसी असत्य
 बात को भी किसी के आगे प्रकट करना उचित नहीं;
 क्योंकि वैसे करने से राजा कुपित हो जाते हैं । २८।३० ।

राजा के आगे अपनी पण्डितार्ह न छंटनी
 चाहिए; क्योंकि जो लोग प्रसा करते हैं उनको राजा
 लोग अनादर की दृष्टि से देखते हैं । राजा के आंग
 अपने शूर और बुद्धिमान् होने का गर्व करना भी
 उचित नहीं । जो लोग सावधानी से राजा का प्रिय

वैदूर्यान्कांचनान्दांतान्फलैर्ज्योतीरसैः सह ।
 कृष्णाक्षां ह्योहिताक्षांश्च निर्वत्स्यामि मनोरमान् ॥ २५ ॥
 विराटराजं रमयन्सामात्यं सहवांधवम् ।
 न च मां वेत्स्यते कश्चित्तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥ २६ ॥
 आसं युधिष्ठिरस्याऽहं पुरा प्राणसमः सखा ।
 इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥ २७ ॥
 इत्येतद्गो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।
 घृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥ २८ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हं । मैं वहां [विसात विद्याकर] लाल, काली, हरी और पीली गोटे बसाऊंगा और राजा का जी बहलाने के लिए [उनके साथ] चौसर खेलूंगा । [मेरे पास दर्शनीय बड़िया पासि हैं । मैं जब उन्हें फेंकूंगा तब उनको देखकर सभा के सब लोग प्रसन्न होंगे । ज्योतिष, सगुन, चौसर के खेल, वेद-वेदाङ्ग, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, नीतिशास्त्र आदि के सम्यन्ध में जब जो कुछ राजा मुझ से पूछेंगे सो सब मैं उन्हें बताऊंगा । इन बातों में मेरा पूरा दखल है ।] इस

प्रकार भाई-बन्धु-मन्त्री आदि सहित राजा विराट को प्रसन्न करता हुआ मैं उनकी सभा में रहूंगा । मुझे कोई पहचान न पावेगा । यदि राजा विराट मुझसे पूछेंगे तो कह दूंगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर का प्राण-प्रिय मित्र था । इस प्रकार [अपने को छिपाकर] मैं राजा विराट की राजधानी में रहूंगा । अब भीमसेन, ध्रुम बताओ । तुम किस प्रकार राजा विराट के यहां छिपकर रहोगे ? ॥२३।२८॥

—०—

विराटपर्व का पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भीमसेन उवाच—पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
 उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥ १ ॥
 सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे ।
 कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यंजनानि सुशिक्षितैः ॥ २ ॥

दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! मैं मत्स्यराज विराट के पास जाकर कहूंगा कि मैं तरह-तरह की रसोई बनानेवाला बल्लव नाम का रसोइया हूँ । मैं

रसोई बनाने में बड़ा ही चतुर हूँ । विराट के यहां मैं अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री बनाऊंगा । पहले चतुर सुशिक्षित रसोइये महाराज विराट के लिए जो

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
 अग्निहोत्राण्युपादाय पांचालानभ्यगच्छत ॥ ५७ ॥
 इंद्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
 रथानश्वांश्च रक्षंतः सुखमूपुः सुसंवृताः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

है । इस तरह सब सहनशील होकर एक वर्ष व्यतीत करो । फिर अपना राज्य पाकर इच्छानुसार व्यवहार करना ॥४६।५१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! आपने हमको बड़े हितकारी उपदेश दिये हैं । माता कुन्ती और महाबुद्धिमान् चाचा विदुर के सिवा हमको ऐसे उपदेश देनेवाला और कोई नहीं । अब आप वही उपाय कीजिए जिससे हमारा इस दुःखसागर से उद्धार हो ॥५२।५३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र ! हत प्रकार युधिष्ठिर के कहने पर महर्षि धौम्य ने यात्रा के समय के स्वस्ति-

कर्म का सब सामान ठीक-ठीक किया । युधिष्ठिर के विजय और राज्य प्राप्त करने के लिए अग्नि जलाकर, मन्त्र पढ़कर, धौम्य ने हवन किया । उस अमिकुण्ड की और तपस्वी ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके, द्रौपदी को आगे करके, पाण्डव वहाँ से चल पड़े । इसके पश्चात् पाण्डवों के पुरोहित महर्षि धौम्यजी पाण्डवों के अग्निहोत्र लेकर पाञ्चाल देश की ओर गये । पाण्डवों के अनुचर इन्द्रसेन आदि, रथ-घोड़े आदि लेकर, यादवों की झारकापुर्ग में गये और वहाँ बड़े सुख से रहने लगे ॥५४।५८॥

विराटपर्व का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते वीरा वद्धनिस्त्रिंशस्तथा वद्धकलापिनः ।
 वद्धगोधांगुलित्राणाः कालिंदीमभितो ययुः ॥ १ ॥
 ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन्पदातयः ।
 निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्तवस्तदा ।
 वसंतो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः ॥ २ ॥
 विध्यंतो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः ।
 उत्तरेण दशाण्णस्ते पंचालान्दक्षिणेन च ॥ ३ ॥

पांच अध्याय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् पाण्डव लोग अपना राज्य पाने की इच्छा से [बारह वर्ष वनवास करके, उक्त वन से विराटनगर के लिए चल दिये ।] गोद के चमड़े के अंगुलि-

त्राण पढ़ने और धनुष, खड्ग, तरकस तथा अनेक शस्त्र बांधे हुए पैदल चलते-चलते यमुना नदी के दक्षिण तट पर पहुँचे । वे वीर कभी पर्वतों पर और कभी जङ्गलों में शिकार करते थे । [अनेक दर्शनीय

युधिष्ठिर उवाच—यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन् नृणां वरम् ।
 दिधक्षुः खांडवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ॥ ११ ॥
 महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनंदनम् ।
 सोऽयं किं कर्म कौतेयः करिष्यति धनञ्जयः ॥ १२ ॥
 योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम् ।
 विजित्यैकरथेनेद्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ॥ १३ ॥
 वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः ।
 श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ १४ ॥
 सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः ।
 आशीविपश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ॥ १५ ॥
 आयुधानां वरं वज्रं ककुद्भी च गवां वरः ।
 हृदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ॥ १६ ॥
 धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिपैरावतो वरः ।
 पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ॥ १७ ॥
 यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर ।
 एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १८ ॥
 सोऽयमिन्द्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः ।
 गांडीवधन्वा वीभत्सुः श्वेताश्वः किं करिष्यति ॥ १९ ॥
 उपित्वा पंच वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि ।

युधिष्ठिर ने कहा—खाण्डव वन जलाने की इच्छा से ब्राह्मण का रूप रखकर साक्षात् अग्निदेव जिन—कृष्ण के सखा, महाबली, महाबाहु, विजयी, पुरुषश्रेष्ठ—अर्जुन के पास आये थे; जिन्होंने अकेले ही रथ पर सवार हो इन्द्र को परास्त कर तथा नागों और राक्षसों को मारकर अग्नि को तृप्त किया था; जो नागराज वासुकि की बहन को हर लाये; जो प्रधान योद्धाओं में श्रेष्ठ हैं, वे पराक्रमी अर्जुन किम

प्रकार छिपकर रहेंगे ? ॥१११११॥

जैसे प्रतापियों में सूर्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, सांघों में आशीविप, तेजस्वियों में अग्नि, शस्त्रों में वज्र, बैलों में साड, पशुओं में सिंह, बसनेवालों में मेघ, नागों में धृतराष्ट्र, हाथियों में परावत, प्रियों में पुत्र [पक्षियों में गरुड], और सुहृदों में भार्या श्रेष्ठ हैं, वैसे ही सब धनुषधारियों में अर्जुन श्रेष्ठ हैं । ये इन्द्र और श्रीकृष्ण के समान प्रभावशाली हैं । इन्होंने

तामुपारुह्य नकुलो धनूपि निदधे स्वयम् ।
 यानि तस्याऽवकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥ २९ ॥
 यत्र चाऽपश्यत स वै तिरो वर्षाणि वर्षति ।
 तत्र तानि दृष्टैः पाशैः सुगाढं पर्यबंधत ॥ ३० ॥
 शरीरं च मृतस्यैकं समवध्नंत पांडवाः ।
 विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥ ३१ ॥
 आवद्धं शत्रुमत्रेति गंधमाप्राय पूतिकम् ।
 अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ॥ ३२ ॥
 कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा ।
 समासज्ज्याऽथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरन्ति ते ॥ ३३ ॥
 आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः ।
 आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिवर्हणाः ॥ ३४ ॥
 जयो जयंतो विजयो जयत्सेनो जयद्वलः ।
 इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥
 ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन्नगरं महत् ।
 अज्ञातचर्यां वत्स्यंतो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

जीता था उस घनुप की डोरी इम समय उन्होंने उतार दी ॥२१२७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! जब वे घनुप, सन्न, महामूल्य तरकस और तीक्ष्ण धार-वाले तीर आदि एक जगह एकत्र हो गये तब धर्मराज ने नकुल से कहा—हे वीर! तुम इस शमी के पेड़ पर चढ़कर इन हथियारों को उसमें [सुरक्षित स्थान पर] रख दो। युधिष्ठिर की आज्ञा से उस वृक्ष पर चढ़कर नकुल ने वे सब दस्त ऐसी जगह पर (खोड़ में) पाश से बांधकर रख दिये जो सुरक्षित, दृढ़ और गुप्त थी तथा जहां पर वर्षा का जल नहीं पहुंच

सकता था ॥२८॥३०॥

फिर यह सोचकर कि मुर्दे की गन्ध पाकर कोई मनुष्य इस स्थान पर न आवेगा, उन्होंने उस पेड़ की डाल में एक मुर्दा बांध दिया। इसके पश्चात् वहां जो लोग गाय, भेड़-बकरी आदि चरानेवाले घूम करते थे उनमें पाण्डवों ने यह बात फैला दी कि हम लोगों ने, अपने कुल की रीति के अनुसार, अपनी एक सौ अस्सी वर्ष की अवस्थावाली बुढ़िया माता का मृत शरीर इस पेड़ में बांध दिया है। अब युधिष्ठिर ने—किसी आपत्ति के समय दरदर पुकारने के लिए—जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जय-

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।
 शिक्षयिष्याम्यहं राजन्विराटस्य पुरास्त्रियः ॥ २९ ॥
 प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृत वदन् ।
 छादयिष्यामि कौंतेय माययाऽऽत्मानमारत्मना ॥ ३० ॥
 युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
 उपिताऽस्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राजा च पांडव ॥ ३१ ॥
 एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथा नलः ।
 विहरिष्यामि राजेंद्र विराटभवने सुखम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

निया कहकर रनिवास की स्त्रियों को और राजा को सन्तुष्ट करूंगा ॥२५१२८॥

रनिवास की स्त्रियों को तरह तरह का नाच और गाना-बजाना सिखाऊंगा । राजा के आगे प्रजा के आचार व्यवहार का वर्णन करूंगा । इस प्रकार स्त्रियों के भाव दिखाकर मायापूर्वक में अपने आप को छिपाये रहूंगा । राजा के पूछने पर कहूंगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर के यहा द्रौपदी की सेवा करनेवाली दासी थी । धर्मराज मुझे बहुत मानते थे हे धर्मराज ! [मैं

उर्वशी के शाप से नि सदेह नपुंसक हो गया हू । तेरहवें वर्ष के पश्चात्, इन्द्र की कृपा से, मेरा उस शाप से छुटकारा होगा ।] जैसे राजा नल बनापटी रूप में छिपकर रहे थे वैसे ही मैं भी अपने को छिपा कर राजा विराट के यहा सुख से रहूंगा । धार्मिक श्रेष्ठ धीर अर्जुन यों कहकर चुप हो गये । अब महाराज युधिष्ठिर ने और भाइयों से [अज्ञातवास के सम्बन्ध में] पूछा ॥२९१३२॥

—०—

विराटपर्व का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तथाऽर्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
 वाक्यं तथाऽसौ विरराम भूयो नृपोऽपरं भ्रातरमावभाषे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि ।
 कर्म तत्त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः ॥
 सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे नकुल ! तुम सुकुमार, शूर, सुन्दर और सुख भोगने के योग्य हो । इसलिए हे भाई ! तुम राजा विराट के यहा कौन सा कार्य करते हुए अज्ञातवास करोगे ? ॥११२॥

नृणां च बंधनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ २३ ॥

व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि ।

सांऽहं राज्यात्परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ॥ २४ ॥

प्रणतश्च यथा भूर्धा तव देवि सुरेश्वरि ।

त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्त्र नः ॥ २५ ॥

शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले ।

एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पांडवम् ॥ २६ ॥

उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत् ।

देव्युवाच—शृणु राजन्महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ॥ २७ ॥

भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव ।

मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ॥ २८ ॥

राज्यं निष्कंटकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनी पुनः ।

भ्रातृभिः सहितो राजन्प्रीतिंप्राप्स्यसि पुष्कलाम् ॥ २९ ॥

मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति ।

ये च संकीर्त्तयिष्यन्ति लोके विगतकल्मषाः ॥ ३० ॥

तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुः सुतम् ।

प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ॥ ३१ ॥

अटव्यां दुर्गकांतरे सागरे गहने गिरौ ।

पा जाते हैं । कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, सन्तान, बुद्धि, सन्ध्या, रात्रि, पमा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया आदि सब तुम्हीं हो ॥१९॥२३॥

तुम्हारी पूजा करने से लोग बन्धन, मोह, पुत्र-नाश, धन-क्षय, व्याधि, मृत्यु और सब प्रकार के भय से छुटकारा पा जाते हैं । [तुम देवी-देवताओं की ईश्वरी, सत्यरूपिणी, शरणागत जनों की रक्षा करनेवाली और भक्तों पर प्यार रखनेवाली हो।] मैं ही राज्य से भ्रष्ट होकर तुम्हारी शरण में आया हूँ और

तुमको प्रणाम कर रहा हूँ । कृपा करके मेरी रक्षा करो ॥२३॥२६॥

युधिष्ठिर के मुँह से अपनी स्तुति सुनकर देवी बहुत प्रसन्न हुई । राजा युधिष्ठिर के आगे प्रकट होकर उन्होंने कहा—हे राजेन्द्र ! सुनो, मेरी कृपा से शीघ्र ही युद्ध में-तुम्हें विजय प्राप्त होगी । हे महाबाहु ! मेरे प्रसाद से कौरवों को हराकर माहियों के साथ, प्रसन्नतापूर्वक तुम निष्कण्टक राज्य भोगोगे और पृथ्वी का पालन करोगे । तुम्हें सुख और अरोग्य प्राप्त होगा ॥२७॥३०॥

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मंगलम् ।
 तत्सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते ॥ ११ ॥
 वृषभानपि जानामि राजन्पूजितलक्षणान् ।
 येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि बंध्या प्रसूयते ॥ १२ ॥
 सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा ।
 न च मां वेत्स्यते कश्चित्तोपयिष्ये च पार्थिवम् ॥ १३ ॥
 युधिष्ठिर उवाच—इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
 मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठत्र च स्वसा ॥ १४ ॥
 केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति ।
 न हि किञ्चिद्विजानाति कर्म कर्तुं यथास्त्रियः ॥ १५ ॥
 सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी ।
 पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ॥ १६ ॥
 माल्यगंधानलंकारान्वस्त्राणि विविधानि च ।
 एतान्येवाऽभिजानाति यतो जाता हि भामिनी ॥ १७ ॥
 द्रापयुवाच—सैरंध्योऽरक्षिता लोके भुजिष्याः संति भारत ।
 नैवमन्याः स्त्रियो यांति इति लोकस्य निश्चयः ॥
 साऽहं व्रुवाणा सैरंधी कुशला केशकर्माणि ॥ १८ ॥

को अच्छी तरह कर सकता हूँ । मैं गायों के लक्षण, वाचरण और उनके शुभाशुभ को अच्छी तरह जानता हूँ । हे महाराज ! मैं ऐसे सुलक्षणवाले श्रेष्ठ बैलों को भी पहचानता हूँ, जिनके मूत्र को संघने से बांझ स्त्री के भी बच्चा उत्पन्न होता है । मैं विराट-नगर में इस, अपने मिय. कार्य को करता हुआ रहूँगा । आप कुछ चिन्ता न करें । कोई मुझे पहचान न सकेगा । मैं अपने कार्य से राजा विराट को सन्तुष्ट करवेंगा ॥ ८।१३ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—द्रौपदी वहां क्या कार्य करेगी ? ये तो और स्त्रियों की तरह कोई कार्य करना नहीं जानती । ये हम लोगों को प्राणों

से भी प्यारी हैं । ये माता (कुलाचार) के समान पालनीय और बड़ी बहन (पार्वती) के समान पूजनीय हैं । ये पतिव्रता, सुशीला, यशस्विनी, सुकुमारी, राजपुत्री द्रौपदी राजा विराट के यहां कैसे क्या करके रहेंगी ? जन्म से लेकर माला, गन्ध, गहने, अनेक प्रकार के वस्त्र आदि उपभोग की सामग्री के सिवा ये तो और कुछ भी नहीं जानती ॥ १४।१७ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे महाराज ! आप मेरे लिए चिन्ता न करें । बड़े लोगों के यहा अच्छे बंधा की ऐसी स्त्रियां रहा करती हैं जो स्त्रियों के शृङ्गार का कार्य करती हैं । वे सैरंध्री कहलाती हैं । राजा विराट

आज से मेरे प्रिय सखा हुए । मैं जिस तरह की सवारी पर चढ़ता हूँ उसी तरह की सवारी पर तुम भी चढ़ सकोगे । इच्छानुसार तुम भी मेरे ही समान भोजन, वस्त्र, गहने आदि का उपभोग कर सकोगे । तुमको मेरे रनिवास में भी जाने का अधिकार होगा । कोई मनुष्य जीविका के लिए तुम्हारे पास आकर प्रार्थना करे तो तुम मुझे उसकी सूचना देना । मैं

इच्छा के अनुसार तत्काल उसका प्रबन्ध कर दूंगा । मुझे तुम किसी तरह का सङ्कोच न करना ॥१५॥१७॥
वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! नर-श्रेष्ठ युधिष्ठिर इस प्रकार मत्स्यराज विराट से मिलकर, पाम आदर पाकर, बड़े सुख से वहाँ रहने लगे । युधिष्ठिर के वहाँ जाकर रहने का वृत्तान्त किसी को मालूम नहीं हुआ ॥१८॥

विराटपूर्व का सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथाऽपरो भीमवलःश्रिया ज्वलन्तुपाययौ सिंहावेलासविक्रमः ।

खजां च दर्वी च करेण धारयन्नसिं च कालांगमकोशमव्रणम् ॥ १ ॥

स सूदरूपः परमेण वर्चसा रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन् ।

स कृष्णवासा गिरिराजसारवांस्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान् ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं ततोऽब्रवीजानपदान्समागतान् ।

सिंहोन्नतांसोऽयमतीवरूपवान्प्रदृश्यते को नु वरर्षभो युवा ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा वितर्कयन्नाऽस्य लभामि निश्चयम् ।

तथाऽस्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्नरर्षभस्याऽस्य नयामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं गंधर्वराजो यदि वा पुरंदरः ।

जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो यदीप्सितं तल्लभतां चमाचिरम् ॥ ५ ॥

विराटवाक्येन च तेन चोदिता नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः ।

उपेत्य कौतियमथाऽब्रुवन्स्तदा यथा स राजाऽब्रुवताऽच्युतानुजम् ॥ ६ ॥

आठवाँ अध्याय ॥ ८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! फिर महाबली, सिंह-सदृश, सूर्य के समान तेजस्वी, सुदृढ़ शरीरवाले भीमसेन, हाथों में खुली हुई पैनी तलवार, मन्थदण्ड (या चिमटा) और कड़ड़ी लिये हुए, ग्मोह्ये के वेप से राजा विराट की समा में पहुँचे । अपने पास उपस्थित भीमसेन को देखकर विराट ने अपने सभासदों और नगरवासियों से कहा—यह जो

सूर्य के समान तेजस्वी, रूपवान्, सिंह के से ऊँचे कन्धोवाला, नया मनुष्य देख पड़ता है सो कौन है ? मैं बहुत सोच-विचार कर भी यहाँ इस पुरुष के आने का अभिप्राय नहीं समझ सकता । इमन्त्रिण तुम शीघ्र पास जाकर पूछो कि यह कौन है और किसलिए आया है । देखने से यह गन्धर्वाग्र या इन्द्र जान पड़ता है । कोई भी हो मैं इसकी इच्छा पूरी करूँगा । १५

इंद्रसेनमुखाश्रमे रथानादाय केवलान् ।
 यांतु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्त्तते मतिः ॥ ३ ॥
 इमाश्च नायों द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः ।
 पंचालानेव गच्छंतु सूदपौरोगवैः सह ॥ ४ ॥
 सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायंत पांडवाः ।
 गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति ॥ ५ ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवं तेऽन्योन्यमामंत्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक्पृथक् ।
 धौम्यमामंत्रयामासुः स च तान्मंत्रमब्रवीत् ॥ ६ ॥
 धौम्य उवाच—विहितं पांडवाः सर्वं ब्राह्मणेपु सुहृत्सु च ।
 याने प्रहरणे चैव तथैवाऽग्निपु भारत ॥ ७ ॥
 त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च ।
 विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ॥ ८ ॥
 विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ।
 एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥ ९ ॥
 अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत ।
 हेतेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥

अनुचर, खाली रथ ले जाकर, द्वारकापुरी में ठहरें ।
 ये द्रौपदी की सेवा करनेवाली स्त्रियां पाञ्चाल देश
 को ही जायें । कोई हमारे बारे में पूछे तो सब यही
 कह दें कि पाण्डव तो अचानक हम लोगों को, और
 अपने आश्रित ब्राह्मणों को, छोड़कर द्वैतवन से न जाने
 कहाँ चले गये । उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं
 जानते ॥१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस
 प्रकार अलग-अलग अपने कार्यों का निश्चय और
 सलाह करके पाण्डवों ने पुरोहित धौम्य को बुलाया ।
 महर्षि धौम्य सब घमों के विशेष जानकार थे । उन्होंने
 पाण्डवों के पास आकर यों उपदेश दिया—हे पांडव !

तुमने सुहृद्, सवारी, ब्राह्मण, शस्त्र, अग्निहोत्र आदि
 के सम्बन्ध में अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया ।
 अब मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ—एकाम होकर
 मुने । धर्मराज और अर्जुन, तुम सदा द्रौपदी की
 रक्षा करना । हे पाण्डवो ! तुम लोकव्यवहार को
 अच्छी तरह जानते हो । किन्तु जानी हुई बात के
 बारे में भी अनुराग-वश उपदेश करना हितचिन्तक
 सुहृदों का कर्तव्य है । यही सनातन धर्म है । इसी
 से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है । इसी से मैं
 तुमको, कर्तव्य के बारे में, उपदेश करता हूँ । हे
 राजकुमारो ! मैं बताता हूँ कि राजाओं के यहाँ किस
 तरह रहना चाहिए ॥६१०॥

अलंबुषा मिश्रकेशी पुंडरीकाऽथ मालिनी ।
 इंद्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धालुः प्रजापतेः ।
 देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ॥ १६ ॥

द्रौपद्युवाच—नाऽस्मि देवी न गंधर्वी नाऽसुरी न च राक्षसी।
 सैरंध्री तु भुजिण्याऽस्मि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥

केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिपे साधु विलेपनम् ।
 मल्लिकोत्पलपद्मानां चंपकानां तथा शुभे ॥ १८ ॥

अथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ।
 आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १९ ॥

कृष्णां च भार्यां पांडूनां कुरूणामेकसुंदरीम् ।
 तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ॥ २० ॥

वासांसि यावन्ति लभे तावत्तावद्रमे तथा ।
 मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा ।

साऽहमद्याऽऽगता देवि सुदेष्णे त्वन्नित्वेशनम् ॥ २१ ॥

सुदेष्णोवाच—मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते ।
 न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत्सर्वेण चेतसा ॥ २२ ॥

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेद्मनि ।

गन्धर्व-कन्या, अप्सरा, नाग-बधू, विद्याधरी, किन्नरी,
 या चन्द्रमा की प्यारी स्त्री रोहिणी हो ? तुम क्या
 अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, मालिनी आदि
 अप्सराओं में से कोई हो ? तुम इंद्राणी, वरुण की
 स्त्री, विश्वकर्मा की स्त्री, ब्रह्मणी या कोई प्रसिद्ध
 देव-कन्या हो ? बताओ, तुम कौन हो ? ॥१९॥१६॥

द्रौपदी ने कहा—हे गनीजी ! मैं देवी, गन्धर्व-
 पत्नी, अमुर-पत्नी या किन्नरी आदि में से कोई नहीं
 हूँ। आप से सत्य कहती हूँ, मैं तो सैरंध्री हूँ। मैं
 बाल सँवारना, अङ्गराग (उबटन) लगाना, मल्लिका-
 कमल-चमपा आदि सुगन्धित फूलों के गन्ने बनाना

जानती हूँ। मैं पड़ले कृष्ण की प्यारी रानी सत्यमामा
 और कुरु-कुल की एकमात्र सुन्दरी, पाण्डवों की गुण-
 वती भार्या द्रौपदी की दासी रह चुकी हूँ। सत्यमामा
 और द्रौपदी के यहां उत्तम भोजन-वस्त्र पाकर मैं बड़े
 सुख से रहती थी। देवी द्रौपदी ने मेरा नाम मालिनी
 रक्खा था। वे मुझे अपने प्राणों से भी प्यारी रखी
 ममझनी थी। हे रानीजी ! इस समय आश्रय के
 लिए मैं आपके पाम आई हूँ ॥१७॥२१॥

रानी सुदेष्णा ने द्रौपदी की बातें सुनकर कहा—
 हे सुन्दरी ! मैं तुम्हें बढ़ी प्रसन्नता से अपने पाम रख
 सकनी हूँ; किन्तु मुझे यह मय दे कि तुमको देख-

अंतःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥ १८ ॥
 विदिते चाऽस्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ।
 एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १९ ॥
 गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः ।
 जाल्यंथ इव मन्येत मर्यादामनुचितयन् ॥ २० ॥
 न हि पुत्रं न नत्तारं न भ्रातरमरिंदमाः ।
 समतिक्रान्तमर्यादं पूजयन्ति नराधिपाः ॥ २१ ॥
 यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद्देववत्त्रिवह ।
 अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ॥ २२ ॥
 यद्यद्भर्ताऽनुयुंजीत तत्तदेवाऽनुवर्त्तयेत् ।
 प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥ २३ ॥
 समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च ।
 संवर्णयेत्तदेवाऽस्य प्रियादपि हितं भवेत् ॥ २४ ॥
 अनुकूलो भवेच्चाऽस्य सर्वाथेषु कथासु च ।
 अप्रियं चाऽहितं यत्स्यात्तदस्मै नाऽनुवर्णयेत् ॥ २५ ॥
 नाऽहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पंडितः ।
 अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात्प्रियं च यत् ॥ २६ ॥

देखते; यदा तक कि मिथ्यावादी मन्त्री का भी अप-
 मान करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि राजा
 की स्त्रियों से, रनिवास में जाने-आनेवालों से, राजा
 से द्वेष रखनेवालों से और राजा की बुराई करनेवालों से
 मेल-जोल न करे। छोटे से छोटा काम भी राजा से
 पूछकर ही करे। राजदरबार में ऐसा आचरण करने-
 वाले को कभी विपत्ति का खटक नहीं होता। उच्च
 पद पर स्थित व्यक्ति को भी राजा के पूछे बिना या
 राजा के द्वारा नियुक्त हुए बिना—अपने पद का
 खयाल रखकर—जन्मान्ध का सा व्यवहार करना
 चाहिए। राजा के पुत्र, पोता, माई आदि स्वजन

भी यदि मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं तो राजा लोग
 उनका आदर नहीं करते ॥१५।२१॥

अग्नि और देवता समझकर राजा की सेवा
 करनी चाहिए। [वह सब प्राणियों का भरण-पोषण
 और रक्षण करता है।] जो कोई मिथ्या उपचार के
 द्वारा राजा की सेवा करता है वह प्राणों से हाथ धो
 बैठता है। राजा जो आज्ञा करे उसे—आलस्य, गर्व
 और क्रोध से बचकर—पूर्ण करना चाहिए। कर्तव्य-
 अकर्तव्य के निर्णय के अवसर पर जो मिय और हित
 हो वही उसके आगे कहना चाहिए। जहां मिय
 और हित वचन दुर्लभ हो वहां हित की बात ही

तस्याऽष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ॥ ९ ॥

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावंतस्तथाऽपरे ।

तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेतिमां विदुः ॥ १० ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।

न मेऽस्त्यविदितं किञ्चित्समंताद्दशयोजनम् ॥ ११ ॥

गुणाः सुविदिता ह्यासन्मम तस्य महात्मनः ।

आसीच्च स मया दृष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।

तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैतदेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥ १३ ॥

वृषभांश्चापि जानामि राजन्पूजितलक्षणान् ।

येषां मूत्रमुपाधाय अपि वंध्या प्रसूयते ॥ १४ ॥

विराट उवाच—शतं सहस्राणि समाहितानि सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।

पशून्सपालान्भवते ददान्यहं त्वदाश्रया मे पशवो भवन्तिह ॥ १५ ॥

वेदम्पायन उवाच—तथा स राज्ञो विदितो विशांपतेरुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः ।

न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

सहदेव ने कहा—पाण्डव पांच भाई थे। उनमें बड़े युधिष्ठिर के अस्सी हज़ार, भीमसेन के दस हज़ार और अर्जुन के बीस हज़ार गायें थीं। मैं उन सब गायों का पालन और गिनती किया करता था। मुझे लोग तन्तिपाल कहते थे। मैं दस योजन तक फैली हुई गायों की गिनती कर सकता हूँ। गायों के सम्बन्ध की सब बातें मैं जानता हूँ। उनके सम्बन्ध में भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ भी ऐसा नहीं जो मैं न जानता होऊँ। महात्मा युधिष्ठिर मेरे सब गुणों को जानते थे और मुझपर बहुत प्रसन्न रहते थे। जिम ठपाय से गायों का बंध बढ़ता है और वे रोगों से बची रहती हैं सो मैं अच्छी तरह जानता हूँ। ये सब कार्य

मुझे अच्छी तरह माख्य हैं। हे राजेन्द्र! जिनके मूत्र को सूँघकर बाँस स्त्री के गर्भ रह जाता है उन उचम लक्षणोंवाले बैलों की भी मुझे पहचान है। १५।१४।

राजा विराट ने कहा—मेरी गोशाला और पशु-शाला में अनेक गुणों से युक्त बहुत से पशु हैं। उनमें से किममें कौन सा गुण है, यह अभी तक माख्य नहीं हुआ। मैं उन पशुओं को तुम्हें सौंपता हूँ। पशुओं की रक्षा करनेवाले जितने कर्मचारी मेरे यहाँ हैं उनका सरदार भी तुमको बनाता हूँ। तुम प्रसन्नता के साथ यह कार्य स्वीकार करो। १५।

वेदम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार अपना परिचय देकर सहदेव राजा विराट के

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत् ।
 सदा वातं च वाचं च धीवनं चाऽऽचरेच्छनैः ॥ ३५ ॥
 हास्यवस्तुपु चाऽन्यस्य वर्तमानेषु केपुचित् ।
 नाऽतिगाढं प्रहृष्येत न चाऽप्युन्मत्तवद्धसेत् ॥ ३६ ॥
 न चाऽतिधैर्येण चरेद्गुरुतां हि व्रजेत्ततः ।
 स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत् प्रसादजम् ॥ ३७ ॥
 लाभेन हर्षयेद्यस्तु न व्यथेद्योऽवमानितः ।
 असंमूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ॥ ३८ ॥
 राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा ।
 अमात्यः पंडितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ॥ ३९ ॥
 प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः ।
 न निर्वदति राजानं लभते संपदं पुनः ॥ ४० ॥
 प्रत्यक्षं च परोक्षं च गुणवादी विचक्षणः ।
 उपजीवी भवेद्राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ॥ ४१ ॥
 अमात्यो हि वलाद्भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत् यः ।
 न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ॥ ४२ ॥

कार्य और हित करते हैं वही राजा के प्यार होते और तरह-तरह के ऐश्वर्य-सुख पा सकते हैं । दुर्लभ ऐश्वर्य और कृपा-दृष्टि प्राप्त हो जाने पर राजा के हितकर मिय कार्यों में मूल-चूक न होने दे । जिस राजा के कोप से अनिष्ट और प्रसन्नता से ऐश्वर्य प्राप्त होता है उस राजा का अभिय करने का साहस कौन बुद्धिमान् पुरुष करेगा ? ॥३१॥३४॥

हे पाण्डवो ! राजा के आगे बकवास करना, हाथ-पांव हिलाना या जोर से चञ्चलता प्रकट करना कभी उचित नहीं । सदा स्थिर होकर बैठना चाहिए । धीरे से धूके, छीके या अधोवायु छोड़े । बहुत हंसी के द्वारा मूर्खता, या बिलकुल हंसी दबाकर गर्भीरता,

प्रकट न करके मृदु हास्य करना उचित है ॥३५॥३७॥

जो मान के लाभ से प्रसन्न और अपमान से दुखी नहीं होता, सदा सावधान रहता है, वही राजसभा में रह सकता है । जो बुद्धिमान् सचिव राजा या राजपुत्र की स्तुति करता है वही मदा राजा को प्यारा रहता है । जो कृपापात्र सचिव किसी कारण राजदण्ड पाकर भी राजा के प्रति द्वेष का भाव नहीं प्रकट करता, उसे फिर भी पहले का ऐश्वर्य और अनुग्रह प्राप्त हो जाता है । जो कोई जिस राजा के राज्य में रहे या राजा के आश्रय में जीविका पावे उसे, क्या राजा के सामने और क्या उसके पीछे, उसकी प्रशंसा ही करनी चाहिए ॥३८॥४१॥

दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ७ ॥

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः ।

जनस्तु मामाह स चापि पांडवो युधिष्ठिरो ग्रंथिकमेव नामतः ॥ ८ ॥

विराट उवाच—यदस्ति किञ्चिन्मम वाजिवाहनं तदस्तु सर्वं त्वदधीनमथ वै ।

ये चापि केचिन्मम वाजियोजकास्त्वदाश्रयाः सारथयश्च संतु मे ॥ ९ ॥

इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम ब्रवीहि यत्त प्रसमीक्षितं वसु ।

न तेऽनुरूपं ह्यकर्म विद्यते प्रभासि राजेव हि संमतो मम ॥ १० ॥

युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनं ।

कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने वसत्यनिव्यो रमते च पांडवः ॥ ११ ॥

वेशम्पायन उवाच—तथा स गंधर्ववरोपमो युवा विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः ।

न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन प्रियाभिरामं विचरंतमंतरा ॥ १२ ॥

एवं हि मत्स्ये न्यवसंत पांडवा यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः ।

अज्ञातचर्या व्यचरन्समाहिताः समुद्रनेमीपतयोऽतितुःखिताः ॥ १३ ॥

शति श्रामिन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तं चेदं पांडवप्रवेशपर्वं ।

जितना धन चाहो उतना तुमको मिलेगा । अब ठीक-ठीक बताओ कि तुम इस समय कहां से क्यों आये हो ? पहले तुम कहां थे ? किस-किस कार्य में तुम निपुण हो ? ॥५॥

नकुल ने कहा—हे राजेंद्र ! पाण्डवों में सबसे बड़े महागज युधिष्ठिर ने पहले मुझे अपने यहां घोड़ों की देख-रेख के लिए नौकर रख लिया था । मैं घोड़ों की पकृति पहचानना, घोड़ों की शिक्षा देना, उनकी चिकित्सा करना और दुष्ट घोड़ों को वदा में करना बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ । इन कार्यों में मैं पूरा निपुण हूँ । मेरे पाम रहनेवाले घोड़े पश्चिम करने से थकते नहीं और क्षीण चलते हैं । घोड़ों की कौन कड़े, घोड़ियों भी मेरे शासन में रहने से किमी तरह का उपद्रव नहीं करतीं । युधिष्ठिर और अन्य लोग मुझे

ग्रन्थिक नाम से पुकारते थे ॥६॥

राजा विराट ने कहा—मेरे घोड़े, सार्हस, सारथी, सटार आदि सब अश्व-शाला के लोग आज से तुम्हारे अधीन हुए । हे वीरश्रेष्ठ ! जो तुम यही कार्य पसन्द करते हो तो करो । तुम जितना धन चाहोगे, उतना दिया जायगा । मैं तो तुमको इस कार्य के योग्य नहीं समझता, तुम चक्रवर्ती राजा होने के योग्य हो । राजा युधिष्ठिर के यहां तुम्हारा जैसा आदर-मरकार होता या वैसा ही मेरे यहां होगा । मुझे खेद है कि महा-राज युधिष्ठिर इस समय बिना नौकर-चाकरो के वन-वन में मोर मोर फिरते हैं ॥९॥१॥

वेशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र ! गन्धर्वराज सटार सुन्दर नकुल भी राजा विराट से इस तरह आदर पाकर उनके यहां रहने लगे । उन्हें भी कोई नहीं पट्टवान

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पांडुनंदनाः ।
 संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषतः ।
 अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ॥ ५१ ॥
 युधिष्ठिर उवाच—अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद्वक्ताऽस्ति कश्चन ।
 कुंतीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥ ५२ ॥
 यदेवाऽनंतरं कार्यं तद्भवान्कर्तुमर्हति ।
 तारणायाऽस्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥ ५३ ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
 अकरोद्विधिवस्सर्वं प्रस्थाने यद्विधीयते ॥ ५४ ॥
 तेषां समिध्य तानग्नीन्मंत्रवच्च जुहाव सः ।
 समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ॥ ५५ ॥
 अग्नीन्प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
 याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य पडेवाऽथ प्रवव्रजुः ॥ ५६ ॥

प्राप्त करने की इच्छा रखता है, वही राजा के पास रह सकता है। राजा के समान पहनावा और सजावट करना उचित नहीं। राजा के आगे ऊंचे आसन पर न बैठे। अपने साथ राजा जो सम्मति करे उसे और के आगे पकट न कर दे। कोई कार्य करने के लिए राजा के द्वारा नियुक्त होने पर घन की लालसा (रिशवत

लेने की इच्छा) न करनी चाहिए। क्योंकि उसके द्वारा घन कमाने की चेष्टा में बंध और बन्धन दोनों की आशङ्का है। राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, गहने आदि जो कुछ दे, उसी का व्यवहार सदा राजा के सामने करना अधिक हितकारी है।* मैंने यह राजाओं के यहाँ रहने की रीति तुमको बता दी

* देखो, क्षत्रिय राजा, क्षत्र और बहुत आदरण, ये दुखे हो, तो भी बुद्धिमान् पुरुष को इनका अपमान न करना चाहिए। अपमान करने से ये तीनों भस्म कर देते हैं। राजा के यहाँ रहनेवाले को चाहिए कि उसी पद को चाहे जिसको चाहनेवाला कोई प्रबल प्रतिद्वन्दी न हो। सदा मधुरभाषी रहे। कटुवादी न हो। जाड़े गरमी, रात दिन का न्याय न करके राजा की आज्ञा का पालन करने के लिए सदा तैयार रहे। तभी राजाओं के यहाँ टिक सकता है। लौभ छेड़कर, धीर बनकर, चतुरता से रहनेवाला मनुष्य राजा की प्रिय होता है। यदि अपने से हीन को राजा घन आदि देकर सम्मानित करे तो भी भुग न मानना चाहिए। शत्रुओं का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे जय जय की बात पर प्रसन्न होकर लोगों के डालते हैं। सदा स्वान करके सुदृढ़ यत्र पहनकर दरवार में जाना चाहिए। साराय यह कि भक्ति के साथ, सम्यग्वादी और विवेचिय रहकर बुद्धिमान्, धीर और निज पुरुष राजा के पास रहे। ऐसे राजा का ही आश्रय लेना चाहिए जो वृत्तज्ञ हो, बुद्धिमान् हो, उच्च और उदार विचारोंवाला हो, जिनोन्द्रिय हो, निष्ठ की बदती हो रहा हो और जो अपने स्थान में स्थित हो। इस प्रकार विवेक के साथ काम करने से लोगों का राजाओं के यहाँ अग्युदय होता है।

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ	॥ २३ ॥
मत्ताविव महाकायौ वारणौ पट्टिहायनौ	।
ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः	॥ २४ ॥
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकांक्षिणौ	।
आसीत्सुभीमः संपातो वज्रपर्वतयोरिव	॥ २५ ॥
उभौ परमसंहृष्टौ बलेनाऽतिबलावुभौ	।
अन्योन्यस्यांऽतरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ	॥ २६ ॥
उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ	।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्वाहुभिश्च सुसंकटैः	।
सन्निपातावधूतैश्च प्रमायोन्मथनैस्तथा	॥ २७ ॥
क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव वराहोद्भूतानिःस्वनैः	।
तलैर्वज्रनिपातैश्च प्रसृष्टाभिस्तथैव च	॥ २८ ॥
शलाकानखपातैश्च पादोद्भूतैश्च दारुणैः	।
जानुभिश्चाऽश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चाऽवघट्टनैः	॥ २९ ॥
तद्युद्धमभवद्घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा	।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसन्निधौ	॥ ३० ॥
अरज्यत जनः सर्वः सोत्क्रुष्टनिनदोत्थितः	।
बालिनोः संयुगे राजन्वृत्रवासवयोरिव	॥ ३१ ॥

को युद्ध के लिए ललकारा । फिर वे दोनों परम परा-
कामी वीर दो मस्त गजराजों की तरह बड़े उरसाह
से भिड़ गये । परस्पर जय बाढ़नेवाले दोनों वीर
पुरष, सिंह के समान गरज-गरजकर, पक्षत्रतापूर्वक
युद्ध करने लगे ॥२१।२४॥

दोनों के परस्पर प्रहार करने में वज्रगत या
पर्वत फटने का सा भयङ्कर शब्द होने लगा । वे
परस्पर जय की इच्छा से एक दूसरे पर चोट
करने का अवसर देखते हुए युद्ध का रहे थे । कमी
दाय मारते थे, कमी घुंमे की चोट करते थे; कमी

एक में भिड़कर परस्पर एक दूसरे को रेल छे जाते
थे; कमी पृथ्वी पर गिराकर रगड़ते थे; कमी ऊपर
रठा लेते थे, कमी छाती पर घुंमे जमाते थे; कमी
कन्धों पर रगड़ लेते थे; कमी दाँव कण्ठे नीचे पकड़
लाते; कमी गरज-गरजकर दज्रसदृश चपटा मारते थे;
कमी केंगलियों में, नाखूनों में चार करते थे; कमी
लहें म लेंगे थे; कमी जाय में जाँव लड़ाते और कमी
सिंघ में भिर भिड़ाकर जोर करते थे । हम तरह वे
कुदती लड़ने लगे । वे दोनों वीर एक दूसरे को खींचते,
रेलने और नीचे गिगने का यत्न करते थे ॥२५।३०॥

अंतरेण यकृल्लोमाञ्छूरसेनांश्च पांडवाः ।
 लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन्वनात् ॥ ४ ॥
 धन्विनो वद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः ।
 ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत् ॥ ५ ॥
 पश्यैकपद्यो दृश्यंते क्षेत्राणि विविधानि च ।
 व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति ।
 वसामेहाऽपरां रात्रिं बलवान्मे परिश्रमः ॥ ६ ॥
 युधिष्ठिर उवाच—धनंजय समुद्यम्य पांचालीं वह भारत ।
 राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः ॥ ७ ॥
 वैशम्पायन उवाच—तामादायाऽर्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव ।
 संप्राप्य नगराभ्यासमवतारयदर्जुनः ॥ ८ ॥
 स राजधानीं संप्राप्य कौंतियोऽर्जुनमब्रवीत् ।
 काऽऽयुधानि समासज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥ ९ ॥
 सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि ।
 समुद्वेगं जनस्याऽस्य करिष्यामो न संशयः ॥ १० ॥
 गाण्डीवं च महद्गाढं लोके च विदितं नृणाम् ।

मनोहर स्थानों में रहते और वन के अद्भुत वृक्ष, पशु, पक्षी आदि की सैर करते] पाण्डव लोग अपने को शिकारी बताते हुए दशार्ण देश के उत्तर, पांचाल देश के दक्षिण, यकृल्लोम और शूरसेन देश के बीच होकर मत्स्य-राज्य में पहुँचे । अस्त्र-शस्त्र बाधे, बाल बढ़ाये, पाण्डव लोग मलीन शरीर होने के कारण सचमुच शिकारी ही जँचते थे । तब द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज ! ये अनाज के खेत और बहुत से मार्ग देखकर मैं समझती हूँ कि विराट का राजधानी अभी दूर है । मैं बहुत थक गई हूँ । इसलिए यह रात्रि यहीं ठहरकर बिताइए ॥१।६॥

इस पर युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन !

हम इसी समय इस वन को लापकर राजधानी में पहुँचना चाहते हैं । इसलिए तुम द्रौपदी को उठाकर ले चलो ॥७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब गजराज के समान बलवान् अर्जुन ने, युधिष्ठिर की आज्ञा से, द्रौपदी को उठा लिया । उनको लिये हुए अर्जुन शीघ्र ही नगर के समीप पहुँच गये । वहाँ उन्होंने द्रौपदी को उतार दिया । नगर के पास पहुँचकर युधिष्ठिर ने कहा—हे अर्जुन ! हम लोग इन अस्त्र-शस्त्रों को बहा, किसके पास, रखकर नगर में जावें ? [हमका सुरक्षित रहना आवश्यक है ।] यदि हम शस्त्र न्यिे हुए बन्ती में जायेंगे तो नगर-

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
 मनोहरं कांचनचित्रभूषणं गृहं महच्छोभयतामियं मम ॥ १० ॥
 ततः सुदेष्णामनुमंत्रय कीचकस्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम् ।
 उवाच कृष्णामभिसांत्वयंस्तदा मृगेंद्रकन्यामिव जंबुको वने ॥ ११ ॥

का त्वं कस्यासि कस्याणि कुतो वा त्वं वरानने ।
 प्राप्ता विराटनगरं तत्त्वमाचक्ष्व शोभने ॥ १२ ॥
 रूपमग्न्यं तथा कांतिः सौकुमार्यमनुत्तमम् ।
 कांत्या विभाति वक्त्रं ते शशांकइवनिर्मलम् ॥ १३ ॥
 नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे ।
 वाक्त्रं ते चारुसर्वांगि परपुष्टरुतोपमम् ॥ १४ ॥
 एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले ।
 न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिदिते ॥ १५ ॥
 लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे ।
 हीः श्रीः कीर्तिरथो कांतिरासां का त्वं वरानने ॥ १६ ॥

इसका मिलना ही उसकी एकमात्र औषध है । हे रानी ! इस स्त्री का अलौकिक रूप है, यह तुम्हारी दासी होने के योग्य कभी नहीं है । मैं चाहता हूँ कि यह मेरे ऊपर और जो कुछ मेरा है उसके ऊपर प्रमुख करे । अनेक हाथी-नथ-थोड़ों से युक्त, जन परिपूर्ण, समृद्धि-युक्त, खाने पीने की वस्तुओं से मरा, सुवर्ण-रत्न के गहनों से पूर्ण, मेरा मनोहर महल इस सुन्दरी के रूप से शोभित हो ॥१११०॥

इस प्रकार सुदेष्णा ने कहकर द्रौपदी से मिलने के लिए दृष्ट कीचक उनके पास गया । जैसे वन में विचरनेवाला सुदृष्ट मियार सिंह कन्या के प्रेम की इच्छा करे वैसे ही द्रौपदी ने मिलने की उच्छ्वासे व्याकुल कीचक उनके पास पहुँचा । पाम जाकर उसने द्रौपदी के पास पहुँचा—हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी स्त्री

हो ? यश कहा मे आई हो ? हे शुभ-रूपिणी ! तुम्हारे समान सुन्दर शरीर और रमणीय रूपवाली स्त्री आज तक मैंने नहीं देखी-सुनी । हे चन्द्रमुखी ! तुम्हारा अनुपम रूपगाली मनोहर मुख मण्डल अपनी शोभा से कमल-रहित चन्द्रमण्डल को भी नीचा दिखा रहा है । तुम्हारे सनेने नेत्र कमलदल के समान विशाल और हृदय को हारनेवाले हैं । तुम्हारी बाणी कोयल की तान को मान करती है । तुम्हारी ऐसी अमाधारण रूपवाली, सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्री मैंने पृथ्वी पर कहीं नहीं देखी ॥१११५॥

हे सुन्दरी ! तुम क्या कमलवामिनी लक्ष्मी हो ? या भूति, ही, श्री, कीर्ति अथवा कान्ति में से कोई हो ? अथवा अत्यन्त रूपवती मामान् कामदेव की स्त्री रति हो ? निर्मल चादनी के समान तुम्हारे शरीर

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत्परंतपः ।
 अमुंचद्धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः ॥ २० ॥
 पांचालान्येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत्प्रभुः ।
 प्रत्यपेधद्रुहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये ॥ २१ ॥
 निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवंत रणात्परे ।
 पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव ॥ २२ ॥
 सैनध्वं येन राजानं पर्यामृषितवानथ ।
 ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत् ॥ २३ ॥
 अजयत्पश्चिमामाशां धनुषा येन पांडवः ।
 माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभापिता ॥ २४ ॥
 तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रंदनो युधि ।
 कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः ॥ २५ ॥
 दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाऽजयत्प्रभुः ।
 अपज्यमकरोद्वीरः सहदेवस्तदायुधम् ॥ २६ ॥
 खड्गांश्च दीप्तान्दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान् ।
 विपाठान्धुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह ॥ २७ ॥
 वैशम्पायन उवाच—अथाऽन्वशासन्नकुलं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 आरुह्येमां शर्मा वीर धनूप्येतानि निक्षिप ॥ २८ ॥

मनुष्य आदि को हराकर बड़े-बड़े देशों को जीत
 लिया था उस गम्भीर शब्दवाले, शत्रुनाशक, महा-
 मयङ्कर गाण्डीव धनुष की डोरी उगड़ोने उतार दी ।
 शत्रुदमन युधिष्ठिर ने जिस धनुष के द्वारा कुरुक्षेत्र
 की रक्षा की थी उस धनुष की अस्य डोरी उगड़ोने
 भी उतार ली ॥१७२०॥

एकापकी भीमसेन ने अपने जिस धनुष के द्वारा
 दिग्विजय के समय शत्रुओं को मार भगाया था और
 पांचाल देश को जीता था, बज्रपात या पर्वत के फटने
 के समान जिसके टह्यार को सुनकर शत्रु लोग रण-

मूमि से भाग जाते थे, जिसके बल से भीमसेन ने
 महाबली सिन्धुराज जयद्रथ को नीचा दिखाया था,
 उस धनुष की प्रशंसा इस समय भीमसेन ने उतारली
 रूप और कुल में अपनी उपमा न रखने के कारण
 नकुल नाम से प्रसिद्ध, मितभाषण करनेवाले, माद्री
 के पुत्र ने जिस धनुष की सहायता से दिग्विजय के
 समय पश्चिमी देशों को जीता था उस धनुष की
 डोरी इस समय उगड़ोने भी उतार डाली । दया-
 दाक्षिण्य आदि गुणों से शोभित सहदेव ने जिस धनुष
 की सहायता से दिग्विजय में दक्षिण के राजाओं को

विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ॥ ३ ॥

स्वमंत्रमभिसंधाय तस्याऽर्थमनुचित्य च ।

उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामंत्रं च कारय ।

तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवांऽतिकम् ॥ ५ ॥

तत्र संप्रोपितामेनां विजने निरवग्रहे ।

सांत्वयेथा यथाकामं सांत्वमाना रमेद्यदि ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात्तदा ।

सुरामाहारयामास राजार्हा सुपरिष्कृताम् ॥ ७ ॥

भक्षांश्च विविधाकारान्वहृंश्चोच्चावचांस्तदा ।

कारयामास कुशलैरभ्रं पानं सुशोभनम् ॥ ८ ॥

तस्मिन्कृते तदा देवी कीचकेनोपमंत्रिता

सुदेष्णां प्रेषयामास सैरंध्रीं कीचकालयम् ॥ ९ ॥

सुदेष्णोवाच—उत्तिष्ठ गच्छ सैरंध्री कीचकस्य निवेशनम् ।

पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रवाधते ॥ १० ॥

सैरंध्र्युवाच—न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम् ।

त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन ने कहा—[पहले तो सुदेष्णा ने समझा-बुझाकर माई को इस पाप-कर्म से रोकना चाहा, पर जब उसने किसी तरह न माना तब] सुदेष्णा ने कहा—बच्छा, तुम किसी पर्व के अवसर पर अपने घर में मंदिर और अनेक प्रकार की भोजन की सामग्री बनवाना । मैं मंदिर लाने के बहाने सैर-ध्री को तुम्हारे पास भेजूंगी । ठीकी अवसर पर, निर्विघ्न निर्वैतन स्थान में, ठीके इस प्रकार समझाना-बुझाना जिनमें वह तुम पर प्रसन्न हो बैठे ॥३६॥

वैशम्पायन ने कहा—[अपने स्वार्थ के विचार से माई की प्रार्थना पूर्ण करने के लिए सुदेष्णा ने यह

उपाय निकाला । सुदेष्णा का उत्तर सुनने पर कीचक को कुछ दाइस बधा।] वह ठीकी समय बरा में अपने घर चला गया । [कीचक के मिर पर तो मृगु मन्त्र थी।] उसने शीघ्रता से चतुर ग्योइये में गये के योग्य उठम मोनन-मामग्री और अनेक उभर का मास बनवाया। उठम मंदिर में मंदिर बनवाये ! इस प्रकार सब तैयारी करके उठम काले बनने मूचना दी । रानी सुदेष्णा ने सैरंध्री को बुझाया कहा—हे सैरंध्री ! मैं जानने के लिए अनेक प्रेषण रहीं हूँ । इसलिये तुम शीघ्र निवेशन के लिए योय्य उठम मंदिर में जाओ ॥३६॥

हल, ये पाण्डवों के पांच कल्पित नाम रख लिये ।
फिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, अज्ञातवास में तेर-
हवां वर्ष व्यतीत करने के लिए, द्रौपदी और माइयों

सहित महाराज युधिष्ठिर राजा विराट की राजधानी में
पहुँचे ॥३१३६॥

—०—

विराटपर्व का पाँचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः ।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥
यशोदागर्भसंभूतां नारायणवरप्रियाम् ।
नन्दगोपकुले जातां मंगल्यां कुलवर्धिनीम् ॥ २ ॥
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम् ।
शिलातटाविनिक्षिप्तामाकाशं प्रतिगामिनीम् ॥ ३ ॥
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूषिताम् ।
दिव्यांबरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम् ॥ ४ ॥
भारावतरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदा शिवाम् ।
तान्चै तारयते पापारूपके गामिव दुर्बलाम् ॥ ४ ॥
स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसंभवैः ।
आमन्त्र्य दर्शनाकांक्षी राजा देवीं सहानुजः ॥ ६ ॥
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारी ब्रह्मचारिणि ।

छटा अध्याय ॥ ६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । विराट-
नगर के भीतर जाते समय महाराज युधिष्ठिर अपने
मन में त्रिभुवन की ईश्वरी दुर्गा देवी की स्तुति इस
तरह करने लगे—यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होने-
वाली । हे नारायण की श्रेष्ठ प्रिया [योगमाया] ! हे
नन्द गोप के वंश में उत्पन्न होनवाली ! मङ्गलमयी !
कुल को बढ़ानेवाली ! कंस दैत्य को मारनेवाली ! असुरों
का नाश करनेवाली ! भगवती ! वासुदेव कृष्ण की बहन !
कंस के द्वारा शिला पर पटकती जाने पर आकाश को

चली जानेवाली ! दिव्य माला ! दिव्य वस्त्र और खड्ग
खेटक आदि शस्त्र धारण करनेवाली ! तुमको प्रणाम
है । हे पृथ्वी का भार उतारनेवाली शुभरूपिणी !
जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं उन्हें तुम पाप और
सङ्कट से, दलदल में फंसी हुई दुर्बल गाय की तरह
उबार लेती हो ॥१५॥

माइयों सहित राजा युधिष्ठिर देवी के दर्शन
पाने की इच्छा से बारम्बार अनेक प्रकार से इस तरह
देवी की स्तुति करने लगे—॥६॥

स पपात तदा भूमौ रक्षोवलसमाहतः ।
 विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १२ ॥
 तां चाऽऽसीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ ।
 अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम् ॥ १३ ॥
 तस्य भीमो वधं प्रेषुः कीचकस्य दुरात्मनः ।
 दंतैर्दंतास्तदा रोषान्निष्पिपेय महामनाः ॥ १४ ॥
 धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी ।
 सस्वेदा भृकुटी चोग्रा ललाटे समवर्त्तत ॥ १५ ॥
 हस्तेन समृदे चैव ललाटं परवीरहा ।
 भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत ॥ १६ ॥
 अथाऽवमृद्नादंगुष्ठमंगुष्ठेन युधिष्ठिरः ।
 प्रवोधनभयाद्राजा भीमं तं प्रत्यपेधयत् ॥ १७ ॥
 तं मत्तमिव मातंगं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।
 स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥
 आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै ।
 यदि ते दारुभिः कृत्यं वहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ॥ १९ ॥

वह चक्रर खाकर अचेत होकर, कटे हुए पेड़ की तरह, धरती पर गिरा पड़ा। भीमसेन और युधिष्ठिर दोनों समा में मौजूद थे। अपनी आँखों के आगे कीचक के हाथों अपनी प्यारी पत्नी पाञ्चाली का यों अपमान होते देखकर क्रोध के मारे दोनों वीर अर्धर हो उठे ॥११/१२॥

महाबली भीमसेन कीचक को मारने के लिए क्रोध के मारे दात से दांत पीसने लगे। उनकी आँखें अज्ञार की तरह लाल हो गईं। पलकों के रोएँ खड़े हो गये। माथे में पसीना निकल आया और बल पड़ गये। क्रोध से बिह्वल भीमसेन बार-बार माथे से पसीना पोंछते हुए सामने एक पेड़ की ओर ताकने

लगे मानों वे उस पेड़ को उखाड़कर उससे कीचक को मार डालना चाहते हों। वे बठना ही चाहते थे कि धर्मराज युधिष्ठिर ने, अपने प्रकट हो पड़ने के भय से, पाँव के अंगूठे से भीमसेन के पाव का अंगूठा दबा दिया ॥११/१७॥

इस प्रकार इशारे से रोक करके युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—हे बल्लव ! तुम क्या लकड़ी के लिए इस पेड़ को देख रहे हो ? यदि तुमको ईंधन की आवश्यकता हो तो बाहर जाकर ले आओ। अपने क्रोध के बेग को दबाकर भीमसेन चुपचाप बैठे रहे। द्रौपदी ने समा में अपने स्वामियों के मलिन-मुल की ओर देखा। किन्तु प्रतिज्ञा के अनुसार अपने

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिपासुरनाशिनि ।
 प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव ॥ १५ ॥
 जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा ।
 ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च सांप्रतम् ॥ १६ ॥
 विंध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम् ।
 कालि कालि महाकालि सीधुमांसपशुप्रिये ॥ १७ ॥
 कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि ।
 भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
 प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि ।
 न तेषां दुर्लभं किञ्चित्पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ १९ ॥
 दुर्गात्तारयसे दुर्गे तत्त्वं दुर्गा स्मृता जनैः ।
 कांतारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ॥ २० ॥
 दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम् ।
 जलप्रतरणे चैव कांतारेष्वटवीषु च ॥ २१ ॥
 ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः ।
 त्वं कीर्तिः श्रीधृतिः सिद्धिर्हीर्विद्या संततिर्मतिः ॥ २२ ॥
 संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कांतिः क्षमा दया ।

व्रत धारण करके देवलोक को पवित्र किया है। इसी
 से देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा करते हैं। त्रिलोकी
 की रक्षा के लिए तुमने प्रचण्ड उपद्रवी महापराक्रमी
 महिपासुर का संहार किया है। तुम्हारा नाम जया
 और विजया है; तुम युद्ध में विजय देती हो। मुझ
 पर दया करो। मेरा कल्याण करो। प्रसन्न होकर
 मुझे भी इस समय विजय दो। हे वर देनेवाली !
 हे सर्वमङ्गला ! पर्वतराज विन्ध्याचल में तुम नित्य
 निवास करती हो। हे काली ! हे महाकाली ! हे
 पशु ! मांस और मदिरा पर प्रीति रखनेवाली ! तुम
 वर देनेवाली और इच्छानुसार विचरनेवाली हो। यात्रा

के समय भूत तुम्हारे पीछे-पीछे चलते हैं ॥ १७।१८॥

हे पृथ्वी का भार उतारनेवाली भगवती ! जो
 मनुष्य प्रातः काल तुम्हारा स्मरण करते और प्रणाम
 करते हैं, उन्हें पुत्र या धन आदि का मिलना दुर्लभ
 नहीं रहता। हे दुर्गा ! तुम अपने जनों का दुर्ग
 (सङ्कट) से उबार लेती हो, इसी से लोग तुमको दुर्गा
 कहते हैं। दुर्गम मार्ग में सङ्कट में पड़े हुए, महा-
 सागर में डूबे हुए, डाकुओं के हाथ में पड़े हुए मनुष्यों
 को बचानेवाली तुम्हीं हो। हे भगवती ! वन में,
 सागर आदि में, दुर्गम स्थानों में विपत्ति में पड़े हुए
 मनुष्य तुम्हारा स्मरण करते ही सङ्कट से छुटकारा

सैरंध्युवाच—अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी ।
तस्य तस्यैव ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा प्राद्रवत्कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम् ।
केशान्मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाह्लोहितेक्षणा ॥ ४६ ॥
शुशुभे वदनं तस्या रुदन्त्याः सुचिरं तदा ।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमंडलम् ॥ ४७ ॥

सुदेष्णोवाच—कस्त्वाऽवधीद्विरारोहे कस्माद्रोदिषि शोभने ।
कस्याऽद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४८ ॥

द्रौपद्युवाच—कीचको माऽवधीत्तत्र सुराहारीं गतां तव ।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥ ४९ ॥

सुदेष्णोवाच—घातयामि सुकेशांते कीचकं यदि मन्यसे ।
योऽसौ त्वां कामसंमत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥ ५० ॥

सैरंध्युवाच—अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः ।
मन्ये चैवाऽद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अपमान का बदला लेकर तुम्हारा दुःख दूर करेगी ।
सैरन्ध्री ने कहा—जान पड़ता है कि मेरे स्वामी
अत्यन्त शोचनीय अवस्था में हैं; क्योंकि उनके बड़े भाई
को हर घड़ी जुआ खेलने का शौक है, तथापि मैं
उनके लिए सदा धर्म-पालन करती हूँ । वे किसी समय
अवश्य ही अप्रियकारी दुष्टों का नाश करेंगे । ३९।४५।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । द्रौपदी
की आँखें लाल हो रही थीं । बाल बिलेर हुए थे ।
इसी हीन वेप से वे उसी समय रनियास की ओर,
सुदेष्णा के पास, वहाँ से चल दीं । रोना बन्द होने
पर उनका चेहरा मेघों से मुक्त चन्द्रविम्ब के समान
जान पड़ा । राजा विराट की रानी ने उन्हें अकस्मात्
इस वेप से आते देखकर पूछा—हे भद्रे ! तुम किस-

लिए रो रही हो ? क्या किसी ने तुमको सताया है ?
बताओ, किसने तुम्हारा अप्रिय किया है ? द्रौपदी
ने कहा—आपकी आज्ञा से मदिरा लेने को मैं कीचक
के पर गई थी । [उस दुष्ट ने वहाँ मेरा धर्म नष्ट
करना चाहा । वहाँ से भागकर जान बचाने के लिए]
मैं राजसभा में गई । वहाँ राजा के सामने ही लात
मारकर उसने मेरा अपमान किया है । सुदेष्णा ने
कहा—हे सुन्दरी ! कीचक ने तुम्हारा मिलना अत्यंत
असम्भव जानकर भी, मान और मव से ज्ञानशून्य
हो, तुम्हें लात मारी है । तुम कहो तो मैं अभी बसे
प्राण-दण्ड दिलाऊँ । द्रौपदी ने कहा—उसने जिन
गन्धर्वों का अपराध किया है वही उसे मारेंगे । दुष्ट
कीचक आज या कल अवश्य मारा जायगा । ४६।५१।

विराटपर्व का सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

ये स्मरिष्यन्ति मां राजन्यथाऽहं भवता स्मृता ॥ ३२ ॥
 न तेषां दुर्लभं किञ्चिदस्मिँल्लोके भविष्यति ।
 इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद्वा पठेत वा ॥ ३३ ॥
 तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यन्ति पांडवाः ।
 मत्प्रसादाच्च वः सर्वान्विराटनगरे स्थितान् ॥ ३४ ॥
 न प्रज्ञास्यन्ति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः ।
 इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम् ।
 रक्षां कृत्वा च पांडूनां तत्रैवाऽतरधीयत ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे पद्योऽध्यायः ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! जो लोग तुम्हारी की हुई यह स्तुति पढ़ेंगे उन्हें भी प्रसन्न होकर मैं राज्य, बड़ी आयु, सुन्दर नीरोग शरीर और पुत्र आदि दूँगी । हे धर्मराज जो लोग परदेश में, नगर में, युद्ध में, शत्रुओं के बीच में, दुर्गम मार्गों में, गहन वनों में, पर्वत और मागर आदि सङ्कट के स्थानों में तुम्हारी तरह मुझे स्मरण करेंगे उन्हें इस लोक में कुछ भी दुर्लभ न

होगा । हे पाण्डवो ! जो लोग भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र को पढ़ें या सुनेंगे उनके सब कार्य सिद्ध हो जायेंगे । हे पुत्रो ! मेरे ही प्रसाद से विराटनगर में रहते समय तुम्हारे शत्रु कौरव या विराटनगर के लोग, कोई तुमको न पहचान सकेगा । वर देनेवाली देवी इस प्रकार कहकर, रक्षा करके, पाण्डवों के सामने वहीं अन्तर्धान हो गई ॥३१।३५॥

विराटपर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत् ।

वैदूर्यरूपान्प्रतिमुच्य काञ्चनानक्षान्स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥ १ ॥

नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं महायशाः कौरववंशवर्द्धनः ।

महानुभावो नरराजसत्कृतो दुरासदस्तीक्ष्णविपो यथोरगः ॥ २ ॥

बलेन रूपेण नरर्षभो महानपूर्वरूपेण यथाऽमरस्तथा ।

सातवा अध्याय ॥ ७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तीक्ष्ण विषवाले नाग की तरह दुर्द्धर्ष, कौरव-वंशवर्धन, महानुभाव, महायशस्वी, महाराज युधिष्ठिर वैदूर्यमणि और सुवर्ण की बनी हुई चौसर की गोटें बल से लपेटकर

बगल में दबाकर, (ब्राह्मण के वेष से) यशस्वी राजा विराट की सभा में पहुँचे । अपूर्व रूप और बल से युक्त देव-सदृश महाराज युधिष्ठिर मेघमाला से ढके हुए सूर्य के समान, राख से ढकी हुई अग्नि के समान,

वनवासगतायाश्च सैधवेन दुरात्मना ।
 परमर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ॥ ४ ॥
 मत्स्यराज्ञः समक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः ।
 कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ॥ ५ ॥
 एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत ।
 न मां जानासि कौंतेय किं फलं जीवितेन मे ॥ ६ ॥
 योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत ।
 सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ॥ ७ ॥
 स मां सैराधिर्वेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि ।
 नित्यमेवाऽऽह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥
 तेनोपमंत्र्यमाणाया वधाहेंण सपत्नहन् ।
 कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥
 भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्धूतदेविनम् ।
 यस्याऽस्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदन्तकम् ॥ १० ॥
 को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चाऽऽत्मना सह ।
 प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्धूतदेविनम् ॥ ११ ॥
 यदि निष्कसहस्रेण यच्चाऽन्यत्सारवद्धनम् ।
 सायंप्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान्वहून् ॥ १२ ॥

करके अब तक मेरे हृदय में अग्नि भी लग जाती है ।
 मेरे सिवा और कौन राजकुमारी वैसा दुःख दुःख
 सहकर जीती रह सकती ? वनवास के समय दुरात्मा
 जयद्रथ ने जैसा मेरा अपमान किया था उसे ही कौन
 राजकुमारी सह सकती ? इस समय धूर्त राजा विराट
 के सामने अपम कीचक ने मुझे लात मारी । इस
 अपमान को भी मेरे सिवा और कोई राजकुमारी नहीं
 सह सकती और न फिर जी सकती ॥११॥

हे भीमसेन ! मैं बार-बार खनेक प्रकार मे क्लेश
 पा रही हूँ । यह देखकर भी तुम मेरे दुःख का कारण

नहीं जान पाते तो फिर मेरा जीना ही व्यर्थ है । हे
 पुरुषसिंह ! विराट का साला और सेनापति दुष्ट कीचक
 मुझे सैरन्धी के वेष से रनिवास में रहते देखकर नित्य
 ही 'मेरी प्रिया बनो, मेरी प्रिया बनो' कहा करता
 है । उसके यूँ कुवावय सुनकर पके हुए फल की
 तरह मेरा हृदय टूक-टूक हो जाता है । जिनकी कर्तूत
 से मुझे ऐसे घोर क्लेश मिल रहे हैं उन अपने जुआरी
 बड़े भाई युधिष्ठिर की निन्दा करो ॥६॥१०॥

उनके सिवा और कौन विज्ञ पुरुष जुए में अपना
 राज्य और सर्वस्व हार सकता है ? कौन यों सय

युधिष्ठिर उवाच—युधिष्ठिरस्याऽऽसमहं पुरा सखा वैयाघ्रपथः पुनरस्मि विप्रः ।

अक्षान्प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां कंकेति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ॥ १२ ॥

विराट उवाच—ददामि ते हंत वरं यमिच्छसि प्रशाधि मत्स्यान्वशगो ह्यहंतव ।

प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—प्राप्तो विवादः प्रथमं विशांपते न विद्यते कंचन मत्स्य हीनतः ।

न मे जितः कश्चन धारयेद्धनं वरो ममैपोऽस्तु तव प्रसादजः ॥ १४ ॥

विराट उवाच—हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्प्रजाजयेयं विपयाद्द्विजांस्तथा ।

शृण्वंतु मे जानपदाः समागताः कंको यथाऽहं विपये प्रभुस्तथा ॥ १५ ॥

समानयानो भविताऽसि मे सखा प्रभूतवच्चो बहुपानभोजनः ।

पश्येस्त्वमंतश्च वहिश्च सर्वदा कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥ १६ ॥

ये त्वाऽनुवादेऽयुरवृत्तिकर्षिता ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा ।

दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो न ते भयं विद्यति सन्निधौ मम ॥ १७ ॥

वेशम्पायन उवाच—एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं विराटराजेन नरर्षभस्तदा ।

उवास धीरः परमार्चितः सुखी न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

सकते हो ? ॥८॥११॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैं ब्राह्मण हूँ । मेरा नाम कङ्क और गोत्र वैयाघ्रपद है । मैं पहले महाराज युधिष्ठिर का प्रिय सखा था । मैं चौसर खेलेने में बड़ा निपुण हूँ ॥१२॥

राजा विराट ने कहा—मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए तैयार हूँ । तुम चाहो तो इस मत्स्य देश का शासन करो । मैं तुम्हारे वश में हूँ क्योंकि घृत-क्रीड़ा में निपुण लोग मुझे बहुत ही प्यारे हैं । हे देवतुल्य महापुरुष ! तुम सब तरह इस राज्य के पाने योग्य हो ॥१३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! मेरी एक प्रार्थना और भी है । वह यह कि मैं अपने से हीन पुरुष के साथ कभी जुआ न खेळूँगा और हारे हुए

व्यक्ति को उसका जीता हुआ धन नहीं लौटाऊँगा । आप यदि यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें तो मैं यहाँ आपके पास रह सकता हूँ ॥१४॥

राजा विराट ने कहा—मुझे तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार है । इसके अतिरिक्त तुम्हारा अप्रिय और अहित करनेवाला यदि ब्राह्मण होगा तो उसे मैं अपने देश से निकाल दूँगा ; यदि अन्य किसी वर्ण का मनुष्य होगा तो उसे प्राणदण्ड दूँगा । युधिष्ठिर से यों कहकर राजा ने अपने सभासदों से कहा—हे सभासदो और पुरवासियो ! सुनो । आज से ब्राह्मण श्रेष्ठ कङ्क को मैं अपने प्रिय सखा का पद देता हूँ । इन्हें आज से मैं राज-कार्य की सर्व बातों में अपने ही समान अधिकार देता हूँ । और हे कङ्क ! तुम

प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥
 यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि ।
 ब्रुवाणो बल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः ॥ ४ ॥
 यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुंजरैः ।
 हसंत्यंतःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः ॥ ५ ॥
 शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा ।
 कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत् ॥ ६ ॥
 तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत ।
 प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन् ॥ ७ ॥
 प्रेक्ष्य सामनवद्यांगीं कश्मलोपहतामिव ।
 स्नेहात्संवासाद्दमार्त्सूदमेपा शुचिस्मिता ॥ ८ ॥
 योध्यमानं महावीर्यमियं समनुज्ञोचति ।
 कल्याणरूपा सैरंध्री बल्लवश्चापि सुंदरः ॥ ९ ॥
 स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ ।
 सैरंध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी ॥ १० ॥
 अस्मिन् राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ ।
 इति ब्रुवाणा वाक्यानि सां मां नित्यमतर्जयत् ॥ ११ ॥

यह दशा देखकर मेरे हृदय में शोक बढ़ रहा है ।
 लोग तुमको रसोइया और विराट का नौकर जानते
 हैं, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती
 है ? रसोई का काम कर चुकने के पश्चात् विराट
 की सेवा के लिए जब तुम सभा में बैठते ही और
 लोग तुम्हें बल्लव कहा करते हैं, तब मेरा हृदय मारों
 फटने लगता है ॥११॥

परमत्रचित्त राजा विराट जब तुमको हाथियों से
 लड़ा देते हैं तब रनिवास की स्त्रियाँ हँसा करती हैं;
 किन्तु मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठता है ।
 तुम जब रनिवास में सुदेष्णा के सामने सिंह, बाघ

और भैंसों के साथ भिड़ जाते हो तब मुझे बहुत
 दुःख होता है । एक दिन ऐसी ही व्याकुलता की
 दशा में साथवाली स्त्रियों ने मुझे संबाल लिया । तब
 सुदेष्णा ने कहा—सुन्दरी सैरन्ध्री रसोइया (सूयकार)
 बल्लव को महा बलवानों के साथ भिड़ते देखकर ही
 मुर्दा सी हो जाती है । इससे बल्लव के ऊपर इसका
 सहवास-सुलभ अनुगम जान पड़ता है ॥५॥९॥

सैरन्ध्री स्वभाव से ही परम सुन्दरी है, और
 बल्लव भी बहुत ही सुन्दर जवान है । स्त्रियों के चित्त
 की गति को जानना बहुत ही कठिन है । अच्छी
 जोड़ी मिली है । फिर ये दोनों तो साथ ही राजमवन

ततो विराटं समुपेत्य पांडवस्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः ।

उवाच सूदोऽस्मि नरेंद्र बल्लवो भजस्व मां व्यंजनकारमुत्तमम् ॥ ७ ॥

विराट उवाच—न सूदतां बल्लव श्रद्धधामि ते सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे ।

श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ॥ ८ ॥

भीम उवाच—नरेंद्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते जानामि सूपां प्रथमं च केवलान् ।

आस्वादिता ये नृप ते पुराऽभवन् युधिष्ठिरेणाऽपि नृपेण सर्वशः ॥ ९ ॥

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव ।

गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं सदा करिष्यामि तवाऽनघ प्रियम् ॥ १० ॥

विराट उवाच—ददामि ते हंत वरान्महानसे तथा च कुर्याः कुशलं प्रभापसे ।

न चैव मन्ये तव कर्म यत्समं समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ ११ ॥

यथा हि कामो भवतस्तथा कृतं महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः ।

नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥ १२ ॥

वेशम्पायन उवाच—तथा स भीमो विहितो महानसे विराटराज्ञो दयितोऽभवद्दृढम् ।

उवास राज्ये न च तं पृथग्जनो बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ १३ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

राजा विराट की आज्ञा से उन लोगों ने शीघ्र भीमसेन के पास जाकर राजा की इच्छा प्रकट की । विराट के पास पहुंचकर भीमसेन ने बेघड़क होकर यों कहा—हे महाराज ! मैं रसोइया हूं । मेरा नाम बल्लव है । मैं बहुत ही उत्तम और अपूर्व रसोई बना सकता हूं । आप मुझे अपने यहां रख लीजिए ॥६॥७॥

राजा विराट ने कहा—हे बल्लव ! तुम्हारा रूप, शोभा और विक्रम देखने से तो तुम कोई श्रेष्ठ राजा जान पड़ते हो; रसोइया नहीं जान पड़ते ॥८॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! मैं [शूद्र वर्ण का] सूफकार हूं । मैं पहले युधिष्ठिर के यहां रसोइया और भण्डारे का स्वामी था । मैं भोजन बनाने की कला में तो निपुण हूं ही, इसके अतिरिक्त मेरे समान बलवान् पहलवान भी दुर्लभ है । मैं सदा मस्त हाथी

और शेर से युद्ध करा करता था । अब आपके यहां रहकर अपने कार्यों से आपको सन्तुष्ट करने की इच्छा है ॥९॥१०॥

विराट ने कहा—हे बल्लव ! मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करता हूं । तुम आज से मेरे यहां की पाकशाला और भण्डारे के स्वामी हुए । परन्तु यह कार्य तो तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम तो समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी भर का शासन कर सकते हो । अच्छा, तुम अपनी इच्छा से यही कार्य पसन्द करते हो, इसलिये मैं भी तुमको अपने यहां की पाकशाला के प्रधान कर्मचारी का पद देता हूं । इस प्रकार राजा विराट के यहां आश्रय पाकर भीमसेन भी बड़े सुख से रहने लगे । वहां का या बाहर का कोई मनुष्य उनका असली परिचय नहीं पा सका ॥११॥१२॥

विराटपर्व का आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

महाभिजनसंपन्नः शीलवान्वृत्तवानिति ॥ ३७ ॥
 हीनिपेवो मधुरवाग्धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
 स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ॥ ३८ ॥
 सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाऽप्यनुव्रतः ।
 ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पांचालि भोजयेः ॥ ३९ ॥
 इत्युवाच हि मां कुन्ती रुदती पुत्रवृद्धिनी ।
 प्रव्रजंतं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ॥ ४० ॥
 तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोपु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
 सहदेवं युधां श्रेष्ठं किन्नु जीवामि पांडव ॥ ४१ ॥
 यस्त्रिभिर्नित्यसंपन्नो रूपेणाऽह्नेन मेधया ।
 सोऽश्वबंधो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ४२ ॥
 अभ्यकीर्यत वृंदानि दामग्रंथिमुदीक्ष्य तम् ।
 विनयंतं जव्रेनाऽश्वान्महाराजस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥
 अपश्यमेनं श्रीमंतं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
 विराटमुपातिष्ठंतं दर्शयंतं च वाजिनः ॥ ४४ ॥
 किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप ।
 एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ॥ ४५ ॥

हे वीर ! आर्या कुन्ती सदा मेरे आगे सहदेव
 की सच्चरित्रता और सुशीलता की प्रशंसा किया करती
 थी। सहदेव जब हम लोगों के साथ वन चलने को
 तैयार हुए तब पुत्रवत्सला कुन्ती ने उनको छाती से
 लगाकर, आँसुओं में आँसू मरकर, कहा था कि
 "हे-द्रौपदी ! सहदेव बहुत ही शरमिले, प्रियवादी,
 धर्मीनिष्ठ, बड़े-बूढ़ों और राजा की सेवा में अनुराग
 रखनेवाले, शूर, सुकुमार और मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।
 इसलिए तुम सदा इनकी देख-भाल रखना और अपने
 हाथ से खिलाना-पिलाना"। हाय ! आज वन्हीं सहदेव
 को गोपाल वनकर, चमड़े पर लेटकर, समय व्यतीत

करना पड़ता है ! यह देखकर भी मैं कैसे जीनी रहने
 की इच्छा करूँ ? ॥३७॥४१॥

हा ! काल की कैसी विचित्र गति है ! रूप,
 बुद्धि और अन्नविद्या, ये तीनों गुण जिनमें समान
 रूप से सर्वोत्तम भाव से वर्तमान हैं वही नकुल आज
 राजा विराट के साईस हैं। जिन्हें देखते ही शत्रु लोग
 व्याकुल हो जाते थे वे नकुल आज राजा विराट के
 सामने उनके घोड़ों को शीघ्र चलना सिखाते हैं ! हे
 भीम ! युधिष्ठिर के कारण मैं इसी तरह के अनेकों
 दुःख भोग रही हूँ। तब भी तुम किस तरह मुझे
 सुखी समझ रहे हो ? इन दुःखों के सिवा मुझे और

सा तामुवाच राजेंद्र सैरंध्यहमुपागता	।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ॥ ८ ॥	
सुदेष्णांवा च—नैवंरूपा भवत्येव यथा वदसि भामिनि	।
प्रेपयंतीव वै दासीर्दासांश्च विविधान्वहून् ॥ ९ ॥	
नोच्चगुल्फा संहतोरुखिगंभीरा षडुन्नता	।
रक्ता पंचसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ॥ १० ॥	
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा	।
तेन तेनैव संपन्ना काश्मीरीव तुरंगमी ॥ ११ ॥	
अरालपक्ष्मनयना विंबोष्ठी तनुमध्यमा	।
कंबुर्ग्रीवा गूढशिरा पूर्णचंद्रनिभानना ॥ १२ ॥	
शारदोत्पलपत्राक्षया शारदोत्पलगंधया	।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ॥ १३ ॥	
का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन	।
यक्षी वा यदि वा देवी गंधर्वी यदि वाऽप्सरः ॥ १४ ॥	
देवकन्या भुजंगी वा नगरस्याऽथ देवता	।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥ १५ ॥	

द्रौपदी ने कहा—मैं सैरन्त्री हूँ। जो कोई मुझे अपने यहाँ आश्रय देगा उसका कार्य मैं मन लगाकर करूँगी। इसी इच्छा से मैं इस नगर में आई हूँ ॥५॥८॥

रानी सुदेष्णा ने कहा—हे सुन्दरी ! तुमने जो कहा वह तुम ऐसी स्त्री के योग्य कभी नहीं हो सकती। बल्कि तुम्हीं बहुत सी दासियों की स्वामिनी होने योग्य हो। तुम्हारे गुल्फ (गठे) गूढ़ हैं; तुम्हारी जाँचे बराबर हैं; नाभि गहरी है; नाक, आँखें, कान, स्तन, नख और घांटी ऊँची हैं; हथेलियों, तलवों, आँखों के कोयों और मुख-मण्डलका रङ्ग गुलाबी है। तुम्हारी बाणी हंस की सी है। केश बड़े मनोहर हैं। स्तन और नितम्ब मोटे हैं। पलकों के रोपें कुटिल

हैं। ओठ कुंदरू के रङ्ग के हैं। कमर पतली है। गरदन शङ्ख के समान बनी है। नसें छिपी हुई हैं। शरीर का रङ्ग साँवला है। मुख-मण्डल पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर है। क्या तुम किसी दानव, गन्धर्व किन्नर या नाग की कन्या हो ? या तुम वनदेवी हो या कोई अप्सरा ? तुम काश्मीर देश की घोड़ी के समान हो। शरद ऋतु के कमल के समान विशाल नेत्रोंवाली, शरद ऋतु के कमल के समान सुगन्ध से पूर्ण, महालक्ष्मी की जान पड़ती हो। तुम्हारा रूप बहुत ही मनोहर है। इसलिए हे सुन्दरी ! ठीक-ठीक बताओ, तुम कौन हो ? तुम किसी तरह दासी होने के योग्य नहीं हो। तुम क्या यक्ष-कन्या, देव-कन्या

यच्च राष्ट्रात्प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः ।
 सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौवलस्य च ॥ ६ ॥
 दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाऽहृतं शिरः ।
 तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवाऽर्पितम् ।
 मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ॥ ७ ॥
 इमं तु समुपालंभं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः ।
 शृणुयाद्वाऽपि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात्स जीवितम् ॥ ८ ॥
 धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे ।
 लोकांतरगतेष्वेपु नाऽहं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ९ ॥
 पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने ।
 बल्मीकभूतं शाम्यंतमन्वपद्यत भामिनी ॥ १० ॥
 नारायणी चंद्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता ।
 पतिमन्वचरद्वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ॥ ११ ॥
 दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता ।
 पतिमन्वचरत्सीता महारण्यनिवासिनम् ॥ १२ ॥
 रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया ।
 क्रिश्यमानाऽपि सुश्रोणि राममेवाऽन्वपद्यत ॥ १३ ॥

समय युधिष्ठिर के इशारे का खयाल करके जुप हूँ । १।५।

एक तो हम लोगों का राज्य-नाश हो गया है; दुमरे अभी तक कर्ण, शकुनि, दुर्योधन, दुःशासन आदि दुष्ट बैरी जिते हैं; ये दोनों बातें काटे की तरह मेरे हृदय में खटक करती हैं। इनके खयाल से मेरा शरीर जला करता है। हे प्रियतम! धर्म को न छोड़कर क्रोध को त्यागो। महाराज युधिष्ठिर यदि किसी तरह तुम्हारी इन तिग्मकार की बातों को सुन पावेंगे तो वे तो अवश्य ही प्राण छोड़ देंगे। उनकी परलोकवास होने पर अर्जुन, नकुल और सहदेव भी जीते नहीं रह सकते। इन लोगों के विरह में मैं भी

किसी तरह जीवा नहीं रह सकता ॥६।९॥

देखो, पहले के समय में महातपस्वी च्यवन ऋषि तप करते-करते वन में बल्मीकरूप हो गये थे; उस समय उनकी सहधर्मिणी राजकुमारी सुकन्या ने उनकी सेवा की और उनकी साथ दिया। अनुपम रूपवती नारायणी चन्द्रसेना हजार वर्ष के वृद्ध की स्त्री होकर उनकी अनुगामिनी रहीं। महाराज जनक की कन्या सीता देवी को राक्षस हर ले गया, उन्हें अनेक कष्ट दिये, तो भी उन्होंने वनवासी स्वामी के साथ रहने की उत्कण्ठा नहीं छोड़ी। हे पाञ्चाली! रूप और यौवन से शोभित लोपामुद्रा, अलौकिक

प्रसक्तास्त्वां निरीक्षते पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २३ ॥

वृक्षांश्चाऽवस्थितान्पश्य य इमे मम वेश्मनि ।

तेऽपि त्वां सन्नमंतीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २४ ॥

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुपम् ।

विहाय मां वरारोहे गच्छेत्सर्वेण चेतसा ॥ २५ ॥

यं हि त्वमनवद्यांगि तरलायतलोचने ।

प्रसक्तमभिवीक्षेथाः सकामवशगो भवेत् ॥ २६ ॥

यश्च त्वां सततं पश्येत्पुरुषश्चारुहासिनि ।

एवं सर्वानवद्यांगि स चाऽनंगवशो भवेत् ॥ २७ ॥

अध्यारोहेद्यथा वृक्षान्वधायैवाऽऽत्मनो नरः ।

राजवेश्मनि ते सुभ्रू शूहे तु स्यात्तथा मम ॥ २८ ॥

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः ।

तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥ २९ ॥

द्रौपयवाच—नाऽस्मि लभ्या विराटेन न चाऽन्येन कदाचन ।

गंधर्वाः पतयो मल्लं युवानः पंच भामिनि ॥ ३० ॥

पुत्रा गंधर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित् ।

रक्षन्ति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ॥ ३१ ॥

कर कहीं महागज का चित्त चञ्चल न हो उठे। जब ये रनिवास की स्त्रियां भी मोहित होकर एकटक तुम्हीं को ताक रही हैं, और महल के भीतर वृक्ष तक तुम्हें देखने के लिए झुके से पड़ रहे हैं, तब तुम्हारे रूप को देखकर किस पुरुष का चित्त चलायमान न हो उठेगा ? हे सुन्दरी ! इसमें सन्देह नहीं कि महाराज विराट तुम्हारे अलौकिक रूप-लावण्य को देखकर मुझे छोड़ तुम्हीं पर आसक्त हो जायेंगे। मुझे विश्वास है कि तुम जिस पुरुष की ओर अनुगम की दृष्टि से प्रसन्न होकर देख दोगी, या जो पुरुष सदा तुमको देखेगा वह अवश्य कामदेव के वश हो जायगा।

जैसे कोई मूख पैदल पर चढ़कर अपने गिरेने का सामान करे [या जिस डाल पर लड़ा हो उसे ही काटने को तैयार हो] वैसे ही मेरे लिए तुमको राजमहल में आश्रय देना भी है। जैसे कर्कटी अपने नाश के लिए ही गर्भवती होती है वैसे ही मेरा तुमको अपने पास रखना होगा ॥२२।२९॥

द्रौपदी ने कहा—हे रानीजी ! राजा विराट या और कोई पुरुष मुझे प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि पांच नौजवान गन्धर्व मेरे स्वामी हैं। वे महाबली हैं और सदा [गुप्त रूप से] मेरी रक्षा किया करते हैं। जो कोई मुझे अपनी जूठन नहीं खिलाता

दर्शने दर्शने हन्याद्यदि जह्यां च जीवितम् ।
 तद्धर्मे यतमानानां महान्धर्मो न शिष्यति ॥ ३९ ॥
 समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति ।
 भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ४० ॥
 प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।
 आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः ॥ ४१ ॥
 भर्त्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ।
 वदन्तां वर्णधर्मश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ॥ ४२ ॥
 क्षत्रियस्य सदा धर्मो नाऽन्यः शत्रुनिवर्हणात् ।
 पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदाऽवधीत् ॥ ४३ ॥
 तव चैव समक्षे वै भीमसेन महाबल ।
 त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद्घोराजटासुरात् ॥ ४४ ॥
 जयद्रथं तथैव त्वमजैपीभ्रातृभिः सह ।
 जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ ४५ ॥
 कीचको राजवाल्लुभ्याच्छोककृन्मम भारत ।
 तमेवं कामसंमत्तं भिधि कुंभमिवाऽश्मनि ॥ ४६ ॥

दीक्षा लिये हुए हो। यदि मेरी जान जाती रही तो अवश्य ही तुमको घोर अधर्म होगा। तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिज्ञा के पालन का खयाल रखने से तुम अपनी भार्याकी रक्षा न कर सकोगे। भार्या की रक्षा हुए बिना सन्तान की रक्षा नहीं होने की ॥३५४०॥

[सोचकर देखो, सन्तान की रक्षा कितना आवश्यक कर्तव्य है।] सन्तान की रक्षा से आत्मा की रक्षा होती है, क्योंकि पुरुष आप ही पुत्र-रूप से फिर जन्म लेता है इसी लिए विज्ञ पुरुषों ने भार्या का एक नाम जाया रक्खा है। पति पुत्र-रूप से मेरे गर्भ में जन्म लेगा, यही सङ्कल्प करके स्त्री को स्वामी की सेवा करनी चाहिए। वर्णाश्रम धर्म

के अच्छे जानकर ब्राह्मणों से मैंने सुना है कि शत्रु को दण्ड देने से बढ़कर क्षत्रिय का और धर्म नहीं है। [इसलिए प्रतिज्ञा-पालन के अनुरोध से भयङ्कर शत्रु कीचक को यथोचित दण्ड न दिया जायगा तो तुम लोगों के सर्वोत्तम धर्म की विशेष हानि होगी।] ॥४१॥४३॥

हे महाबली भीमसेन ! दुष्ट कीचक ने धर्मराज युधिष्ठिर के और तुम्हारे आगे मुझे खात मारी है। तुमने पहले भयानक जटासुर से जैसे मेरी रक्षा की है, और भाइयों की सहायता से जयद्रथ को जैसे नीचा दिखाया है, वैसे ही इस समय पापी कीचक को मारो। हे भरत-कुलतिलक ! कामान्व पापी कीचक, राजा को प्रिय होने के कारण, मेरे लिए अनेक विपत्तियाँ

गोष्ठमासाद्य तिष्ठंतं भवनस्य समीपतः ।
 राजाऽथ दृष्ट्वा पुरुषान्प्राहिणोज्जातविस्मयः ॥ २ ॥
 तमायांतमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम् ।
 समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनंदनम् ॥ ३ ॥
 कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि ।
 न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥ ४ ॥

संप्राप्य राजानममित्रतापनं ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
 वैश्योऽस्मि नाम्नाऽहमरिष्टनेमिर्गोसंख्य आसं कुरुपुंगवानाम् ॥ ५ ॥
 वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ तान्राजसिंहान्न हि वेद्मि पार्थान् ।
 न शक्यते जीवितुमप्यकर्मणा न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ॥ ६ ॥

विराट उवाच—त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि समुद्रनेमीश्वररूपवानसि ।
 आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शनं न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ॥ ७ ॥
 कस्यासि राज्ञो विषयादिहाऽऽगतः किं वापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।
 कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ॥ ८ ॥

सहदेव उवाच—पंचानां पांडुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।

राजा विराट को बड़ा आश्चर्य उत्पन्न हुआ। राजाके भेजे हुए लोग सहदेव के पास आकर उनको विराट के पास ले गये। रूपवान् सहदेव को देखकर विराट ने उनका यथोचित आदर करके कहा—हे पुरुष श्रेष्ठ! तुमको पहले मैंने कभी भी नहीं देखा। तुम कौन हो? किसके पुत्र हो? कहाँ से, किस अभिप्राय से, यहाँ आये हो? अपना सब वृत्तान्त कहो ॥१४॥

सहदेव ने मेघ के समान गम्भीर स्वर से कहा—हे महाराज! मैं गोपाल वैश्य हूँ। मुझको तन्तिपाल और अरिष्टनेमि भी कहते हैं। मैं पहले महागज युधिष्ठिर के यहाँ गाँवों की रक्षा किया करता था। अब पाण्डवों का कहीं पता नहीं है। इसी से जीविकाहीन होकर मैं आपके यहाँ आया हूँ। आप क्षत्रियों

में श्रेष्ठ हैं। आपके पास रहकर वही अपना पहले का कार्य करना चाहता हूँ। और कोई कार्य करना, या आपको छोड़कर और किसी के आश्रय में रहना, मुझे पसन्द नहीं। मैं इस कार्य में बहुत ही निपुण हूँ। मुझे आश्रय दीजिए ॥५॥६॥

इस पर विराट ने कहा—हे शत्रुदमन! तुम ठीक-ठीक अपना परिचय दो। तुम्हारे रूप-रङ्ग से मुझे स्पष्ट जान पड़ता है कि तुम ब्राह्मण अथवा समुद्र पर्यन्त पृथ्वी-मण्डल के स्वामी कोई प्रतापी क्षत्रिय हो। वैश्य की वृत्ति कभी तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम किस राजा के राज्य से आये हो? किस-किस कार्य में निपुण हो? मेरे यहाँ किस तरह रहोगे? क्या वेतन लोगे? ॥७॥८॥

वैशम्पायन उवाच—तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह ।
 दिवसाद्धं समभवन्मासेनेव समं नृप ॥ १८ ॥
 कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः ।
 सैरंध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तन्नाऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥
 गंधाभरणमाल्येषु व्यासक्तः स विशेषतः ।
 अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ॥ २० ॥
 तस्य तत्कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाऽभवत् ।
 अनुचितयतश्चापि तामेवाऽऽयतलोचनाम् ॥ २१ ॥
 आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः ।
 निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ॥ २२ ॥
 कृतसंप्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः ।
 नाऽजानाद्विचसं यातं चिंतयानः समागमम् ॥ २३ ॥
 ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे ।
 उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमंतिकम् ॥ २४ ॥
 तमुवाच सुकेशांता कीचकस्य मया कृतः ।
 संगमो नर्तनागारे यथाऽवोचः परंतप ॥ २५ ॥

ही गन्धर्व न जानते होंगे। इसलिए तुम घोर अन्धेरी रात्रि के समय बड़ा मुश्किल मिलने आओ तो हम दोनों लोक-राज से बच जायें ॥१६।१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज जनमेजय ! कीचक से यों बातचीत हो चुकने पर द्रौपदी को बह आधा दिन एक महीने के बराबर जान पड़ने लगा। वधर कामबाण-पीड़ित दुष्ट कीचक प्रमत्तता के मारे पूना नहीं समाता था। उसे नहीं मालूम हुआ कि द्रौपदी उसके लिए साक्षात् मृत्यु है। वह द्रौपदी से निश्चय करके अपने घर को गया और चन्दन, माला, गहने आदि से अपने शरीर की शोभा बढ़ाने में लग गया। उस समय विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी की याद

आने से रात्रि होने में जो थोड़ा सा समय शेष रह गया था वह कीचक को बहुत ही अधिक जान पड़ने लगा ॥१८।१९॥

जैसे दीपक बुझने में पहले खूब जगमगा उठता है, वैसे ही उस समय कीचक बहुत आनन्दित और शोभित हुआ। दुष्ट कीचक काम में विह्वल हुआ-हुआ और मिथ्या की अभिलाषा में उन्मत्त सा हो उठा। द्रौपदी की बातों पर उसको पूरा विश्वास था। इस खयाल में वह इतना मग्न हो गया था कि दिन कब व्यतीत हो गया, इसकी भी उसको कुछ मालूम नहीं हुई ॥२२।२३॥

अब सन्ध्या का समय आ गया। पतिव्रता द्रौपदी

यहां सुख से रहने लगे । राजा भी उन्हें, उनकी इच्छा | कोई भी सहदेव को पहचान नहीं सका ॥१६॥
के अनुसार, वेतन देकर सन्तुष्ट रखने लगे । वहां पर

विराटपर्व का दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथापरोऽदृश्यत रूपसंपदा स्त्रीणामलंकारधरो बृहत्पुमान् ।

प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुंडले दीर्घे च कंबूपरिहाटके शुभे ॥ १ ॥

बाहू च दीर्घान्प्रविकीर्य मूर्धजान्महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः ।

गतेन भूमिं प्रतिकंपयंस्तदा विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले व्याजात्प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम् ।

विराजमानं परमेण वर्चसा सुतं महेंद्रस्य गजेंद्रविक्रमम् ॥ ३ ॥

सर्वानपृच्छञ्च सभानुचारिणः कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः ।

न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

सत्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।

आमुच्य कंबूपरिहाटके शुभे विमुच्य वेणीमपिनह्य कुंडले ॥ ५ ॥

स्वर्गी सुकेशः परिधाय चाऽन्यथा शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा ।

आरुह्य यानं परिधावतां भवान्सुतैः समो मे भव वा मया समः ॥ ६ ॥

ग्यारहवां अध्याय ॥ ११ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब परम सुन्दर, ऊँचे ढील-ढीलवाले, महाबाहु, मस्त हाथी के समान पराक्रमी अर्जुन भी स्त्रियों के समान कानों में कुण्डल, हाथों में चूड़ियाँ, कङ्कन और बाजू आदि पहने, बड़ी-बड़ी लट्टे खोले विराट की सभा के पास पहुँचे । उनके प्रत्येक पग रखने पर पृथ्वी मारों कांप उठती थी ॥११॥

अपने को नपुंसक के वेष में छिपाये हुए तेजस्वी इन्द्र-पुत्र अर्जुन को देखकर राजा विराट ने सभासदों से कहा—यह कौन है ? कहां से आया है ? मैंने न तो कभी इसे कहीं देखा ही है और न इसके बारे में

कुछ सुना है । सभासदों ने कहा—हे महाराज ! हम भी इसको नहीं जानते । इतने में नपुंसक-वेषधारी अर्जुन राजा विराट की सभा में पहुँचे । उन्हें देखकर विस्मित विराट ने कहा—हे महात्मा ! तुम बलवान्, मस्त हाथी के समान पराक्रमी, सांवले, मनोहर जवान देख पड़ते हो । चूड़ी, कङ्कन, बाजू, कुण्डल, वेणी आदि धारण करने पर भी तुम्हारी शोभा कम नहीं है । तुम्हारा देव-सदृश रूप देखने से तुम नपुंसक नहीं जान पड़ते । तुम मेरी आज्ञा से रथ पर चढ़कर अपनी इच्छा के अनुसार सैर करो । आज से तुम मेरे पुत्रों के अथवा मेरे ही तुल्य हुए । मैं वृद्ध हो गया

अथ त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि ।
 द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ॥ ५० ॥
 निरावाधा त्वयि हते सैरंग्री विचरिष्यति ।
 सुखमेव चरिष्यति सैरंग्याः पतयः सदा ॥ ५१ ॥
 ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः ।
 स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः ॥ ५२ ॥
 आक्षिप्य केशान्वेगेन बाह्वोर्जग्राह पांडवम् ।
 बाहुयुद्धं तयोद्यसीत्क्रुद्धयोनरसिंहयोः ॥ ५३ ॥
 वसन्ते वासिताहेतोर्विलवद्भजयोरिव ।
 कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५४ ॥
 वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव क्षपिसिंहयोः ।
 अन्योन्यमभिसंरब्धौ परस्परजयैपिणौ ॥ ५५ ॥
 ततः समुद्यम्य भुजौ पंचशीर्षाविवोरगौ ।
 नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ ॥ ५६ ॥
 वेगेनाऽभिहतो भीमः कीचकेन वलीयसा ।
 स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितं पदम् ॥ ५७ ॥

हो ! कैसे स्पर्शरस के जानकार हो ! तुम्हारे सदृश
 स्त्रियों को शिक्षानेवाला दूषण कोई नहीं है ॥४७७४८॥
 वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !
 परमपराक्रमी भीमसेन यों कहकर एकाएक उछल पड़े
 और फिर हँसकर अपने को प्रकट करते हुए कहने
 लगे—ने पापी ! सिंह जैसे गजराज पर आक्रमण
 करता है, वैम ही मैं तुझे खींचकर, तेरी बहन के
 सामने ही तुझे धरती पर पटककर, रगड़ूंगा । तेरे
 मर जाने पर सैरंग्री बेखटके हो जायगी, और उसके
 स्वामी गन्धर्व भी सन्तुष्ट होंगे ॥४९१५१॥

महाबली भीमसेन ने यों कहकर चटपट उसके
 बाल पकड़ लिये । श्रेष्ठ बलवान् कीचक ने भी उभी

घड़ी अपने बाल छुड़ाकर वेग से भीमसेन को सुझावों
 में भर लिया । इस तरह क्रोध से भरे दोनों वीर पर-
 स्पर भिड़ गये। वसन्त ऋतु में हथिनी के लिए काम
 से उन्मत्त दो गजराज जैसे परस्पर युद्ध करें, या पहले
 वाली और सुग्रीव ने जैसा दारुण युद्ध किया था,
 वैसे ही वे दोनों मयानक युद्ध करने लगे। दोनों को
 समान रूप से जय की इच्छा थी, दोनों ही क्रोध से
 भरे हुए थे ॥५२१५५॥

तीक्ष्ण विषवाले पांच सिर के नागों के समान
 मयङ्कर मुजाएं ठठाकर दोनों ही परस्पर नखों और
 दाँतों से प्रहार करने लगे । कीचक महावेग से प्रहार
 करता था, पर प्रतिज्ञा में स्थिर प्रतापी भीमसेन पग

दासियों को, नाचने और गाने-बजाने की शिक्षा देने लगे कुछ ही दिनोंमें वे उनको बहुत प्यारे हो गये। हे राजेंद्र! इस तरह स्त्रियों के बीच में राजा विराट के अन्तः-

पुर में अर्जुन रहने लगे। गनिवास के भीतर या बाहर कोई मनुष्य उनको नहीं पहचान सका ॥१११५॥

—०—

विराटपर्व का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथाऽपरोऽदृश्यत पांडवः प्रभुर्विराटराजं तरसा समेयिवान् ।

तमापतंतं ददृशे पृथग्जनो विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमंडलम् ॥ १ ॥

स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट् ।

ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः ॥ २ ॥

स्वयं हयानीक्षाति मामकान्दृढं ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः ।

प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे विभाति वीरो हि यथाऽमरस्तथा ॥ ३ ॥

अभ्येत्य राजानमभिब्रूहाऽब्रवीज्जयोऽस्तु ते पार्थिव बद्रमस्तु वः ।

हयेषु युक्तो नृप संमतः सदा तवाऽश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥ ४ ॥

विराट उवाच—ददामि यानानि धनं निवेशनं ममाऽश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि ।

कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ॥ ५ ॥

नकुल उवाच—पंचानां पांडुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।

तेनाऽहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥ ६ ॥

अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः ।

बारहवां अध्याय ॥ १२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! [इसके पश्चात् परम सुन्दर नकुल विराट की सभा में पहुँचे ।] मेघ-मण्डली से निकले हुए सूर्य के समान तेजस्वी नकुल को राजा विराट [और उनके सभासदों] ने देखा। नकुल महाराज विराट के घोड़ों को देखते चले आ रहे थे। राजा विराट ने अपने नौकरों से कहा—यह देवतुल्य पुरुष कहाँ से आ रहा है ? यह मेरे घोड़ों को बड़े ध्यान से देखता आ रहा है, इससे यह घोड़ों के बारे में अधिक जानकारी रखनेवाला मनुष्य जान पड़ता है ।

तुम लोग शीघ्र इसे मेरे पास लाओ। राजा के सेवक जब नकुल को लेकर राजसभा में पहुँचे तब नकुल ने कहा—हे राजेंद्र ! आपकी जय हो। घोड़ों के बारे में मुझे पूरी जानकारी है। [मेरा नाम अन्धिक है ।] मैं आपकी अद्व-शाला में रहकर घोड़ों की देख रेख का कार्य करना चाहता हूँ। [आप वेतन नियत करके मुझे अपने यहाँ रख लीजिए ।] ॥११५॥

राजा विराट ने कहा—हे अन्धिक ! मैं तुमको अपनी घुड़साल का प्रधान कर्मचारी बनाता हूँ ।

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः ।
 पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥ ८५ ॥
 ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम् ।
 पांचालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८६ ॥
 प्रार्थयन्ति सुकेशांते ये त्वां शीलगुणान्विताम् ।
 एवं ते भीरु वध्यते कीचकः शोभते यथा ॥ ८७ ॥
 तत्कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम् ।
 तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोपस्य वै शमम् ॥ ८८ ॥
 आमंत्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ।
 कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योपितां वरा ।
 प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ॥ ८९ ॥
 कीचकोऽयं हतः शेते गंधर्वैः पतिभिर्मम ।
 परस्त्रीकामसंमत्तस्तत्राऽगच्छत पश्यत ॥ ९० ॥
 तच्छ्रुत्वा भापितं तस्या नर्तनागारराक्षिणः ।
 सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ॥ ९१ ॥
 ततो गत्वाऽथ तद्वेश्म कीचकं विनिपातितम् ।
 गतासुं दृष्ट्युर्भूमौ रुधरेण समुक्षितम् ॥ ९२ ॥
 पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताऽभवन् ।
 निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ९३ ॥

मांस का लोंदा बना दिया। फिर द्रौपदी को बुलाकर भीमसेन ने कहा—हे "प्रिये! देखो, इम लम्पट की भैने कैसी दुर्गति कर डाली है।" ॥८१॥८१॥

अब भीमसेन ने कीचक की लाश पर कई लाते मारी और अग्नि जलाकर द्रौपदी को उनकी दुर्दशा दिखाकर कहा—हे पाषाणली! अब और भी जो कोई तुम्हारी इच्छा करेगा उसकी ऐसी ही दशा करेगा। द्रौपदी की प्रसन्नता के लिए वंसा कठिन कर्म करके, प्रिया से विदा होकर, महावीर भीमसेन

शीघ्रता से पाकशाला को लौट गये। कीचक के मरने से द्रौपदी का दुःख शान्त हो गया, विपत्ति मिट गई। द्रौपदी ने नाट्यशास्त्र के रक्षकों के पाम जाकर कहा—“लम्पट कीचक मेरे स्वामी गन्धर्वों के हाथ से मारा गया है; मीतर नाट्यशाला में मरा पड़ा है। जी चाहे तो जाकर देख आओ।” ॥८५॥९०॥

यह सुनते ही पद्मेदार लोग मशालें जलाकर देसने के लिए नाट्यशास्त्र के भीतर गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि खून से तर, मांस का लोंदा

सका । हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार समुद्र पर्यन्त रहने लगे । प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए परार्द्ध सेवा पृथ्वी मण्डल के स्वामी होने पर भी सत्यपरायण का दुःख और अज्ञातवास का कष्ट उन्हें स्वीकार पाँचों पाण्डव, मिया द्रौपदी सहित, राजा विराट के यहां करना पड़ा ॥१२॥१३॥

विराटपर्व का चारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

अथ समयपालनपर्व ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जनमेजय उवाच—एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनेदनाः ।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनेदनाः ।
आराधयंतो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥ २ ॥
तृणविंदुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः ।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनेगरेऽवसन् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत्प्रियः ।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशांपते ॥ ४ ॥
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान्क्रीडयामास पांडवः ।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रवद्भानिव द्विजान् ॥ ५ ॥
अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट् ।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथाहं संप्रयच्छसि ॥ ६ ॥

तेरहवां अध्याय ॥ १३ ॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन् ! विराट के नगर में रहकर वेप बंदले हुए महापराक्रमी पांडवों ने इसके उपरान्त क्या किया ? ॥१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! मगवान् धर्म और महाराज तृणविन्दु के प्रसाद से अज्ञात होकर, विराट राजा के यहां ठण्डे प्रसन्न करते हुए, पाण्डव अज्ञातवास का समय व्यतीत करने लगे । महाराज युधिष्ठिर राजा विराट की सभा के मुख्य समासद हुए । राजा, राजपुत्र और सब समासदों को वे पाम प्रिय थे । चौसर खेलने में वे बड़े ही निपुण थे । लोग जैसे डोरी से बंधे हुए पक्षियों को लेकर, अपनी इच्छा के अनुसार चला-फिराकर, खेलते हैं वैसे ही चौसरके पाँसों पर महाराज युधिष्ठिरका अधिकार था ॥१॥ वे नित्य चौसर के खेल में बहुत सा धन जीतकर गुप्त रूप में अपने भाइयों को देते थे [जिसमें वे मुक्त से रहें] । भीमसेन विराट के यहां रसेर्द्वार के स्वामी थे । वे नित्य अनेक उत्तम भोजन की सामग्रियां, स्वादिष्ट मांस आदि अपने भाइयों को

ऊरुवेगेन तस्याऽथ न्यग्रोधाश्चत्थकिंशुकाः ।
 भूमौ निपतिता वृक्षाः संघशस्तत्र शेरते ॥ २३ ॥
 तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गंधर्वमागतम् ।
 वित्रेसुः सर्वशः सूना विपादभयकंपिताः ॥ २४ ॥
 गंधर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम् ।
 सैरंध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ॥ २५ ॥
 ने तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम् ।
 विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ २६ ॥
 द्रवतस्तांस्तु संप्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव ।
 शतं पंचाधिकं भीमः प्राहिणोद्यमसादनम् ॥ २७ ॥
 वृक्षेणैतेन राजेंद्र प्रभंजनसुतो वली ।
 तत आश्वासयत्कृष्णां स विमुच्य विशांपते ॥ २८ ॥
 उवाच च महाबाहुः पांचालीं तत्र द्रौपदीम् ।
 अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्यः स वृकोदरः ॥ २९ ॥
 एवं ते भीरु बध्यते ये त्वां क्लिश्यंत्यनागसम् ।
 प्रैहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तत्र ॥ ३० ॥
 अन्येनाऽहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ॥ ३१ ॥
 वैशम्पायन उवाच—पंचाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत ।
 महावनमिव च्छिन्नं शिष्ये विगलितद्रुमम् ॥ ३२ ॥

की जाघों के वेग से राह में लगे हुए पीपल, बरगद, दाक आदि के पेड़ उखड़-उखड़कर टूट-टूटकर गिरने लगे । क्रोधित सिंह के समान भयानक भीमसेन की अकम्मात् आते देख, गन्धर्व जानकर, सूनुपुत्र बहुत ही व्याकुल हुए । अपने बचने का कोई उपाय न सूझ पड़ने के कारण भय से व्याकुल उदास सुतपुत्रों के हृदय घड़कने लगे वे परस्पर कहने लगे—“वह देखो, वड़ा मारी वृक्ष कन्धे पर रखे, मृत्यु की तरफ, दौड़ता हुआ गन्धर्व हम लोगों की ओर नला आ रहा है । इसलिए हम विपत्ति की जड़ सैरन्ध्री को शीघ्र छोड़

दीजिए ॥२१२५॥

द्रौपदी को छोड़कर वे लोग नगर की ओर मागे । यह देखकर भीमसेन ने उनका पीछा किया । इन्द्र ने दानवों को जैम दल मल डाला था, वैसे ही महा-वली कात्स्न्य भीमसेन ने उसी वृक्ष से एक सी पांच उपकांचकों की उभी दम मार डाला । इसके पश्चात् रुदन काती हुई द्रौपदी के पास जाकर, बन्धन काट-कर, सान्त्वना देते हुए भीमसेन ने कहा—हे भीरु ! जो लोग बिना किसी अपराध के तुम्हें क्लेश देंगे वे यों ही मृत्यु के मुँह में पड़ेंगे । अब तुम्हें कुछ

महाकाया महावीर्याः कालखंजा इवाऽसुराः ।
 वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ॥ १६ ॥
 सिंहस्कंधकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः ।
 असकृच्छब्दलक्षास्ते रंगे पार्थिवसन्निधौ ॥ १७ ॥
 तेषामेको महानासीत्सर्वमहानथाऽऽह्वयत् ।
 आवल्गमानं तं रंगे नोपतिष्ठति कश्चन ॥ १८ ॥
 यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः ।
 अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥ १९ ॥
 नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाऽकरोन्मतिम् ।
 न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥ २० ॥
 ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन् ।
 प्रविवेश महारंगं विराटमभिपूजयन् ॥ २१ ॥
 वबंध कक्षां कौंतेयस्ततः संहर्षयञ्जनम् ।
 ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥ २२ ॥
 जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम् ।

किया करती थी। प्रथा और शङ्कर की सभा का सा राजा का दरबार लगा खूब जमाव होने लगा ॥१११५॥

अपना-अपना बल और कौशल दिखाने को बड़े-बड़े बली, महाकाय पहलवान और वीर चारों ओर से आने लगे। वे अनेकों बार इस उरसव के अवसर पर आकर मत्स्यराज को अपना बाहु-बल और उस्तादी दिखा चुके थे। उनमें सबसे अधिक बलवान् जीमूत नाम का पहलवान था। वह अखाड़े में खड़ा होकर बाहर से आये हुए, और राजा के यहाँ रहनेवाले, पहलवानों तथा वीरों को युद्ध के लिए बार-बार ललकारने लगा। किन्तु किसी को उससे युद्ध करने के लिए सामंन जाने का साहस नहीं हुआ। जम कोई पहलवान जीमूत

से युद्ध करने को तैयार न हुआ तब राजा विराट ने अपने रसोइये बल्लव (भीमसेन) को बुलाया। उन्होंने भीमसेन को उस पहलवान से युद्ध करने की आज्ञा दी। आज्ञा पाकर भीमसेन बड़े असमंजस में पड़े। वे सोचने लगे कि यदि नहीं युद्ध करता हूँ तो राजा अपसन्न होंगे, और जो युद्ध करता हूँ तो कहीं कोई मेरा बल देखकर मुझे पहचान न ले। [अन्त को भीमसेन ने युधिष्ठिर का इशारा पाकर युद्ध करना ही ठीक समझा।] ॥१६।२०॥

सिंह के समान रोबीले भीमसेन, विराट से आज्ञा लेकर, अखाड़े में आये। अब उन्होंने लँगोटा बांधा। उन्हें देखकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। तब महा-बली भीमसेन ने वृत्रामुर सहश महापराक्रमी जीमूत

बृहन्नलोवाच—बृहन्नलाऽपि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।

तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुद्धयसे ॥ २३ ॥

त्वया सहोपिता चाऽस्मि त्वं च सर्वैः सहोपिता ।

क्लिश्यंत्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिंतयेत् ॥ २४ ॥

न तु केनचिदत्यंतं कस्यचिद्बृहदयं क्वचित् ।

वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नाऽवबुद्धयसे ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।

प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ॥ २६ ॥

तामब्रवीद्राजपत्नी विराटवचनादिदम् ।

सैरंध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ॥ २७ ॥

राजा विभेति ते भद्रे गंधर्वेभ्यः पराभवात् ।

त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाऽप्रतिमा भुवि ।

पुंसामिष्टश्च विषयो गंधर्वाश्चाऽतिकोपनाः ॥ २८ ॥

सैरघुवाच—त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षम्यतु भामिनी ।

कृतकृत्या भविष्यंति गंधर्वास्ते न संशयः ॥ २९ ॥

ततो मामुपनेष्यंति करिष्यंति च ते प्रियम् ।

ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह वांधवैः ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्याय ॥ २४ ॥

साम्राज चेद कीचकवधपर्व ।

बहुत चाहता है । सैर-प्री ने कहा— हे बृहन्नला ! अब सैर-प्री का दु ख सुनकर तुम क्या करोगी ? तुम रनिवास में सुख से रहती हो। सैर-प्री कैसे कैसे दु ख भोग रही है, सो तुम क्या जानोगी ? हे कल्याणी ! जान पड़ता है कि तुम यह प्रश्न दिलीगी के लिए कर रही हो ! ॥२०१२२॥

बृहन्नला ने कहा—हे भद्रे ! नपुंसक योनि को पाकर बृहन्नला जिन क्लेशों को सह रही है उन्हें तुम नहीं जानतीं। तुम्हें दु ख सहते देखकर भला ! कैसे क्लेश न होगा ? हम सब एक ही जगह रहते हैं तो

भी कोई किसी के हृदय का हाल नहीं जानता— इस कारण, तुम भी मेरे जी के दु ख को नहीं जान सकतीं ॥२३१२५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब उन कन्याओं के साथ द्रौपदी राजभवन में पहुँचीं। वे जब सुदेष्णा के पास गईं तब, विशट के कहने के अनुसार, सुदेष्णा ने कहा—हे सैर-प्री ! तुम्हारा भला हो। तुम्हारा बहा जी चाहे बहा जाओ, क्योंकि गन्धर्वों द्वारा पराभव होने की आशङ्का से महाराज तुमसे बहुत भयभीत हो गये हैं। हे कल्याणी !

प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।
 आकर्षतुरथाऽन्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥ ३२ ॥
 ततःशब्देन महता भर्त्सयंतौ परस्परम् ।
 व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलाबुभौ ।
 बाहुभिः समसजेतामायसैः परिघैरिव ॥ ३३ ॥
 चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा ।
 निनदंतमभिक्रोशश्शार्दूल इव वारणम् ॥ ३४ ॥
 समुद्यम्य महाबाहुभ्रामयामास वीर्यवान् ।
 ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चकिरे परम् ॥ ३५ ॥
 भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम् ।
 प्रत्यपि पन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः ॥ ३६ ॥
 तस्मिन्विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते ।
 विराटः परमं हर्षमगच्छद्ब्राधवैः सह ॥ ३७ ॥
 प्रहर्षात्प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः ।
 वल्लवाय महारंगे यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ३८ ॥
 एवं स सुवहून्मल्लान्पुरुषांश्च महाबलान् ।
 विनिघ्नन्मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम् ॥ ३९ ॥
 यदाऽस्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित्तत्र विद्यते ।
 ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाऽप्ययोधयत् ॥ ४० ॥

फिर परस्पर शिद्धककर हुमककर लोहे के बेलन
 सरीसृह हाथ से हाथ मिलाकर भिड़ गये । तब शत्रु-
 नाशन महाबली भीमसेन ने, हाथी पर सिंह की भांति,
 झपटकर शत्रु पर आक्रमण किया । जोर से गरजकर
 उन्हें जीमूत को बठा लिया । वे उसे सिर के ऊपर
 घुमाने लगे । यह देखकर सब पहलवानों और नगर-
 निवासी दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ । महाबाहु
 भीमसेन ने सैंकड़ों बार घुमाकर उसे पृथ्वी पर पटक
 दिया । उसे पटककर वे ऊपर से रगड़ने लगे । इस

तरह बड़ा प्रसिद्ध पहलवान जीमूत जब भीमसेन के
 हाथ से मारा गया तब राजा विराट, उनके भाई बन्धु
 और दर्शक बहुत ही प्रसन्न हुए । राजा विराट ने
 प्रसन्न होकर भीमसेन को बहुत सा धन दिया ।
 महावीर भीमसेन ने इसी तरह धीरे-धीरे सब पहल-
 वानों और वीरों को दरा दिया । कुछ दिन में वे
 महाराज विराट के बहुत ही प्यारे हो गये । जब
 विराट ने देखा कि उनके राज्य में भीमसेन के समान
 वीर दूसरा नहीं है तब वे सिंह, बाघ और मस्त

अथ सप्तविंशोऽध्याय ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथाऽब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान् ।
 न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयाति पराभवम् ॥ १ ॥
 शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमंतो जितेंद्रियाः ।
 धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥ २ ॥
 नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम् ।
 धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ॥ ३ ॥
 अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप ।
 अजातशत्रुं श्रीमंतं सर्वभ्रातृननुव्रतम् ॥ ४ ॥
 तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम् ।
 किमर्थं नीतिमान्पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ॥ ५ ॥
 तस्माद्यत्नात्प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम् ।
 न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥ ६ ॥
 सांप्रतं चैव यत्कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम् ।
 क्रियतां साधु संचित्य वासश्रेयां प्रचित्यताम् ॥ ७ ॥
 यथावत्पांडुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम् ।
 दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ॥ ८ ॥
 शुद्धात्मा गुणवान्पार्थः सत्यवात्रीतिमाञ्शुचिः ।
 तेजोराशिगसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ॥ ९ ॥

सत्सर्वात्तवा अध्याय ॥ २७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् यथार्थ सूक्ष्म तत्त्व के जानेवाले, महापराक्रमी द्रोणाचार्य ने कहा—देखो, पाण्डव लोग शूर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्म पर निष्ठा रखनेवाले और कृतज्ञ हैं । इस कारण ऐसे वीर पाण्डवों का नाश या पराभव होना असम्भव है । वड़े पाण्डव युधिष्ठिर नीति, धर्म और अर्थ के तत्त्व को बहुत अच्छी जानते हैं, और भाइयों की उन पर विता के समान

भाक्ति है । वे भी अपने भाइयों को बहुत ही सेह की दृष्टि से देखते हैं । इस कारण यह सम्भव नहीं कि असाधारण नीतिज्ञ युधिष्ठिर अपने ऐसे आज्ञाकारी विनीत भाइयों की मलाई के लिए यत्न न करें ॥१५॥ अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि पाण्डवों का नाश कभी नहीं हुआ । वे केवल यत्न के साथ भाग्योदय के शुभ समय की राह देख रहे हैं । जितने समय तक उन्होंने बन में रहने

याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषती विशांपते ।
 आवसत्परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ॥ २ ॥
 तथा चरंती पांचाली सुदेष्णाया निवेशने ।
 तां देवीं तोपयामास तथा त्रांसतःपुरस्त्रियः ॥ ३ ॥
 तस्मिन्वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
 सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ॥ ४ ॥
 तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरंतीं देवतामिव ।
 कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ॥ ५ ॥
 स तु कामाद्रिसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
 प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

नेयं मया जातु पुरेह दृष्ट्वा राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
 रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं गंधेन जाता मदरेव भामिनी ॥ ७ ॥
 का देवरूपा हृदयंगमा शुभे ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने ।
 चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे न चाऽन्यदत्रौपधमस्ति मे मतम् ॥ ८ ॥
 अहो तवेयं परिवारिका शुभा प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम् ।
 अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते प्रशास्तु मां यच्च ममांऽस्ति किंचन ॥ ९ ॥

चौदहवां अध्याय ॥ १४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महा-
 रथी पाण्डवों ने इस तरह छिपे रहकर विराट राजा
 के यहाँ दस महीने व्यतीत किये; परन्तु द्रौपदी के
 दुःख की सीमा नहीं थी। क्योंकि वे स्वयं दासियों
 पर प्रभुता करने योग्य होकर भी विराट की रानी
 सुदेष्णा की सेवा कियी करती थी। अपने कार्य और
 अपने चाल-चलन से वे रानी को बहुत प्यारी थी।
 रनिवास की और स्त्रियां भी उन्हें स्नेह की दृष्टि से
 देखती थी ॥१३॥

एक दिन परम सुन्दरी द्रौपदी रनिवास में देवी
 के समान बैठी थी। इसी समय राजा विराट का
 सारा और सेनापति महाबली कीचक भीतर आया।

द्रौपदी का देखते ही वह कामदेव के वश हो गया।
 उनको पाने की इच्छा से अधीर और काम की अग्नि
 से तप्त कीचक अपनी बहन सुदेष्णा के पास पहुंचा।
 उसने मुसकराकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—हे
 बहन! यह परम रूप-लावण्यमयी स्त्री कौन है ?
 किस की स्त्री है ? कहाँ से आई है ? मैंने पहले कभी
 राजा विराट के रनिवास में इस त्रिभुवन-सुन्दरी को
 नहीं देखा। मदिरा जैसे अपनी महक से ही मन
 को मतवाला बना देती है वैसे ही यह मुझे अपने
 रूप से विह्वल कर रही है। यह मुझे अपने वश में
 किये लेती है और मेरे मन को मथे डारती है। इसे
 देखकर मैं कामदेव के बाणों से घायल हो गया हूँ।

वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
 समयं समयज्ञास्ते पालयंतः शुचिव्रताः ॥ ६ ॥
 क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा
 प्रवीरपुरुपास्ते वै महात्मानो महाबलाः ।
 नाऽवसीदितुमर्हति उद्वहंतः सतां धुरम् ॥ ७ ॥
 धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पांडवाः ।
 न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ॥ ८ ॥
 तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पांडवान्प्रति भारत ।
 न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेपितुं परैः ॥ ९ ॥
 यन्तु शक्यमिहाऽस्माभिस्ताम्रैर्वांचित्य पांडवान् ।
 बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात्प्रवक्ष्यामि निबोधतत् ॥ १० ॥
 न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन ।
 सा त्वियं साधुवक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन ॥ ११ ॥
 वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना ।
 अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता ॥ १२ ॥
 यथार्हमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया ।
 तत्र नाऽहं तथा मन्ये यथाऽयमितरो जनः ॥ १३ ॥

ताह नष्ट होनेवाले या हिंस्रत हारनेवाले नहीं हैं ।
 मुझे जान पड़ता है कि समय-पालन के जानकर
 पाण्डव अपने बाहुबल और धर्म के प्रभाव से अच्छी
 तरह रक्षित रहकर अज्ञातवास का समय व्यतीत कर रहे
 हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! मैं उनका पता लगाने के लिए
 जो उपाय बनाता हूँ उसे ध्यान देकर सुनो । सुनीति
 के जाननेवाले लोग जिन नीतियों से काम लेते हैं,
 वे बड़ी कठिन होती हैं । और लोग सहज में उनके
 प्रयोजन को नहीं समझ सकते । पाण्डवों के बारे में
 स्थिर बुद्धि से विचार करके जो मुझे युक्तिमयज्ञत जान
 पड़ रहा है, वही कहता हूँ । तुम्हारा अनिष्ट या

युधिष्ठिर की मलाई की चाह मेरे इस क्रयन का कारण
 नहीं है ॥ १।१० ॥

भले लोगों को ही नीति का उपदेश देना चाहिए;
 अपात्र को ठमका उपदेश मैं नहीं दे सकता—फिर
 अनीति की सम्मति तो किसी को न दे । बड़े-बूढ़ों
 के अनुशासन का विचार रखनेवाले, सत्यपरायण,
 धर्मात्मा लोग सभा में बैठकर ठीक बात ही कहते
 हैं । यही उनका कर्तव्य और धर्म होता है । तुम्हारे
 अन्याय्य समासद युधिष्ठिर के इस वर्ष अज्ञात होकर
 रहने का जिस प्रकार अनुमान प्रकट करते हैं, उसे
 मैं नहीं मानता । हे माई दुर्योधन ! युधिष्ठिर जिस नगर

द्रौपद्युवाच—अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राऽभिमन्यसे ।
 निहीनवर्णां सैरंध्रीं वीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ३४ ॥
 परदाराऽस्मि भद्रं ते न युक्तं तव सांप्रतम् ।
 दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिंतय ॥ ३५ ॥
 परदारं न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन ।
 विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥ ३६ ॥
 मिथ्याभिगृध्रो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः ।
 अयशः प्राप्नुयाद्धोरं महद्वा प्राप्नुयाद्भयम् ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु सैरंध्र्या कीचकः काममोहितः ।
 जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने ॥ ३८ ॥
 दोषान्वहून्प्राणहरान्सर्वलोकविगर्हितान् ।
 प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेंद्रियः ॥ ३९ ॥
 नाऽर्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने ।
 मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि ॥ ४० ॥
 प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम् ।
 नूनं त्वमसितापांगि पश्चात्तापं करिष्यसि ॥ ४१ ॥
 अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्याऽस्य सुमध्यमे ।
 प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाऽप्रतिमः क्षितौ ॥ ४२ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे सूतपुत्र ! मैं हीन वंश में उत्पन्न चोटी गूँघने का काम करनेवाली दासी सैरंध्री हूँ । मुझको लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उनका यह भाव ही ठीक है । इसलिए मुझसे ऐसी बातें करना और मुझे इस दृष्टि से देखना कभी तुम्हारे योग्य कार्य नहीं । फिर मैं तो पराई स्त्री हूँ । मैं स्वभाव से ही दया के योग्य हूँ । तुम धर्मात्मा हो; धर्म का पालन करो । पराई स्त्री से अपने को प्रसन्न करने की इच्छा मत करो । कुकर्म का त्याग

ही सज्जनों को नित्य-व्रत है । पापी लोग, लोभ और मोह के वश में होकर, घोर अयश के भागी होते हैं । उन्हें दारुण भय प्राप्त होता है ॥३४।३७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! दुष्ट बुद्धिवाला कीचक यह जानता था कि पराई स्त्री को प्राप्त करने की चेष्टा बुरी होती है । उसमें प्राण तक चले जाते हैं । वह सब दोषों की खान है । किन्तु वह काम के वश हो रहा था । इसलिए द्रौपदी के यों कहने का उस पर कुछ भी असर न हुआ ॥३८।४१॥

तस्मात्सत्रं प्रविष्टेषु पांडवेषु महात्मसु ।
 गूढभावेषु च्छत्रेषु काले चोदयमागते ॥ ५ ॥
 स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः ।
 उदयः पांडवानां च प्राप्ते काले न संशयः ॥ ६ ॥
 निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महाबलाः ।
 महोत्साहा भविष्यन्ति पांडवा ह्यमितौजसः ॥ ७ ॥
 तस्माद्बलं च कोशश्च नीतिश्चापि विधीयताम् ।
 यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक्तैः संदधीमहे ॥ ८ ॥
 तात बुद्ध्याऽपि तत्सर्वं बुद्ध्यस्व बलमात्मनः ।
 नियतं सर्वमित्रेषु बलवस्त्वबलेषु च ॥ ९ ॥
 उच्चावचं बलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
 प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः ॥ १० ॥
 साम्ना भेदेन दानेन दंडेन बलिकर्मणा ।
 न्यायेनाऽऽक्रम्य च परान्बलाच्चाऽऽनम्य दुर्बलान् ॥ ११ ॥
 सांत्वयित्वा तु मित्राणि बलं चाऽऽभाष्यतां सुखम् ।
 सुकोशबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥

या साधारण नहीं समझते । महात्मा पाण्डव अवश्य
 ही कहीं छिपे हुए अज्ञातवास का समय व्यतीत कर
 रहे हैं ॥१।५॥

किन्तु अब उनके प्रकट होने का समय समीप
 आ गया है । महात्मा, महाबली, परमतेजस्वी पांडव
 प्रतिज्ञा की अवधि पूरी होते ही बड़े उत्साह के साथ
 आकर उपस्थित होंगे । उस समय, यदि आवश्यक
 हो तो, ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें उनके साथ
 सहज ही समझौता किया जा सके । पहले से ही
 कोप और बल (सेना) को बढ़ाकर नीति का मार्ग
 ग्रहण करना अच्छा होगा । हे भाई दुर्योधन ! मुझे
 तो यही ठीक जान पड़ता है कि तुम पहले अपने

और अपने मित्रों के बल को जानने का यत्न करो ।
 पहले यह ज्ञात करो कि उत्तम, मध्यम और निकृष्ट,
 सब प्रकार की सेना तुम्हारे अधीन और अनुकूल है
 या नहीं । इसके पश्चात् शत्रुओं से मेल करना या
 युद्ध ठानना, जो उचित समझो सो करो ॥६।१०॥
 साम (समझाना), दान (धन आदि देना),
 भेद (फोड़ना) और दण्ड के द्वारा, 'कर' लेकर,
 उचित रूप से आक्रमण (चढ़ाई) करके शत्रुओं को,
 हेलभल और आश्वास के द्वारा मित्रों को और सादर
 भाषण तथा पुरस्कार (इनाम) आदि के द्वारा सब
 सेना को अपनी मुझे में करना तुम्हारा पट्टा और
 प्रधान कर्तव्य है । इम प्रकार अपना कोप और बल

तथाऽपि तेषां न विमोक्षमर्हसि प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ॥ ५० ॥

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक ।

किं मातुरंके शयितो यथा शिशुश्चंद्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम् ॥ ५१ ॥

तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि गत्वा दिवं वा दारणं भविष्यति ।

न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं या तेन संजीवनमर्थयेत सा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

वे सदा अदृश्यरूप से मेरी रक्षा किया करते हैं । तुम मुझे नहीं पा सकते । मेरे पति गन्धर्व कुपित होकर तुमको मार डालेंगे । आप ही अपना नाश मत करां, कहे देती हूं । तुम उस राह में जाना चाहते हो जिसमें कोई पुरुष नहीं जा सकता । जैसे कोई मूर्ख छोटा बालक नदी को तैरकर पार होना चाहे वैसा ही तुम्हारा यह दुष्ट विचार है ॥४६।४९॥

देखो, ऐसा दुष्ट विचार करके यदि तुम पाताल में, अन्तरिक्ष में, या समुद्र-पार में भी भागकर जाओगे तो उन बदला लेने में समर्थ, आकाशचारी गन्धर्वों

के हाथ से किसी तरह नहीं बचोगे । जैसे कोई रोग-पीड़ित पुरुष अपनी मृत्यु चाहता हो वैसे ही तुम मुझे चाह रहे हो । जैसे मा की गोद में पड़ा हुआ बालक आकाश के चन्द्रमा को पकड़ना चाहे वैसे ही तुम मुझे पाने की वृथा इच्छा कर रहे हो । यदि उन गन्धर्वों की प्रिया मुझको प्राप्त करना चाहोगे तो किसी तरह जीते न बचोगे । याद रखो, इस ख्याल को छोड़ देने में ही तुम्हारी आयु है । न मानोगे तो मरोगे ॥५०।५२॥

—०—

विराटपर्व का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत् ।

अमर्यादेन कामेन घोरेणाऽभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥

यथा कैकेयि सैरंध्री समेयात्तद्विधीयताम् ।

येनोपायेन सैरंध्री भजेन्मां गजगामिनी ।

तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान्मोहात्प्रहासिवम् ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।

पन्द्रहवा अध्याय ॥ १५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । द्रौपदी के स्वीकार न करने पर कामदेव के वाणों से पीड़ित और मोह को प्राप्त कीचक अपनी बहन सुदेष्णा रानीके पास

जाकर कहने लगा—हे बहन ! कोई ऐसा उपाय करो जिससे यह गजराजगामिनी सैरंध्री शीघ्र मुझे मिले । यदि ऐसा न होगा तो मैं अपने प्राण दे दूंगा ॥१।२॥

गवां शतसहस्राणि श्रीमंति गुणवंति च ।
 वयमप्यनुगृहीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ॥ २४ ॥
 ते स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते ।
 सन्नद्धा रथिनःसर्वे सपदाता चलोत्कटाः ॥ २५ ॥
 प्रतिवैरं चिकीर्षतो गोपु गृह्णा महावलाः ।
 आदातुं गाः सुशर्माऽथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २६ ॥
 अपरे दिवसे सर्वे राजन्संभूय कौरवाः ।
 अपृष्ट्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ॥ २७ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोदृणपर्वणि दक्षिणगोप्रहे सुशर्मादिमत्स्यदेशयानि त्रिगोऽध्यायः ॥३०॥

बड़े-बूढ़ों से सम्मति करके युद्ध के लिए सेना को तैयार करो। महारथी सुशर्मा अपनी मेना, मवारी और त्रिगर्त देश के वीरों को साथ लेकर पहले विराट राज्य में पहुंचें। वहां गोपानों से बढ़िया गाँवें छान लें और धन-रत्न आदि छंटें। हम और किमी दिन, सज्जित रूप में, विराट नगरी पर आक्रमण करने के लिए कूच करेंगे ॥१९१२४॥

प्रकार निश्चय हो चुकने पर, कृष्णपक्ष की सप्तमी के दिन, आग्नेय (पूर्व-दक्षिण) कोण की ओर यात्रा करके महारथी सुशर्मा विराट के राज्य में घुमा। वहां जाकर उमनं गाँवें छानकर अपने अधिकार में कर लें। दूसरे दिन अष्टमी को कौरवों ने भी अपनी सेना साथ लेकर यात्रा की। वहा पहुंचकर वे भी गाँवों को लूटने लगे ॥२५१२७॥

—०—

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! हम

विराटपर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

अथ एकत्रिगोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तेषां महाराज तत्रैवाऽमिततेजसाम् ।
 उद्बल्लिंगप्रविष्टानां पांडवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥
 व्यतीतः समयः सम्यग्वसतां वै पुगेनमे ।
 कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ।
 कचिके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
 परां संभावनां चक्रे कुंतीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३ ॥

इकतीसवां अध्याय ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इधर विराट के यहाँ, उनके कार्य करने हुए, अज्ञातनाम परम तेजस्वी होने पर भी छिपे हुए पाण्डवों ने राजा का समय मकुशान्त समाप्त कर दिया। जब कचिक

न चाऽहमनवद्यांगि तत्र वेदमनि भामिनि ।
 कामवृत्ता भविष्यामि पर्तानां व्यभिचारिणी ॥ १२ ॥
 त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः ।
 प्रविशंत्या मया पूर्वं तत्र वेश्मनि भामिनि ॥ १३ ॥
 कीचकस्तु सुकेशांते मूढो मदनदर्पितः ।
 सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥ १४ ॥
 संति बह्वयस्तत्र प्रेष्या राजपुत्री वशानुगाः ।
 अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ॥ १५ ॥

सुदेष्णोवाच—नैव त्वां जातु हिंस्यात्स इतः संप्रेषितां मया ।

इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधान हिरण्मयम् ॥ १६ ॥

सा शंकमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी ।

प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ॥ १७ ॥

सैरंभुवाच—यथाऽहमन्यं भर्तृभ्यो नाऽभिजानामि कंचन ।

तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात्कीचको वशे ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमवला ततः ।

स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे रानीजी ! कीचक बड़ा निलेज्ज है । इस कारण मैं उसके घर न जा सकूंगी । मैं पतिव्रता की इच्छा के विरुद्ध कार्य करनेवाली या अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करनेवाली होकर आपके यहाँ न रह सकूंगी । आपके घर में रहने से पहले मैंने जो नियम आपसे स्वीकार कराये थे, उन्हें आप भूली न होंगी । कामदेव के वश मदान्ध कीचक मुझे देखते ही मेरा सतीत्व नष्ट करने को बघत हो जायगा । इस कारण मैं किसी तरह उसके पास नहीं जा सकती । हे रानीजी ! आपके यहाँ बहुत सी दासियाँ हैं, उनमें से किसी और को भेज दीजिए ॥ १११५॥

सुदेष्णा ने कहा—हे सैरन्धी ! मैं तुम्हीं को

भेजूंगी । कीचक कभी तुम्हारा अपमान न करेगा । तुम वृथा शक्का करती हो । अब रानी ने सुवर्ण का चर्तन द्रौपदी के हाथ में दे दिया । लाचार द्रौपदी को स्वीकार करना पड़ा । परमेश्वर को और धर्म को अपना सहायक समझकर, आँखों में आसू भरे, भय से बिह्वल द्रौपदी कीचक के घर की ओर चली । जाते समय पल भर में सूर्य की आराधना करके द्रौपदी ने कहा—पतिव्रता के भिवा मूलकर भी पल भर के लिए भी मैंने और किसी पुरुष को अपने हृदय में कभी स्थान नहीं दिया । मेरे इसी सतीत्व के प्रभाव से कीचक मेरे धर्म को नष्ट न कर सके ॥ १६१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सबके

क्षरंतश्चैव नागेन्द्राः सुदंताः पट्टिहायनाः ॥ ३१ ॥
 स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः ।
 राजानमन्वयुः पश्चाच्चलंत इव पर्वताः ॥ ३२ ॥
 विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम् ।
 अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च ॥ ३३ ॥
 पट्टिश्चाऽश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिर्निर्ययुः ।
 तदनीकं विराटस्य शुश्रुभे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
 संप्रयातं तदा राजन्निरीक्षतं गवां पदम् ।
 तद्वृत्तान्त्वं विराटस्य संप्रस्थितमशोभत ।
 दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोप्त्रे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१

राजा की सेना के साथ चले । आठ हजार रथ, साठ हजार घोड़े साथ लेकर मत्स्यदेश के प्रधान वीर, और राजा विराट के माई-बेटे, संग्राम के लिए चले । ये सब अच्छी जीविकावाले, चतुर और सुशिक्षा थे । दे राजा जनमेजय ! गायों की रक्षा करने के लिए ।

विराटपर्व का इकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
 त्रिगर्तानस्पृशन्मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥ १ ॥
 ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः ।
 अन्योन्यमभिगर्जतो गोपु वृद्धा महाबलाः ॥ २ ॥
 भीमाश्च मत्तमातंगास्तोमरांकुशानोदिताः ।
 ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः ॥ ३ ॥

बलीसत्वां अध्याय ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! महा-बली मत्स्यदेश के सिपाहियों ने नगर से बाहर निकल-

कर शत्रुओं का पीछा किया । वे चौथे पहर शत्रुओं के पास पहुंच गये । वहां व्यूहबना करके टट्टाने,

कीचक उवाच—अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम् ।

इत्येनां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत् ॥ ५ ॥

द्रौपद्युवान्—यथैवाऽहं नाऽभिचरे कदाचित्पतीन्मदाद्वै मनसाऽपि जालु ।

तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयन्तीम् ।

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपन्तीम् ॥ ७ ॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।

तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ ८ ॥

सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम् ।

सभां शरणमागच्छद्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत् ।

अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाऽवधीत् ॥ १० ॥

तस्य योऽसौ तदाऽर्केण राक्षसः संनियोजितः ।

स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत ॥ ११ ॥

द्रौपदी ने कहा—रानी सुदेष्णा ने मुझे मदिरा लाने के लिए तुम्हारे पास भेजा है । उन्होंने मुझसे कहा है 'मैं बहुत ही प्यासी हो रही हूँ । तुम शीघ्र जाकर पीने योग्य उत्तम मदिरा ले आओ ।' [इसी लिए मैं आई हूँ । मुझे शीघ्र मदिरा दो, मैं आजूँ ।] कीचक ने कहा—'हे सुन्दरी ! रानी के लिए मदिरा दूसरी दासिया ले जायगी । [तुम कहा जाओगी ? तुम तो मेरे लिए आई हो !]' यों कहकर दुष्ट कीचक ने द्रौपदी का दाहना हाथ पकड़ लिया । तब द्रौपदी ने क्रोध से उसका हाथ झटककर कहा—'रे दुष्ट ! मैं कभी अपने पतियों के सिवा पर पुरुष का स्मरण नहीं करती, अपने स्वामियों के प्रतिकूल मार्ग में पाव नहीं रखती । देख, आज उसी पुण्य के बल से तेरी दुर्गति होगी ॥४।६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र ! इस पर भी दुष्ट कीचक

ने अपना बुरा विचार नहीं छोड़ा । उसने बलपूर्वक लपककर द्रौपदी के वस्त्रका कोना पकड़ लिया । इससे क्रोध के मारे द्रौपदी का शरीर कापने लगा । वे शीघ्र शीघ्र लम्बी और गरम साँसें छोड़ने लगी । झटका देकर द्रौपदी ने उसे (उसी राक्षस की सहायता से) पृथ्वी पर गिरा दिया । कीचक महाबली होने पर भी कटे हुए पेड़ की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा । इसके पश्चात् आश्रय की इच्छा से कापती हुई द्रौपदी राजसभा को भागी, जहा राजा युधिष्ठिर बैठे हुए थे । कीचक भी उठकर उनके पीछे पीछे दौड़ता हुआ राजसभा में पहुँचा । वहा जाकर उसने, राजा विराट के सामने ही, झोंटा पकड़कर द्रौपदी को धरती पर गिरा दिया और लात मारी । इसी समय सूर्य के भेजे हुए राक्षस ने अलक्षित रूप से कीचक को दूर फेंक दिया ॥७।१०॥

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः ।

नाऽभ्यजानत्तदाऽन्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम् ॥ ३० ॥

रवि श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोप्रदे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

प्रकार सब दृषियाँ से लैस दोनों राजाओं ने ऐसा । से बढ़ी हुई घूल चारों दिशाओं में छा गई । कौन मयद्वर युद्ध किया कि दोनों ओर के वीरों के दौड़ने । कहां पर है, यह कोई नहीं जान सकता था ॥२१३०॥

विराटपर्व का वत्तीमर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

अथ त्रयत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच — तमसाऽभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत ।

अतिष्ठन्वै मुहूर्त्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ १ ॥

ततोऽधकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चंद्रमाः ।

कुर्वाणो विमलां रात्रिं नंदयन्क्षत्रियान्युधि ॥ २ ॥

ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत ।

घोररूपं ततस्ते स्म नाऽवैक्षंत परस्परम् ॥ ३ ॥

ततः सुशर्मा त्रैर्गर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा ।

अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथत्रातेन सर्वशः ॥ ४ ॥

ततो रथाभ्यां प्रस्कंध्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ ।

गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान् ॥ ५ ॥

तथैव तेषां तु बलानि तानि क्रुद्धान्यथाऽन्योन्यमभिद्रवन्ति ।

गदासिखङ्गैश्च परश्वधैश्च प्रांसैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधरोः ॥ ६ ॥

तृतीमर्वा अध्याय ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार अत्यन्त घूल और गहरा अंधेरा पृथ्वी पर छा गया । सैनिकों ने उस अंधेरे से व्याकुल होकर योद्धा देर के लिए युद्ध बन्द कर दिया । कुछ देर के पश्चात् सब अंधेरे को दृष्टाकर चन्द्रदेव प्रकट हुए । उजैन्या हो जाने से क्षत्रिय लोग फिर योग संग्राम करने लगे । किन्तु घूल फिर ठीकी । उसमें पहले से दुगना अंधेरा छा गया । उस अन्धेरे में कोई किमी का देस नहीं

मकना था ॥१३॥

अपने छोटे भाई सुशर्मा के साथ त्रिगर्तनेरु सुगर्मा ने, रथियों की मेना लेकर, राजा विराट पर आक्रमण किया । विराट पर आक्रमण करने के लिये शीघ्र रथ में उतरकर, गदा हाथ में लेकर, दोनों भाई शत्रुपक्ष के रथों को चूर्ण करने लगे । इस दोनों पक्षों के भी भी पैनी तलवारों, पारशु, माया आदि बहुत से शस्त्र लेकर एक दूसरे पर आक्रमण करने लगे ॥१६॥

सा स भाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत् ।
 अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान्दीनचेतसः ॥ २० ॥
 आकारमभिरक्षंती प्रतिज्ञार्धर्मसंहिता ।
 दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ॥ २१ ॥
 द्रौपद्युवाच—येषां वैरी न स्वपिति पथेऽपि विषये वसन् ।
 तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २२ ॥
 ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
 तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २३ ॥
 येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोपः श्रूयतेऽनिशम् ।
 तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २४ ॥
 ये च तेजस्विनो दांता बलवन्तोऽतिमानिनः ।
 तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २५ ॥
 सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशासितास्तु ये ।
 तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २६ ॥
 शरणं ये प्रपन्नानां भवन्ति शरणार्थिनाम् ।
 चरन्ति लोके प्रच्छन्नाः क नु तेऽद्य महारथाः ॥ २७ ॥

को छिपाकर, कुटिल कोपपूर्ण कटाक्ष से मानों दसों दिशाओं को जला देंगी, इस तरह सब ओर देखती हुई द्रौपदी ने विराट से कहा—॥१८१॥

हे महाराज ! मैं उन महापुरुषों की स्त्री हूँ जिनके वैरी पृथ्वी पर सुख की नींद नहीं सो सकते; वे महापुरुष सत्यवादी, ब्राह्मण-भक्त, सदा दान और ध्यान में लगे रहते हैं; वे कभी किसी से कुछ नहीं मागते और उनके युद्ध के नगाड़े की ध्वनि तथा उनके धनुष की टक्कार सदा सुन पड़ती है। हे महाराज ! मैं उन महापुरुषों की स्त्री हूँ जो बड़े तेजस्वी और पराक्रमी हैं; वे लोग अभिमानी होने पर भी शान्तशील हैं; यदि धर्म-पाश का बन्धन न हो तो वे तीनों लोकों

का नाश कर सकते हैं तथा शरणागत की रक्षा और दीन की महायत्ना करने में वे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। दुष्ट कीचक ने लात मारकर मुझे मानिनी का अपमान किया। हाय ! इस समय वे छिपे हुए महारथी कहा हैं ? दुष्ट कीचक ने मुझे लात मारी, और महाबली तेजस्वी होकर भी उन्होंने नामर्द की तरह चुपचाप सहज ही सब सह लिया। वे किसी तरह मेरी रक्षा करने के लिए तैयार नहीं हुए ! उनका वह तेज, बल और क्रोध कहा चला गया ? कीचक ने बिना किसी अपराध के मुझे लात मारी, और विराट देश के राजा आप चुपचाप देखते रहे, अपना राज-धर्म आने नष्ट होने दिया। [मैं अकेली असहाय अवला

सुस्कंधोऽयं महारुक्षो गदारूप इव स्थितः ।

अहमेनमपारुज्य द्राघयिष्यामि शात्रवान् ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तं मत्तमिव मातंगं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।

अव्रवीद्धातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

मा भीम साहसं कार्षींस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः ।

मा त्वं वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुपम् ॥ १८ ॥

जनाः समवबुध्येरन्भीमोऽयमिति भारत ।

अन्यदेवाऽऽयुधं किञ्चित्प्रतिपद्यस्व मानुपम् ॥ १९ ॥

चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम् ।

यदेव मानुपं भीम भवेदन्यैरलक्षितम् ॥ २० ॥

तदेवाऽऽयुधमादाय मोक्षयाऽऽशु महीपतिम् ।

यस्यै च चक्रक्षौ ते भवितारौ महाबलौ ॥ २१ ॥

सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत ।

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः ॥ २२ ॥

गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः ।

व्यमुञ्चच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः ॥ २३ ॥

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाऽद्रवत् ।

विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चाऽवदत् ॥ २४ ॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! मैं आपकी आज्ञा से अभी विराट को धनु के हाथ में छुड़ा दूँगा। आप भाइयों के साथ खड़े-खड़े देखिए। मैं इस बड़ी बड़ी डालोंवाले गदा-सदृश वृक्ष को उखाड़कर उसी के द्वारा शत्रुओं का नाश करूँगा ॥१४१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! मत्त हाथी के समान महाप्राकृषी भीमसेन को उस वृक्ष की ओर ताकते देखकर युधिष्ठिर ने कहा—हे भीम ! तुम ऐसा साहस मत करो। यदि वृक्ष उखाड़कर, मनुष्य की शक्ति के बाहर कार्य करके, युद्ध करोगे

तो अभी सब लोग जान जायेंगे कि तुम भीम हो। इसलिए अभी वृक्ष न उखाड़कर धनुष, शक्ति, तल्वर, फरसा आदि मनुष्यों के युद्ध करने के शस्त्रों से ही युद्ध करो। इस प्रकार अलक्षित रूप से युद्ध करके महाराज विराट को छुड़ाओ जिसमें कोई तुमको पहचान न सके। महाबली नकुल और सहदेव आप-पास रहकर तुम्हारे रथ की रक्षा करेंगे ॥१७१२१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब महाबली भीमसेन [युधिष्ठिर की आज्ञा से] धनुष लेकर बादलों की तरह लगातार बाण-वर्षा करते हुए

सभ्या ऊचु—यस्येयं चारुसर्वांगी भार्या स्यादायतेक्षणा ।
 परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत्कथंचन ॥ ३७ ॥
 नहीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी ।
 नारी सर्वानवद्यांगी देवीं मन्यामहे वयम् ॥ ३८ ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवं संपूजयंतस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः ।
 युधिष्ठिरस्य कोपान्तु ललाटे स्वेद आगमत् ॥ ३९ ॥
 अथाऽववीद्राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
 गच्छ सैरंध्रि माऽत्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम् ॥ ४० ॥
 भर्तारमनुरुंधत्यः क्लिश्यंते वीरपत्नयः ।
 शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयंत्युत ॥ ४१ ॥
 मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यंति पतयस्तव ।
 तेन त्वां नाभिधावंति गंधर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ ४२ ॥
 अका लज्ञाऽसि सैरंध्रि शौलूषीव विरोदिषि ।
 विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ॥ ४३ ॥
 गच्छ सैरंध्रि गंधर्वाः करिष्यंति तव प्रियम् ।
 व्यपनेष्यंति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४४ ॥

स्त्री ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी और सुलक्षणों से युक्त है कि देवकन्या सी जान पड़ती है । मनुष्यलोक में ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी श्रेष्ठ स्त्री दूसरी नहीं है । अधिक क्या कहें, यह रूपवती जिस भाग्यशाली पुरुष की स्त्री है उसे और क्या चाहिए; उसके लिए शोक का विषय कुछ नहीं है ॥३६।३८॥

वैशम्पायन ने कहा—महाराज ! सभासद इस तरह अनेक प्रकार से द्रौपदी की प्रशंसा करने लगे । क्रोध और खेद के मोर युधिष्ठिर के माथे में पसीने की बूंदें निकल आईं । उन्होंने अपनी प्यारी स्त्री द्रौपदी से कहा—हे सैरन्ध्री ! तुम रनिवास में रानी सुदेष्णा के पास जाओ । [यहां ठहरने की आव-

श्यकता नहीं ।] वीरपत्नियों अपने पतियों का मुंह देखकर उनके लिए असह्य क्लेश भी सह लेती हैं । वे अनेक कष्ट झेलकर स्वामियों की सेवा और मलाई करती हैं और निःसन्देह अन्त में पतिलोक पाती हैं । जान पड़ता है, सूर्य के समान प्रतापी और तेजस्वी तुम्हारे स्वामी गन्धर्व यह समझकर ही चुप हैं कि क्रोध प्रकट करने का समय अभी नहीं आया । इसी से वे [तुम्हारी सहायता करने को] तैयार नहीं होते । हे सैरन्ध्री ! तुम्हें समय का ज्ञान नहीं है । इसी कारण तुम नटी की तरह रो-पीटकर सभासदों के चोसर के खेल में विघ्न डाल रही हो । जाओ, समय उपस्थित होने पर तुम्हारे स्वामी गन्धर्व इस

स्ववाहुवलसम्पन्ना ह्रीनिपेवा यतत्रताः ।
 विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ॥ ५२ ॥
 स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ॥ ५३ ॥
 नाऽयं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
 किं तु शक्यं मया कर्तुं यद्वाजा सततं वृणी ॥ ५४ ॥
 गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
 तत एनं विचेष्टतं वद्वा पार्थो वृकोदरः ॥ ५५ ॥
 रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्डितम् ।
 अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद्गुधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥
 दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।
 प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ॥ ५७ ॥
 तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
 एवमुक्तोऽब्रवीद्भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥ ५८ ॥
 भीम उवाच—जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
 दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ॥ ५९ ॥
 एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
 तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ॥ ६० ॥

हो गया। यह देखकर त्रिगर्तदेश के सैनिक पाण
 लेकर इधर-उधर भागने लगे। इस प्रकार अपने बाहु-
 बल से त्रिगर्त राज सुशर्मा को पारान्त कर, विराट को
 छुड़ाकर, और छिनी हुई गाँयें फेरकर व्रतधारी महा-
 रथी पाण्डव एक स्थान पर एकत्र हुए। भीमसेन ने
 कहा—मैं इस पारी दुराचारी सुशर्मा को जीता
 छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु राजा विराट बड़े दयालु
 हैं। इसलिए मैं क्या कर सकता हूँ ॥५०॥५१॥

फिर भीमसेन ने अचेन पड़े हुए धूमि-धूमित
 सुशर्मा को, गर्दन पकड़कर, ग्य में रख लिया।
 दिसाने के लिए युधिष्ठिर के पास ले जाने का विचार

करके भीमसेन बड़मि चल दिये। युधिष्ठिर के पास जाकर
 भीमसेन ने उन्हें सुशर्मा की दशा दिखाई। पुरुषार्थ
 महाराज युधिष्ठिर ने त्रिगर्त राज सुशर्मा की यह दशा
 देख हैमकर भीमसेन से कहा—हे वीर ! तुम इस
 नीच को छोड़ दो ॥५५॥५७॥

तब भीमसेन ने सुशर्मा से कहा—ये मूढ ! यदि तू
 अपना जीवन चाहता है तो मेरी बात सुन। आज समा
 के बीच तुझे यह स्वीकार करना होगा कि तू महाराज
 विराट का दास है। तभी मैं तुझे छोड़ूँगा। यही सना-
 तन नियम है कि युद्ध में हार हुए मनुष्य को विजयी
 का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है ॥५८॥५९॥

अथ सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा हता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी ।
 वधं कृष्णा परीप्संती सेनावाहस्य भामिनी ॥ १ ॥
 जगामाऽऽवासमेवाऽथ सा तदा द्रुपदात्मजा ।
 कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा ॥ २ ॥
 गात्राणि वाससी चैव प्रक्ष्याल्य सलिलेन सा ।
 चिंतयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम् ॥ ३ ॥
 किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम ।
 इत्येवं चिंतयित्वा सा भमिं वै मनसाऽगमत् ॥ ४ ॥
 नाऽन्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाऽद्य मनसाः प्रियम् ।
 तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् ॥ ५ ॥
 प्राद्रवन्नाथमिच्छंती कृष्णा नाथवती सती ।
 भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना ॥ ६ ॥
 दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनास्विनी ।
 सैरध्वुवाच—तास्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विपि ॥ ७ ॥
 तत्कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निपेवसे ।
 वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वाऽथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी ॥ ८ ॥
 यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्रसन् ।

सप्तदश अध्याय ॥ १७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजन ! इस तरह अपमानित होकर यशस्विनी द्रौपदी, कीचक के मरने की इच्छा करती हुई, अपने रहने के घर में आई । हाथ और वस्त्र धोकर विधिपूर्वक शुद्ध होने के उपरान्त द्रौपदी बैठकर इस दुःख के दूर करने का उपाय सोचने लगी । उस समय भी उनकी आलों में आसू भरे हुए थे । वे सोचने लगी—क्या करूँ ? कहा जाऊँ ? किस उपाय से मेरा यह कार्य हो सकता है ? कुछ देर तक सोचने के पश्चात् द्रौपदी ने निश्चय

किया कि महाबाहु भीमसेन के सिवा और कोई इस समय मेरे जी के कार्टे को न निकाल सकेगा, इसलिए उन्हीं की शरण में जाऊँ ॥१५॥

विशाल नेत्रोंवाली यशस्विनी भामिनी द्रौपदी, सनाथ होने पर भी अनाथ की तरह शरण चाहती हुई, आधी रात्रि के समय बिछौने से उठ खड़ी हुई । [उनका हृदय क्रोध और क्षोभ से व्याकुल हो रहा था, इसी से उन्हें नींद नहीं आई ।] वे भीमसेन के रहने के घर में पहुँची । घर के भीतर घुसकर

दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवाऽन्ये महारथाः	॥ ३ ॥
एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः	।
घोपान्विद्रान्य तरसा गोधनं जन्हुरोजसा	॥ ४ ॥
पष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयंति च	।
महता रथवंशेन परिवार्य समंततः	॥ ५ ॥
गोपालानां तु घोपस्य हन्यतां तैर्महारथैः	।
आरावः सुमहानासीत्संप्रहारे भयंकरे	॥ ६ ॥
गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः	।
जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्त्तवत्	॥ ७ ॥
स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेशमाऽभ्ययात्ततः	।
अवतीर्य रथात्तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह	॥ ८ ॥
दृष्ट्वा भूमिजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम्	।
तस्मै तत्सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम्	॥ ९ ॥
पष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयंति ते	।
तद्विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन	॥ १० ॥
राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम्	।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाऽकरोत् ॥ ११ ॥	॥ ११ ॥
त्वया परिपदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः	।
पुत्रो ममाऽनुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्बहः	॥ १२ ॥

शकुनि, दुःशासन, विविदाति, विकर्ण, चित्रसेन, दुर्मुख, दुस्सह और अन्य महारथी कौरव मत्स्यराज्य पर चढ़ आये। उनके रथों से वह नगर चारों ओर घिर गया ॥१३॥

वन्होंने गोपालों को मारकर भगा दिया और साठ हजार गाये छीन लीं। उस भयङ्कर आक्रमण में महारथियों की मार से पीड़ित और व्याकुल गाँवों और गोपालों के आर्चनार्थ से चारों दिशाएँ पूर्ण हो उठीं। तब अत्यन्त मयमीत हुआ-हुआ गोपालों का

मुलिया, रथ पर चढ़कर, आर्चनार्थ करता हुआ नगर की ओर भागा ॥१३॥

फिर नगर में प्रवेश करके, रथ से उतरकर, सूचना देने के लिए वह राजमदन में पहुँचा। वहाँ वीर होने का दम भरनेवाला, राजा विराट का पुत्र, उतर उसे देख पड़ा। उसने उतर कुमार से कहा— हे राजकुमार! कौरव लोग आपकी साठ हजार गाँवों हरे लिये जाते हैं। उन गाँवों को वनसे छीन लाने के लिए अभी चाहिए। राजकुमार, अपने हित के

न ते प्रकृतिमान्वर्णः कृशा पांडुश्च लक्ष्यसे ।
 आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥ १८ ॥
 सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
 यथावत्सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत्क्षमम् ॥ १९ ॥
 अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु ।
 अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥ २० ॥
 शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत्ते कार्यं विवक्षितम् ।
 गच्छ वै शयनायैव पुरा नाऽन्येन बुध्यते ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसवादे सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

द्रौपदी के वचन सुनकर भीमसेन जाग उठे ।
 सुन्दर सजे हुए पलंग पर बैठकर उन्होंने द्रौपदी से
 कहा—हे प्रिये ! तुम क्यों इस तरह शीघ्रता करके
 विहाल सी मेरे पास आई हो ? तुम ऐसी व्याकुल
 क्यों हो ? तुम्हारा चेहरा क्यों मलिन पड़ गया है ?
 कहो, क्या बात है ? किसने तुम्हारा अभिय किया
 है ? तुम्हें क्या दुःख है ? मैं सुनकर उसके बारे में

अपना कर्तव्य निश्चित करूंगा । देखो, सभी बातों
 मैं तुम मुझ पर विश्वास किया करती हो । मैं ही
 तुम्हारी सभ तरह की विपत्तियों को दूर किया करता हूँ ।
 इसलिए शीघ्र अपने जी का हाल कहकर, और लोगों
 की आल खलने के पहले ही, अपने शयन-गृह को
 चली जाओ ॥ १७।२१ ॥

—०—

विराटपर्व का सत्रहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्याय ॥ १८ ॥

द्रौपद्युवाच—अशोच्यत्वं कुतस्तस्या यस्या भर्ता युधिष्ठिरः ।
 जानन्सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १ ॥
 यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदाऽनयत् ।
 सभापरिपदो मध्ये तन्मां दहति भारत ॥ २ ॥
 पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति माहशी ।
 अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदी प्रभो ॥ ३ ॥

अठारहवा अध्याय ॥ १८ ॥

द्रौपदी ने कहा—जिसके स्वामी युधिष्ठिर हैं
 वह विना शोक के कच रह सकती है ? उसको सुख
 की सम्भावना ही कहा ? तुम मेरे दुःख का सब हाल

जानकर भी अज्ञान की तरह क्या पूछ रहे हो ?
 सोचकर देखो, जुआ खेलने के समय दुःशासन दासी
 कहकर मुझे भरी सभा में खींच लाया था, वह याद

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः ।
 बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्याऽऽसीत्स सारथिः ॥ १६ ॥
 धनुष्यनवरश्चाऽऽसीत्तस्य शिष्यो महात्मनः ।
 दृष्टपूर्वो मया वीर चरंत्या पाण्डवान्प्रति ॥ १७ ॥
 यदा तत्पावको दावमदहत्खाण्डवं महत् ।
 अर्जुनस्य तदाऽनेन संगृहीता हयोत्तमाः ॥ १८ ॥
 तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः ।
 अजयत्खाण्डवप्रस्थे न हि यंताऽस्ति तादृशः ॥ १९ ॥

उत्तर उवाच—सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं नपुंसको नैव भवेद्यथाऽसौ ।

अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे वक्तुं स्वयं यच्छह्यान्ममेति वै ॥ २० ॥

द्वौपद्युवाच—येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी ।

अस्याः सा वीर वचनं करिष्यति न संशयः ॥ २१ ॥

यदि वै सारथिः स स्यात्कुरूसर्वान्त संशयः ।

जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स सैरंध्व्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।

गच्छ त्वमनवद्योगि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २३ ॥

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।

यत्रास्ते स महाबाहुद्वन्द्वः सत्रेण पाण्डवः ॥ २४ ॥

एवमन्महाभारते विराटपर्वणि गोदरणापर्वणि उत्तरगोप्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने पदत्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

आप जिन मस्त हाथी के समान बन्धी और सुन्दर बृहन्नला को देखते हैं वे पहले अर्जुन के सारथी रह चुके हैं । ये नपुंसक होने पर भी उन्होंने वीर अर्जुन के शिष्य हैं, और धनुर्विद्या में किसी तरह उनके कम नहीं हैं । मैं जब पाण्डवों के यहाँ थी तब मे इनके बारे में अच्छी तरह जानती हूँ । अर्जुन ने जब अग्नि को खाण्डव वन जगाने के लिए दिया था और इन्द्र से पौर युद्ध किया था तब ये बृहन्नला ही उनके सारथी थे । खाण्डवप्रस्थ में अर्जुन ने इन्हीं के

सारथी होने के बल से विजय पाई थी ॥१४१९॥

यह सुनकर उत्तर ने कहा—हे सैरन्ध्री । यह नपुंसक युवक जिन तरह का मनुष्य है सो तुम अच्छी तरह से जानती ही हो । किन्तु मैं स्वयं बृहन्नला से सारथी बनने के लिए नहीं रुढ़ सकता ॥२०॥

द्वौपदी ने कहा—हे राजकुमार । बृहन्नला आपकी बहन उत्तरा की बात को अवश्य मानेंगे । जो बृहन्नला आपके सारथी हों तो आप, अवश्य कौरवों को हराकर, अपनी गाँव फेरक राजधानी को लौट सकते हैं ।

रुक्मं द्विरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम् ।
 अश्वाश्वतरसंघाश्च न जातु क्षयमावहेत् ॥ १३ ॥
 सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः ।
 तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वामि कर्माणि चिंतयन् ॥ १४ ॥
 दशनागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम् ।
 यं यांतमनुयांतीह सोऽयं द्यूतेन जीवति ॥ १५ ॥
 रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम् ।
 उपासंत महाराजमिंद्रप्रस्थे युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
 शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे
 पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन्भोजयत्युत ॥ १७ ॥
 एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः ।
 द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः ॥ १८ ॥
 एनं हि स्वरसंपन्ना बहवः सूतमागधाः ।
 सायं प्रातरुपातिष्ठन्सुमृष्टमणिकुंडलाः ॥ १९ ॥
 सहस्रमृपयो यस्य नित्यमासन्सभासदः ।
 तपः श्रुतोपसंपन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः ॥ २० ॥
 अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।

हारकर मुनिवेष से बनवासी हो सकता है ? यदि वे
 नित्य सायं-प्रायः हजार-हजार निष्क (अशकियां) या
 और बहुत-सा धन बदकर लेलते तो भी उनकी अक्षय
 सम्पत्ति कभी घट नहीं सकती थी। वे इस समय जुए
 में सब हारकर, धीम्रष्ट होकर, मूढ़ की तरह चुपचाप
 समय व्यतीत कर रहे हैं। चिन्ता किया करते हैं,
 पर कुछ उपाय नहीं करते ॥ ११-१४ ॥

हाय ! जिनके गले में सुवर्ण की सांकलें पड़ी
 रहती थीं, ऐसे दस हजार टाभी जिनकी सवारी के
 साथ चलते थे, इन्द्रप्रस्थ में रहते समय सैकड़ों-हजारों
 राजा जिनकी नीकरी में हाजिर रहते थे; जिनके यहाँ

हजारों दास-दासियां सुवर्ण के थालों में भोजन-सामग्री
 लिये अतिथियों को भोजन कराती रहती थीं, उन
 युधिष्ठिर की जीविका का उपाय इस समय राजसभा
 में जुआ खेलना-खिलाना है ! जो नित्य ब्राह्मणों को
 लाखों की सख्या में धन और सुवर्ण का दान करते
 थे; ॥ १५-१८ ॥

जगमगाते हुए जड़ाऊ कुण्डल कानों में पहने
 सूत-मागध लोग प्रातःकाल और सन्ध्या के समय
 जिनके गुण गाते थे; तप और स्वाध्याय में निश्च
 बहुत से ऋषि जिनके सभासद थे और उन ऋषियों
 का भरपूर सत्कार होता था; जिनके यहाँ नित्यवत-

नदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
 कर्णदुर्योधनकृपेर्गुप्तं शान्तनवेन च ॥ ८ ॥
 द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
 हृष्टरोमा भयोद्भिन्नः पार्थ वैराटिग्व्रवीत् ॥ ९ ॥
 कतः उवाच— नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे ।
 बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ १० ॥
 प्रनियोद्धुं न शक्यामि कुरुसैन्यमनंतकम् ।
 नाऽऽशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ॥ १० ॥
 रथनागाश्वकलिलां पत्तिष्वजसमाकुलाम् ।
 दृष्ट्वेव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥ १२ ॥
 यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
 अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाल्हिकः ॥ १३ ॥
 दुर्योधनस्तथा वीरो गजा च रथिनां वरः ।
 युनिमंतो महेष्वासाः सर्वे युद्धाविशारदाः ॥ १४ ॥
 दृष्ट्वेव हि कुरुनेतान्द्यूढानीकान्प्रहारिणः ।
 हृषितानि च रोमाणि कर्मलं चाऽऽगतं सम ॥ १५ ॥

दीवता था । उस घूर में वह मेना ऐसी जान पड़ती थी कि मानो बहुत वृद्धोवाग वड़ा भागि उज्ज्वल आकाश में चरन्किर रहा हो ॥१७॥

घोड़े-दायी-नथ आदि में परिपूर्ण और कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, भीष्म आदि महारथी वीरों में सुशिक्षित उम विद्याल कौशव-मेना को देखते ही राजकुमार उत्तर का हृदय भय के मारे धड़कने लगा । उसके रोगटे स्वड़े हो गया । उसने व्याकुल होकर कहा—हे वृद्धलग्ना ! माग्यी ! कौशवों में युद्ध करने की मुझे हिम्मत नहीं पड़नी । यह देखो, मेरे रोगटे स्वड़े हो आये हैं । उस मेना में अनेकों योद्धा हैं । देवता भी इस सेना पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं

कर सकते । मयानक धनुष चढ़ाये महारथी योद्धा स्वड़े हुए हैं । अमन्य दायी-घोड़े-नथ आदि में मरी, मयानक, कौशवों की मेना के मतिर में नहीं जा सकता ॥८११॥

हे वृद्धलग्ना ! कौरव-मेना के वीरों को देखकर मेना चित न्याकुल हो रहा है । मैं इस सेना के विन्द्व हथियार केम रटाऊंगा ! दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोम-दत्त और बाल्हिक आदि युद्ध विद्या में चतुर, महवीर, महारथी दास न्येय नटा स्वड़े हैं वटा जाकर, उनके मानने, मैं कैसे शत्रु रटाऊंगा ! इन लोगों के साथ युद्ध करने की कौन करे, इन्हीं देखने में ही मेरा कनेजा धड़क रहा है । सुप तो नूट्टा जाना चट्टी है ॥१२११५॥

सदस्यं समुपासीनं परस्य प्रियवादिनम् ।
 दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्द्धते मामसंशयम् ॥ ३० ॥
 अतदहं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम् ।
 दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद्धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥
 उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुंधरा ।
 तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम् ॥ ३२ ॥
 एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत् ।
 शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

और दूसरों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य हो रहे हैं। जिनके सूर्य के समान प्रताप से सारा पृथ्वीमण्डल तप रहा था वही आज मत्स्यराजके मभाभद हैं। मुनिगण और राजा लोग सभा-मण्डप में बैठकर जिनकी उपासना किया करते थे वही आज दूसरे की खुशामद कर रहे हैं। उनकी ऐसी दशा देखकर किसका हृदय शोक की अग्नि से न जलने लगेगा ! ॥२३३०॥

दूसरे का आश्रय लेना जिनके लिए सर्वथा निषिद्ध

है वही महामति युधिष्ठिर दूसरे के आश्रय में रहकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं, यह देखकर किस मनुष्य का हृदय व्याकुल न हो उठेगा ? हे वीर ! सोचकर देखो, सब लोग जिनकी सेवा में लगे हुए थे वही आज दूसरे की सेवा कर रहे हैं। इस तरह के अनेक दुःखों से अत्यन्त पीड़ित होकर मैं अनाथ की तरह शोकसागर में डूब रही हूँ; तो भी तुम मेरा दुःख नहीं देखते ॥२३१३३॥

विराटपर्व का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

द्रौपद्युवाच—इदं तु ते महद्दुःखं यत्प्रवक्ष्यामि भारत ।
 न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥
 सूदकर्माणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ ।
 ब्रुवन्बल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्द्धयेः ॥ २ ॥
 सूपकारं विराटस्य बल्लवं त्वां विदुर्जनाः ।

उत्तीसवां अध्याय ॥ १९ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे भीम ! मेरे दुःख की सीमा नहीं है। मैं तुमसे और एक अपने जी का दुःख कहती हूँ। तुम मुझे इसके लिए दोष न देना; क्योंकि मैं बहुत ही दुःखित होने के कारण ये बातें कह रही हूँ। सोचकर देखो, तुम बल्लव नाम रखकर अपने लिए अयोग्य रमोह्ये का कार्य कर रहे हो। तुम्हारी

छन्नं तथा तं सत्रेण पांडवं प्रेक्ष्य भारत ।
 उत्तरं तु प्रधावंतमभिद्रुत्य धनंजयः ।
 गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत् ॥ ४० ॥
 सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्त्तवत् ।
 बहूलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा ॥ ४१ ॥
 उत्तर उवाच—शृणुयास्त्वं हि कल्याणि वृहन्नले सुमध्यमे ।
 निवर्त्तय रथं क्षिप्रं जीवन्भद्राणि पश्यति ॥ ४२ ॥
 शातकुंभस्य शुद्धस्य शतं निष्कान्ददामि ते ।
 मणीनष्टौ च वैदूर्यान्हेमवह्वान्महाप्रभान् ॥ ४३ ॥
 हेमदंडप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः ।
 मत्तांश्च दश मातंगान्मुंच मां त्वं वृहन्नले ॥ ४४ ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवमादीनि वाक्यानि विलपंतमचेतसम् ।
 प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यांऽतिकमानयत् ॥ ४५ ॥
 अथैनमत्रवीत्पार्थो भयार्त्तं नष्टचेतसम् ।
 यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण ।
 एहि मे त्वं हयान्यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ४६ ॥

जनशून्य विराट की राजधानी में राजकुमार उत्तर अकेला ही था। बालकपन के मारे अपने पौरुष को न जानने के कारण राजकुमार उत्तर अपने यहाँ छिपे हुए अर्जुन को अपना सारथी बनाकर युद्ध में आया था; इस समय हम लोगों को देखकर मय के मारे व्याकुल होकर भागा जा रहा है और अर्जुन उभे पकड़ने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं ॥३४३८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अपने को छिपाये हुए अर्जुन को देखकर कौरव लोग इस प्रकार तर्क-वितर्क करने लगे; पर कुछ निश्चय न कर सके। उपर उत्तर सौ कदम भी भागकर गया न होगा कि अर्जुन ने पीछे से जाकर उसके केश

पकड़ लिये। तब उत्तर गिड़गिड़ाकर दीन भाव से कहने लगा ॥३९१४१॥

हे बृहन्नल! तुम तुम्हारे रथ लौटाकर ले चलो। जीवन रहने पर मनुष्य मले दिन देख सकता है। मैं तुमको एक सौ निष्क (अर्शर्किया) सुवर्ण में जड़ी हुई चमकदार आठ वैदूर्य मणियाँ, सुवर्ण-दंड-शोभित और अच्छे घोड़ों से अलंकृत अनेक रथ और दस सजे हुए मास्त हाथी दूंगा। तुम मुझको छोड़ दो ॥३२१४१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार बहुत विलाप करके उत्तर कुमार अचेत सा हो गया। मुमकाते हुए अर्जुन उभे रथ के पास ले गये। मय से व्याकुल आर अचेत-सदृश राजकुमार उत्तर

क्रुध्यन्तीं मां च संप्रेक्ष्य समशंकत मां त्वयि ।
 तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत् ॥ १२ ॥
 त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे ।
 शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाऽहं जीवितुमुत्सहे ॥ १३ ॥
 यः स देवान्मनुष्यांश्च सर्वाश्चैकरथोऽजयत् ।
 सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्त्तको युवा ॥ १४ ॥
 योऽतर्पयद्मेयात्मा खांडवे जातवेदसम् ।
 सोऽतःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥ १५ ॥
 यस्मान्द्रयमामित्राणां सदैव पुरुषर्षभात् ।
 स लोकपरिभूतेन वेपेणाऽऽस्ते धनंजयः ॥ १६ ॥
 यस्य ज्याक्षेपकाठिनौ वाहू परिघसन्निभौ ।
 सशंखपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः ॥ १७ ॥
 यस्य ज्यातलनिर्घोपात्समकंपत शत्रवः ।
 द्वियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ॥ १८ ॥
 किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत ।
 वेणीविकृतकेशांतः सोऽयमथ धनंजयः ॥ १९ ॥

में आये हैं । इस कारण इसमें सन्देह नहीं कि बलव
 सैरन्धी को मिय है और इसी लिए ऐसे समय इसकी
 यह दशा हो जाती है । यह कहकर रानी सुदेव्या
 मुक्षे प्रायः सिद्धका करती हैं । मैं यदि क्रोध दिखाती
 हूं तो उनका सन्देह और भी दृढ़ होता है । इससे
 भी मेरे अन्तःकरण में बहुत व्यथा पहुंचती है । एक
 तो महाराज युधिष्ठिर की दशा और दुःख देखकर
 मैं व्यथित हो रही हूं, उस पर तुम भी महाबली
 टोकर ऐसा दुःख भोग रहे हो । इन कारणों से मैं
 जीवित रहना नहीं चाहती ॥१०११३॥

कैसे ही दुःख की बात है । जिन्होंने अकेले ही
 मनुष्यों और देवताओं को जीत लिया, वही अर्जुन

राजा विराट की कन्याओं को नाचना-गाना सिखाते
 हैं ! जिन्होंने अपने प्रभाव से खाण्डव वन मरम करा-
 कर अग्नि को तृप्त किया वही अर्जुन आज, कुपे में
 पड़ी अग्नि की तरह, रनिवास में छिपे हुए हैं । जिनके
 भय से शत्रु सदा व्याकुल रहते थे, वही अर्जुन इस
 समय लोक निन्दित हिजड़े का वेप बनाये हुए हैं ।
 जिनके बेलन के समान हाथ धनुष की डोरी की रगड़
 से कठिन हो रहे थे वही अर्जुन इस समय उन हाथों
 में चूड़िया पहनकर दुःख भोग रहे हैं ॥१४१७॥

जिनके धनुष की डोरी के शब्द को सुनकर
 शत्रुओं के कलेजे कांप उठते थे, वही अर्जुन इस
 समय रनिवास में मित्रियों के बीच गाते हैं और उनका

वाणों से उसे मार डालेंगे ॥१५॥१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !

दुर्योधन के ऐसे वत्साह प्रकट करनेवाले वचन सुनकर ।

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा आदि वीर

वसकी प्रसंशा करने लगे ॥१७॥

—०—

विराटपर्व का उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच—तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।

सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नाऽतिकोविदम् ॥ १ ॥

समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ।

नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्यंति मे वलम् ।

भारं चापि गुरुं वोढुं कुंजरं वा प्रमर्दितुम् ॥ २ ॥

मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः ।

तस्मान्मूर्ध्निजयाऽऽरोह शमीमेतां पलाशिनीम् ॥ ३ ॥

अस्यां हि पांडुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत ।

युधिष्ठिरस्य भीमस्य वीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ४ ॥

ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च ।

अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गांडिवम् ॥ ५ ॥

एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्रधनम् ।

व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत् ॥ ६ ॥

चालीसवां अध्याय ॥ ४० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इधर राजकुमार उत्तर को सुकुमार और युद्ध-कौशल में निपट बनाही जानकर, शमीवृक्ष के पाम पहुँचकर, अर्जुन ने कहा—हे उत्तर कुमार ! तुम मेरी आज्ञा से क्षीप्र ही इस शमीवृक्ष पर चढ़ जाओ और इसके ऊपर रक्त्वे हुए दिव्य धनुषों को उतार लाओ । मैं जब युद्ध-भूमि में पहुँचकर हाथी-घोड़ों आदि को मारने और शत्रुओं को परास्त करने लगूँगा तब तुम्हारे ये कमजोर धनुष कभी मेरे हाथ के शूटकों को—मेरे बल-वीर्य

को—न सह सकेंगे; इनके टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे । इसलिए तुम क्षीप्र इस धने पत्तोंवाले शमी के पेड़ पर चढ़ जाओ ॥११॥

इसके ऊपर महाराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के बाँझिया धनुष, बाण और दिव्य कवच रक्त्वे हुए हैं । इसी वृक्ष के ऊपर महावीर अर्जुन का दिव्य गांडीव धनुष रक्त्वा हुआ है । वह एक ही गाण्डीव धनुष हजारों धनुषों के बराबर है । वह हाथों के जोर को सहनेवाला, लचीला, सब शस्त्रों में श्रेष्ठ, सुवर्णमण्डित

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणाम् ।
 प्रभिन्नमिव मातंगं परिकीर्णं करेणुभिः ॥ २९ ॥
 मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम् ।
 पश्यामि तुर्यमध्यस्थं दिशो नश्यन्ति मे तदा ॥ ३० ॥
 नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम् ।
 अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्युतदेविनम् ॥ ३१ ॥
 तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम् ।
 गोषु गोवेषमायांतं पांडुभूताऽस्मि भारत ॥ ३२ ॥
 सहदेवस्य वृत्तानि चिंतयन्ती पुनः पुनः ।
 न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ॥ ३३ ॥
 न विंदामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
 यस्मिन्नेवाविधं दुःखं प्राप्नुयात्सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥
 दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
 गोषु गोवृपसंकाशं मत्स्येनाऽभिनिवेशितम् ॥ ३५ ॥
 संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
 विराटमभिनंदन्तमथ मे भवति ज्वरः ॥ ३६ ॥
 सहदेवं हि मे वीरं नित्यमार्या प्रशंसति ।

और सत्य आदि गुणों से जो सबके प्यारे हैं वही अर्जुन
 स्त्री-वेषधारी हैं ! यह देखकर मेरी छाती फटी जा रही है।
 जब मैं उन देवरूपी अर्जुन को, हथिनियों के झुण्ड में
 स्थित गजराज की तरह, [नाट्यशाला में] राजा
 विराट की उपासना करते देखती हूँ तब मुझे चारों
 ओर अन्धेरा ही अन्धेरा देख पड़ता है ॥२६।३०॥

हाय ! आर्या कुन्ती यह कुछ नहीं जानती कि
 अर्जुन और जुआ खेलनेवाले महाराज युधिष्ठिर ऐसे
 दुःख में पड़े हुए हैं । हे नाथ ! छोटे भाई सहदेव
 को देखो । वे गोप वेष धारण करके अपने अयोध्या
 गवाले का कार्य कर रहे हैं । उनकी यह दशा देख

कर मैं पीली पड़ती जा रही हूँ । मुझे शांति तो
 क्या मिलेगी, सहदेव की दशा का ध्यान करके मुझे
 नींद तक नहीं आती । सत्यपराक्रमी सहदेव का ऐसा
 कुछ पाप मुझे नहीं देख पड़ता जिससे वे ऐसी विपत्ति
 में पड़ें ॥२१।३३॥

हे भरतकुलतिलक ! सहदेव को गोप-वेष से
 राजा विराट के यहा रहते देखकर मैं बहुत ही दुखी
 होती हूँ । उनको वस्त्र आभूषण आदि पहनकर
 गोपों के आगे आगे चलकर प्रसन्नतापूर्वक विराट की
 सभा में जाते और उनको सन्तुष्ट करने की चेष्टा
 करते देखकर मुझ ज्वर सा चढ़ आता है ॥३४।३६॥

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्रंद्रविचार्यदर्शनाः	।
शतानि सप्त तिष्ठन्ति नाराचा रुधिराशनाः	॥ ९ ॥
कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्थैः सुवाससः	।
उत्तैरायसैः पीतैर्हेमपुत्रैः शिलाशितैः	॥ १० ॥
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः	।
कस्याऽयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः	॥ ११ ॥
वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रत्सरुर्महान्	।
सुफलाश्रित्रकोशश्च किंकिणीसायको महान्	॥ १२ ॥
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः	।
कस्याऽयं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः	॥ १३ ॥
हेमत्सरु रनाधृष्यो नेपथ्यो भारसाधनः	।
कस्य पांचनखे कोशे सायको हेमविग्रहः	॥ १४ ॥
प्रमाणरूपसंपन्नः पीत आकाशसन्निभः	।
कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे	॥ १५ ॥
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्वणः	।
कस्याऽयमसितः खड्गो हेमत्रिंदुभिरावृतः	॥ १६ ॥
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः	।
गुरुभारसहो दिव्यः सपलानां भयप्रदः	॥ १७ ॥
निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्ठा बृहन्नले	।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत्	॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि वत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

तोते की तरह है, पिउला डिम्बा लोटे का टै, और 'फन्' खूब पैना है, वे ये सुवर्णपुङ्ख बाण किसके हैं ॥६१॥

ये भारी बोज़ को महनेवाले, शत्रुओं के छत्रे छुड़ानेवाले, लम्बे, शिलीमुख बाण किसके हैं ? यह बाण के चमड़े की म्यान में रक्त्वा हुआ, सुवर्ण की मूठवाला, बहुत से घुंघरुओं में शोभित दिव्य खड्ग

किसका है ? यह गोचर्म की म्यान में रक्खी हुई, निर्मल, बहुत बोज़ को सहनेवाली, सुवर्ण की मूठ में शोभित, विषय देय की बनी तलवार किसकी है ? यह सुवर्ण से अलंकृत, धारदार, लम्बी, देखने में सुन्दर, निर्मल, बकरे की खाल की म्यान में रक्खी हुई, नीले रङ्ग की, चमकदार तलवार किस महावीर

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
 यस्य प्रसादाद्दुर्नीतं प्राप्ताऽस्मि भरतर्षभ ॥ १४ ॥
 वर्णावकाशमपि मे पश्य पांडव यादृशम् ।
 तादृशो मे न तत्राऽऽसीद्दुःखे परमके तदा ॥ १५ ॥
 त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।
 साऽहं दासीत्वमापन्ना न शांतिमवशा लभे ॥ १६ ॥
 नाऽदैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।
 भीमधन्वा महाबाहुरास्ते च्छन्न इवाऽनलः ॥ १७ ॥
 अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।
 विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिंतितम् ॥ १८ ॥
 यस्या मम सुखप्रेक्षया यूयमिंद्रसमाः सदा ।
 सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ॥ १९ ॥
 पश्य पांडव मेऽवस्थां यथा नाऽहामि वै तथा ।
 युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ २० ॥
 यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।
 आसीत्साऽद्य सुदेष्णाया भीताऽहं वशवर्तिनी ॥ २१ ॥

है । माई, समुद्र और पुत्रोवाली होकर कौन स्त्री इस तरह दुःख भोगने के लिए विवश हुई होगी ? जान पड़ता है कि मैंने बाल्यावस्था में विधाता का कोई बड़ा अपराध किया था, जिसके कारण इस समय ऐसी विपत्ति में पड़ी हुई हूँ । हे भरतेश्वर ! देखो, मेरी रज्जत कैसी फीकी पड़ गई है ? बड़े-बड़े दुःख सहकर भी मेरी जो दशा नहीं हुई थी, वही दशा आज यहां हो रही है ॥११।१५॥

हे भीमसेन ! यह तुमसे छिपा नहीं है कि पहले मैं कैसे-कैसे सुख भोगती थी । वही मैं इस समय दासी होकर सेवापृथि से अपना निर्वाह कर रही हूँ । फिर बताओ, मुझे किस तरह शान्ति मिल सकती

है ? प्रचण्ड घनुष घारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी जब राख से टकी हुई अग्नि की तरह रनिवास में छिपे हुए हैं तब मुझे यह सब दैव की लाला माननी पड़ती है । दैव के द्वारा प्रेरित प्राणियों की गति को कोई नहीं जान सकता । तुम लोगों की ऐसी दशा होगी, इसकी किसी को सम्भावना भी न थी । हे वीर ! समय का प्रतिकूल होना देखो । इन्द्र-तुल्य तुम लोग सदा अनुराग-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा करते थे; वही मैं आज दूमरो के वश में हो रही हूँ ॥१६।१९॥

तुम लोगों के जिते जी मैं बिलकुल ही अयोग्य दशा को प्राप्त हो रही हूँ । साग पृथ्वी जिसके अधीन

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

- उत्तर उवाच—सुवर्णाविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनः ।
 रुचिराणि प्रकाशंते पार्थानामाशुकारिणाम् ॥ १ ॥
 क नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः ।
 नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ २ ॥
 सर्व एव महात्मानः सर्वाभिन्नविनाशनाः ।
 राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयंते कथंचन ॥ ३ ॥
 द्रौपदी क्व च पांचाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता ।
 जितानक्षेस्तदा कृष्णा तानेवाऽन्वगमद्गनम् ॥ ४ ॥
- अर्जुन उवाच—अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः ।
 बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ॥ ५ ॥
 अश्वबंधोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले ।
 सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः ॥ ६ ॥
- उत्तर उवाच—दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे ।
 प्रत्रूयास्तानि यदि मे श्रद्ध्यां सर्वमेव ते ॥ ७ ॥
- अर्जुन उवाच—हंत नेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे ।
 वेराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते ॥ ८ ॥

चवलीमवां अध्याय ॥ ४४ ॥

[सब शस्त्रों को देखकर आश्चर्य के साथ] उत्तर कुमार ने कहा—हे बृहन्नल ! महात्मा पाण्डवों के सुवर्णमय धनुष, बाण और सङ्घ तो ये सब हैं, किंतु युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव इस समय कहाँ हैं ? वे कौरवों से जुए में मर्वस्व हाकर, राज्य में अग्र होकर, कहाँ गये ? हम लोग तो यह कुछ भी नहीं जानते । सुना है, जगत्प्रसिद्ध स्त्रीरत्न द्रौपदी भी उनके साथ वन को गई थीं । वे द्रौपदी इस समय कहाँ हैं ? ॥११॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार ! कुन्ती का पुत्र

अर्जुन मैं ही हूँ । धर्मराज युधिष्ठिर इस समय तुम्हारे पिता भी ममा के मुख्य मुमाडव कङ्क के नाम से प्रसिद्ध हैं । बल्लव नाम से प्रसिद्ध होकर रघोदये का काम करनेवाले ही महावीर भीमसेन हैं । नकुल अन्धिक नाम से प्रसिद्ध होकर तुम्हारे पिता के यहाँ घोड़ों की देखरेख और शिक्षा का काम करते हैं । तुम्हारे पिता के यहाँ तन्निपाल के नाम से प्रसिद्ध गोप के वेष में अपने को छिपाये जो पुरुष है वही सहदेव हैं । और, जिनके कारण दुष्ट कीचक और उसके भाई उपकीचक मारे गये हैं वे सैरन्ध्री के वेष में

वैशम्पायन उवाच—ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किण्वद्भौ वृकोदरः ।

मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ॥ ३० ॥

तौ गृहीत्वा च कौंतियो वाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान् ।

ततः परमदुःखार्त्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

धीरे-धीरे रोने लगी। बार-बार गर्म लम्बी साँसें छोड़-
कर भीमसेन के हृदय को विदीर्ण करती हुई द्रौपदी ने
आँसुओं के मारे गद्गद स्वर में कहा—जान पड़ता
है कि मैंने देवताओं का कोई बड़ा भारी अपराध
किया है, इसी से अत्यन्त अभागिनी की तरह घोर

कष्ट सहकर भी मैं जी रही हूँ। तब महावीर भीम-
सेन ने कार्य करने से कड़े पड़ गये द्रौपदी के हाथों को
हाथ में लेकर, और एक हाथ से उनके आँसू पोंछकर,
उन्हीं डाढ़स बंधाया। हृदय में घोर दुःख भरा होने
के कारण उनकी भी आँसुओं में आँसू बहने लगे २७।३१।

विराटपर्व का वीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

भीमसेन उवाच—धिगस्तु मे बाहुवलं गांडीवं फाल्गुनस्य च ।

यत्ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ॥ १ ॥

सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत् ।

तत्र मे कारणं भाति कौंतियो यत्प्रतीक्षते ॥ २ ॥

अथवा कीचकस्याऽहं पोथयामि पदा शिरः ।

ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ॥ ३ ॥

अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम् ।

तदैवाऽहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ॥ ४ ॥

तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत् ।

तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवाऽस्मि भामिनि ॥ ५ ॥

इकीसवाँ अध्याय ॥ २१ ॥

भीमसेन ने कहा—तुम्हारे लाल-लाल और
कोमल हाथ ऐसे कड़े हो गये हैं कि उनमें दबे
पड़ गये हैं। मेरे बाहुवल और अर्जुन के गाण्डीव
धनुष को धिक्कार है। महाराज युधिष्ठिर उपयुक्त
समय की राह देख रहे हैं; नहीं तो मैं विराट की

सभा में ही गजराज की तरह लात मारकर दुरात्मा
कीचक का सिर पृथ्वी में घुसड़ देता। मैंने तो उसी
घड़ी सारे मत्स्यराज का विध्वंस करना विचारा था
जिस समय उस पापी ने तुम्हें लात मारी थी। परन्तु
युधिष्ठिर ने आंसू के इशारे से मुझे रोक दिया। मैं इस

अर्जुन उवाच—अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून् ॥ ६ ॥

संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।

त्रिदंडतूणसंवाधमनेकध्वजसंकुलम् ॥ ७ ॥

ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुंदुभिः ।

नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ॥ ८ ॥

अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गांडीवधन्वना ।

अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ९ ॥

उत्तर उवाच—विभेमि नाऽहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।

केशवेनाऽपि संग्रामे साक्षादिंद्रेण वा समम् ॥ १० ॥

इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम् ।

निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ॥ ११ ॥

एवं युक्तांगरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च ।

केन कर्मविपाकेन क्लीवत्वमिदमागतम् ॥ १२ ॥

मन्ये त्वां क्लीववेपण चरन्तं शूलपाणिनम् ।

गंधर्वराजप्रतिमं देवं वाऽपि शतक्रतुम् ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच—भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम् ।

चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

नाऽस्मि क्लीवो महाबाहो परवान्धर्मसंयुतः ।

कौरवों को हराकर तुम्हारी मव गायें लौटा लाऊंगा । मेरी विनाल मुजाएँ चहार-दीवारी और फाटकबन्दों की तरह तुम्हारे नगर की रक्षा करेंगी । थोड़े ही देर में मेरे धनुष की डोरी का और युद्ध के ढङ्के का शब्द तुम्हारे नगर में गूँज उठेगा । गाण्डीव धनुष लेकर, रथ पर चढ़कर, मैं जब युद्ध के मैदान में पहुँचूँगा तब शत्रु लोग कभी तुमको पगस्त न कर सकेंगे । इसलिए तुम शक्य न करो ॥६१॥

उत्तर ने कहा—हे अद्वितीय वीर ! मैं शत्रुओं के दल से अब बिलकुल नहीं डरता । आपके बल

और पराक्रम को मैंने अच्छी तरह जान लिया । नि.मन्देह आप युद्ध में कृष्णचन्द्र और इन्द्र के समान पराक्रम दिला सकते हैं । हे वीरवर ! मैं इस चिन्ता में बहुत ही व्यग्र हो रहा हूँ कि आप किस कर्म के कारण नपुंसक हो गये हैं । मेरी बुद्धि मन्द है । इस कारण मैं इस विषय में बहुत विचार करके भी कुछ निश्चय नहीं कर पाता । ऐसा जान पड़ता है कि आप नपुंसकवेपधारी मगवान् शङ्कर, या गन्धर्वराज चित्रग्य अथवा इन्द्र होंगे ॥१०१३॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार ! मैं वास्तव

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता ।
 अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान्सर्वानमानुषान् ॥ १४ ॥
 द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनिदिता
 सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ॥ १५ ॥
 यथैताः कीर्त्तिता नायों रूपवत्यः पतिव्रताः ।
 तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १६ ॥
 मा दीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्द्धं च संमितम् ।
 पूर्णं त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ १७ ॥
 द्वीपद्युवाच—आर्त्तयैतन्मया भीम कृतं वाष्पप्रमोचनम् ।
 अपारयंत्या दुःखानि न राजानमुपालभे ॥ १८ ॥
 किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल
 प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्याऽनंतरो भव ॥ १९ ॥
 ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशंकया
 नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ॥ २० ॥
 तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चाऽनृतदर्शनः ।
 कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम् ॥ २१ ॥

सुख-भोग की लालसा छोड़कर, अगस्त्य ऋषि की
 सहधर्मिणी बनीं। द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् की पत्नी
 पतिव्रता सावित्री का हाल तुमसे छिपा नहीं है।
 उन्होंने यमलोक तक अपने स्वामी का साथ नहीं
 छोड़ा। हे सुन्दरी! ये सब राजकन्याएँ जैसी रूप-
 वती और पतिव्रता थीं, वैसी ही तुम भी हो। तुम में
 सभी श्रेष्ठ गुण विद्यमान हैं। इसलिए और थोड़े समय
 तक ठहर जाओ। और एक मास के लगभग शेष
 रह गया है। तेरहवां वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी
 हो जाओगी ॥१०१७॥

द्वीपदी ने कहा—प्यारे भीमसेन! मैं अत्यन्त
 पीड़ित और दुःखित होने के कारण ही इस तरह

रो रही हूँ। मैं महाराज युधिष्ठिर की निन्दा नहीं
 करती। हे भीमसेन! अब इस समय व्यतीत हुई
 बातों पर विचार करना व्यर्थ है। वह उपाय करो,
 जिससे अपने ऊपर आई हुई यह आपत्ति टल जाय।
 राजरानी सुदेव्या सदा शङ्कित रहती हैं कि उनके
 पति राजा विराट कहीं भेरे ऊपर आसक्त न हो जायें
 [कहीं इस तरह रानी को अपने रूप का अपमान
 या पराभव न देखना पड़े] ॥१०१८०॥

राजा का साला और मेनापति कीचक स्वभाव
 से ही बुरे हृदय का और दुर्बुद्धि है। रानी की उक्त
 आशङ्का को जानकर वह सदा मुझसे अपनी प्रणयिनी
 होने के लिए कहा करता है। पहले पहल उसके यों

नैवंविधः शंखशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः ।
 ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं नहीदृशम् ॥ १५ ॥
 धनुपश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित् ।
 अस्य शंखस्य शब्देन धनुषो निःस्वनेन च ॥ १६ ॥
 अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
 रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥ १७ ॥
 व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे ।
 ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभांति मे ॥ १८ ॥
 गांडीवस्य च शब्देन कर्णो मे बधिरीकृतौ ।
 स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमव्रवीत् ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच—एकांतं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन् ।
 दृढं च रश्मीन्संयच्छ शंखं ध्मास्याम्यहं पुनः ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शंखमुपाध्मासीद्धारयन्निव पर्वतान् ।
 गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च ।
 उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २१ ॥
 तस्य शंखस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
 गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकंपत ॥ २२ ॥

उत्तर ने कहा—हे मद्रावाहु ! यह सत्य है कि मैंने बहुत से शह्रों, नगारों और युद्ध के मन्त्र हाथियों का शब्द सुना है; किन्तु इसमें पहले कभी ऐसा प्रचण्ड शंखनाद, रथ की धरधराहट, प्रत्यक्षा का कानों को बहारा कर देनेवाला शब्द और ध्वजा पर स्थित मूर्तों का घोर गर्जन नहीं सुना। ऐसी विचित्र और भयानक ध्वजा भी कभी नहीं देखी। इन अमानुष अद्भुत शब्दों का सुनने से मेरा हृदय अत्यन्त व्यथित हो रहा है ॥१११७॥

मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा। इस विंगाल ध्वजामे सब दिशाएं छिप सी गई हैं। मुझे इसममय कुछ

भी नहीं दिखाई पड़ता। गाण्डीव धनुष के शब्द से मैं बहारा मा हो रहा हूँ। तब अर्जुन ने फिर कहा—हे उत्तर ! तुम दृढ़ता के साथ घोड़ों की राय पकड़ो और संमलकर अपने स्थान पर बैठो। मावधान हो जाओ, मैं फिर शंख बजाता हूँ ॥१८१२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब अर्जुन ने दुबारा शंख बजाया। उससे पर्वत मानों फटने लगे। शत्रु व्याकुल होने लगे। मित्रों को प्रयत्नता हुई। पर्वतों की कन्दराएं प्रतिध्वनित हो उठी। दिशाओं में वह शब्द गूँज गया। पृथ्वी कांप उठी। इन अद्भुत घटनाओं को देखकर उत्तर फिर भी मोहित

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
 तथाऽहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ॥ ३१ ॥
 संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
 पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाऽहं तेन ताडिता ॥ ३२ ॥
 प्रेक्षते स्म विराटस्तु कंकस्तु बहवो जनाः ।
 रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ॥ ३३ ॥
 उपालब्धो मया राजा कंकश्चापि पुनः पुनः ।
 ततो न वारितो राज्ञा न तस्याऽविनयः कृतः ॥ ३४ ॥
 योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम सारथिः ।
 ल्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसंमतः प्रियः ॥ ३५ ॥
 शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान् ।
 दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान्वहूनपि ॥ ३६ ॥
 आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि ।
 न तिष्ठते स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति ॥ ३७ ॥
 पापात्मा पापभावश्च कामवाणवशानुगः ।
 अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥

दुष्ट मुझे देखते ही [अनेक प्रकार के प्रलोभन दिखाकर] खुशामद करने लगा । मेरे प्रसन्न न होने पर वह बलात्कार करने पर तैयार हुआ ॥२५॥३०॥

उसके इस अभिप्राय को जानकर मैं वहां भे भागी और शाण की इच्छा से सभा में गईं । किन्तु उस पापी ने वहीं जाकर राजा के सामने मुझे लात मारी । राजा विराट, कङ्क (सुषिष्ठिर), विराट के और-और समासद, सचिव और सब नगरवासी उपचाप बैठे देखते रहे । मैंने राजा को और कङ्क को कठिन वचन भी कहे किन्तु कुछ फल नहीं हुआ । राजा विराट ने न तो उसको दण्ड दिया और न मना किया । ३१/३४।
कीचक राजा विराट का प्रधान सहायक है ।

राजा और रानी, दोनों उस पर भरोसा और अनुराग रखते हैं । कुचाली कीचक जैसा पर-स्त्रीगामी, लम्पट और विवेकहीन है वैसा ही क्रूर, धर्मत्यागी और बहा-दुरी का घमण्ड रखना है । वह पापी राजा से बहुत सा द्रव्य पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, सदा औरों का धन छीन लेने की धुन में लगा रहता है । वह सताये गये दुखियों के आर्त्तनाद पर ध्यान नहीं देता । वह सद्दज ही सुचाल छाड़कर मन-माने बुरे कार्य करता रहता है । मैंने बारम्बार उसे डांटा है । इसलिए वह दुष्ट, पापी, कामान्ध, बेहूदा कीचक अब की जो मुझको देख पावेगा और सतावेगा, तो मैं उसी घड़ी अपनी जान दे दूंगी । तुम लोग धर्मरक्षा की

किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते ।
 अन्यत्र कामाद् द्वेषाद्वा रोपादस्मासु केवलात् ॥ २७ ॥
 आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चाऽपापदर्शिनः ।
 नैते महाभये प्राप्ते संप्रष्टव्याः कथञ्चन ॥ २८ ॥
 प्रामादेपु विचित्रेषु गोष्ठीपूपवनेषु च ।
 कथा विचित्राः कुर्वाणाः पंडितास्तत्र शोभनाः ॥ २९ ॥
 बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनमंसादि ।
 ड्व्यास्त्रे चोपसंधाने पंडितास्तत्र शोभनाः ॥ ३० ॥
 परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च ।
 हस्त्यश्वरथचर्यासु खगोप्राजाविकर्मणि ॥ ३१ ॥
 गोधनेषु प्रतौलीषु वरद्वारमुखेषु च ।
 अन्नसंस्कारदोषेषु पंडितास्तत्र शोभनाः ॥ ३२ ॥
 पंडितान्पृष्टनः कृत्वा परेषां गुणवादिनः ।
 विधीयतां तथा नीतिर्यथा बध्यो भवेत्परः ॥ ३३ ॥
 गावश्च संप्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समंततः ।
 आरक्षाश्च विधीयतां यत्र योत्स्यामहे परान् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोप्रहे दुर्योधनवाक्ये मत्प्रत्वारिणोऽध्याय ॥ ४७ ॥

तो घोड़ा का स्वभाव ही है । बाघ भी मदा चला
 करती है । नित्य इन्द्रदेव वर्षा किया करते हैं ।
 आकाश में मेघों के प्रकट होने ही विजली कड़का
 करती है । इसमें भय की क्या बात है ? इसमें अर्जुन
 की क्या भौतिक वीरता देख पड़ती है ? अर्जुन
 की इतनी प्रज्ञा आचार्य किमर्षि का रहे है ?
 इसका कारण अर्जुन की मर्मा कर्म की इच्छा या
 दमोर् प्रति आचार्य का द्रुप और शेष का भाव ही
 हो सकता है । आचार्य लोग कृष्णापूर्ण, प्राज्ञ और
 विनाश को ही देखनेवाले होते हैं । इमर्षि धर्म
 महायुद्ध के अवसर पर इनमें म बार में कुछ न
 पड़ना चाहिए ॥२५१२८॥

ये लोग विचित्र महलों, सभा या उपवन आदि
 स्थानों में विविध बातों का वर्णन करके पाण्डित्य
 दिखा सकते हैं । लोगों के सामने अनेक प्रकार के
 भौतिक कार्य दिखाना, यज्ञ कर्गना, शिक्षा देना
 और मन्थि के अवसर पर निपुणता दिखाना इनका
 कार्य है । दूमरों के दोषों की खोज, लोक-चरित्र
 के ज्ञान, हाथी घाड़े-ऊँट-नाथ आदि की सवारी, वैज-
 लघार-नकरी मेह आदि की चिकित्सा का ज्ञान, सड़कों
 और नगर क द्वारा की बनावट का ज्ञान और रसोई
 बनाने क दोषों को जानना-इन्हीं कामों में आचार्य
 पण्डित निपुण होते हैं । और इन्हीं जानों में इनसे
 सम्भूति लेनी चाहिए ॥२९१३२॥

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत ।
 तं चेजीवंतमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ॥ ४७ ॥
 विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम् ।
 श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाऽग्रतः ॥ ४८ ॥
 वेश्म्यायन उवाच—इत्युक्त्वा प्रारुदत्कृष्णा भीमस्योरः समाश्रिता ।
 भीमश्च तां परिष्वज्य महत्सात्वं प्रयुज्य च ॥ ४९ ॥
 आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्त्तां सुमध्यमाम् ।
 हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ॥ ५० ॥
 प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाऽश्रुसमाकुलम् ।
 कीचकं मनसाऽगच्छत्सृक्किणी परिसंलिहन् ।
 उवाच चैनां दुःखार्तां भीमः क्रोधसमन्वितः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकोविंशोऽध्याय ॥ २१ ॥

की जड़ हो गया है । पत्थर पर पटक गये मिट्टी के
 घड़े की तरह तुम इसी घड़ी उसे चूर-चूर कर डालो ।
 जो सूर्योदय के समय तक वह जीता रहेगा तो मैं
 विष पीकर प्राण दे दूँगी । कीचक के बशीमूत होकर
 जीते रहने की अपेक्षा तुम्हारे सामने मर जाना ही
 मुझे अच्छा जान पड़ता है ॥४४॥४८॥

वेश्म्यायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस
 प्रकार करुणाजनक दीन वचन कहकर, भीमसेन की

छाती पर सिर रखकर, द्रौपदी रोने लगी । भीमसेन
 ने दु ख से पीड़ित सुन्दरी द्रौपदी को गले से लगा
 लिया । फिर युक्तिपूर्ण बचनों से द्रौपदी को सान्त्वना
 देकर अपने हाथ से भीमसेन ने उनके आसू पीछे ।
 वे क्रोध के मोर ओठ चाटने लगे, माता कीचक उनके
 सामने ही खड़ा हो । इसके पश्चात् दु खित द्रौपदी
 से भीमसेन ने कहा ॥४९॥५१॥

— ० —

विराटपर्व का इक्कीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

भीमसेन उवाच—तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भापसे ।

अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहवांधवम् ॥ १ ॥

बाईसवा अध्याय ॥ २२ ॥

भीमसेन कहा—हे प्रिय ! मैं वहीं करूँगा जो
 तुम कह रही हो । दुष्ट कीचक को साई बन्धुवों

साहित मार डालूँगा । हे मधुरहासिनी ! तुम कल
 सन्ध्या के समय कीचक से मिलना और बेधड़क

अथ एकोनपचाशत्तमोऽध्याय ॥ ४९ ॥

कृप उवाच—सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः ।
 नाऽर्थानां प्रकृतिं वेत्सि नाऽनुबंधमवेक्षसे ॥ १ ॥
 माया हि बहवः संति शास्त्रमाश्रित्य चिंतिताः।
 तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयति पुराविदः ॥ २ ॥
 देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत् ।
 हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ।
 देशे काले च विक्रांतं कल्याणाय विधीयते ॥ ३ ॥
 आनुकूल्येन कार्याणामतरं संविधीयते ।
 भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यंति पंडिताः ॥ ४ ॥
 परिचित्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः ।
 एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाऽग्निमतर्पयत् ॥ ५ ॥
 एकश्च पंच वर्षाणि ब्रह्मर्चयमधारयत् ।
 एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ॥ ६ ॥
 एकः किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत् ।
 अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ॥ ७ ॥

उनचासवा अध्याय ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमजय! कर्ण की ये बातें सुनकर नीति-शास्त्र के ज्ञाता, और कौरवों के आचार्य, कृपाचार्य ने कहा—हे राधा के पुत्र कर्ण! तुमको युद्ध बहुत अच्छा लगता है। किन्तु तुम यह नहीं विचारते कि अपना कार्य कैसे बानगा और आगे चलकर उसका क्या परिणाम होगा। शास्त्र में बहुत प्रकार के कपटयुद्धों का उल्लेख है। किन्तु पण्डितों ने उन युद्धों का पापयुद्ध माना है। देखो, देश और काल का विचार करके युद्ध करने में जय प्राप्त होती है। परस्पर भी अनुकूलता और सम्मति से कार्य करने पर वह उचित होता है। जो देश और समय उपयुक्त नहीं है उसमें युद्ध करने से अनर्थ

उपस्थित होता है। जैसे कोई रथ चगानेवाला रथ लाकर कहे कि यह रथ बहुत ही दृढ़ है, इस पर बैठकर युद्ध करने में तुम देवताओं को भी जीत सकते हो; ॥१।४॥

तो केवल उसके इस कहने पर विश्वास करके कोई बुद्धिमान युद्ध करने के लिए तैयार न हो जायगा, वैसे ही केवल तुम्हारे कहने पर विश्वास करके, देश-काल आदि का विचार न करके, हम लोगों का युद्ध के लिए तैयार हो जाना उचित नहीं। सब बातों पर अच्छी तरह विचार करके देखने में मुझको इस समय यथा अर्जुन के साथ युद्ध करना किसी तरह अच्छा नहीं जैचता। अर्जुन अकेले ही युद्ध में शत्रुओं को

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते ।

अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान्ददाम्यहम् ॥ १० ॥

दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चाऽपरम् ।

रथं चाऽश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ॥ ११ ॥

द्वीपद्युवाच—एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक ।

न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात्संगतं मया ॥ १२ ॥

अनुप्रवादान्नीताऽस्मि गंधर्वाणां यशस्विनाम् ।

एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ १३ ॥

कीचक उवाच—एवमेतत्करिष्यामि यथा सुश्रोणि भापसे ।

एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥ १४ ॥

समागमार्थं रंभोरु त्वया मदनमोहितः ।

यथा त्वां नैव पश्येयुर्गंधर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ १५ ॥

द्रावद्युवाच—यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् ।

दिवाऽत्र कन्या नृत्यंति रात्रौ यांति यथा गृहम् ॥ १६ ॥

तमिस्ते तत्र गच्छेथा गंधर्वास्तत्र जानते ।

तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

तुम मुझ पर प्रेम करके परम सुख भोगो । हम लोगों का परस्पर मिलन होने पर मैं जन्म भर तुम्हारे चरणों का सेवक बना रहूंगा । तुम्हें इसी पड़ी असख्य सुवर्ण-मुद्रा और अनमोल रत्न दूंगा । तुम्हारी सेवा के लिए हजारों दास दासिया नियुक्त कर दूंगा । [तुम्हारी सवारी के लिए] सुन्दर रथ तैयार रहूंगा जिसमें खच्चरिया जुती होंगी ॥६।११॥

द्वीपदी ने कहा—हे कीचक ! हम लोगों के मिलने में अब कुछ खटका नहीं है । मय इतना ही है कि जो यह बात प्रसिद्ध हो जायगी तो वे यशस्वी गन्धर्व सुन लेंगे । इसलिए जो तुम यह प्रतिज्ञा करने को प्रसन्न हो कि हम दोनों के इस गुप्त मिलन को तुम्हारे

भाई या मित्र कोई न जान सकेंगे, तो मैं तुम्हारा कहा करने को तैयार हूँ ॥१२।१३॥

कीचक ने प्रसन्नता प्रकट करके कहा—हे सुन्दरी ! तुम जैसा कह रही हो वैसा ही होगा । हे सुन्दरी ! मैं तुमसे मिलने के लिए अकेला तुम्हारे उस सूने पर मैं आऊँगा जहाँ तुम रात्रि को सोती हो । तब तो वे सूर्य के समान तेजस्वी गन्धर्व कुछ दाल न जान सकेंगे ॥१४।१५॥

द्वीपदी ने कहा—नहीं जी, ऐसा न करो । मत्स्यराज की स्थापित की हुई नाट्यशाला में दिन को कन्याएँ नाच गाकर रात्रि के समय अपने-अपने घर को चली जाती हैं । उस निर्जन स्थान को अवश्य

आत्मानं कः समुद्रध्य कंठे बध्वा महाशिलाम् ।
 समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम् ॥ १६ ॥
 अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवंतं सुदुर्बलः ।
 तादृशं कर्ण यः पार्थ योद्धुमिच्छेत्स दुर्मतिः ॥ १७ ॥
 अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश ।
 सिंहः पाशाविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति ॥ १८ ॥
 एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम् ।
 अज्ञानादभ्यवस्कंथ प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम् ॥ १९ ॥
 सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम् ।
 सैन्यास्तिष्ठंतु सन्नद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ २० ॥
 द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान्द्रौणिस्तथा वयम् ।
 सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्णं मा साहसं कृथाः ॥ २१ ॥
 वयं व्यवसितं पार्थं ब्रजपाणिमिवोद्धतम् ।
 पदूथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः ॥ २२ ॥
 व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्नाः परमधन्विनः ।
 युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोमहे कृपावाक्यं नाम एकौनपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

है उसे देखने से जान पड़ता है कि स्वयं इन्द्र भी उनसे लोहा नहीं ले सकते । जो उनसे युद्ध करना चाहे उस (के पागलपन) की चिकित्सा होनी चाहिए । हे सूतपुत्र ! तुम [महातेजस्वी अर्जुन के साथ युद्ध करने की इच्छा प्रकट करके मारो] ॥१९॥२॥

दाहना हाथ बढ़ाकर कोषिन विषंके नाग के मुँह में ठंगली डालना और उसके दान उखाड़ना चाहें तो । तुम अरुन्धे, अंकुग हाथ में लिये बिना, महावन में स्थित मस्त हाथी के ऊपर नढ़कर नगा के भीतर जाना चाहते हो । तुम देह में धी पोतकर, चक्कल पहनकर, धी, मेदा, चर्बी आदि की आहु-

तियों में प्रज्वलित अग्नि के भीतर टोकर चरना चाहते हो । अपने अर्जों को चन्धन से जकड़कर गले में बड़ी मागी शिला बांधकर, दोनों हाथों में तैरता हुआ कौन पुरुष समुद्र के पार जा सकता है ? ॥१३॥१६॥

जिमने अस्त्र-शिक्षा नहीं पाई वह दुर्बल पुरुष यदि अद्वितीय अस्त्र-शिक्षा किसी चन्धवान् पुरुष से युद्ध करना चाहे तो वह उसकी दुर्बुद्धि नहीं तो क्या है ? हम लोगों के द्वारा छोड़े गये अर्जुन इस समय, तरह वर्ष वन में रहकर, प्रशिक्षा के चन्धन से छूट गये हैं । चन्धन से छूट हुए मिट्ट की तरह क्या वे हमारा नाश न कर देंगे ? कुपं में शिपी

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः ।
 एको निशि महाबाहो कीचकं तं निपूदय ॥ २६ ॥
 तं सूतपुत्रं कौतेय कीचकं मददर्पितम् ।
 गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पांडव ॥ २७ ॥
 दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गंधर्वानवमन्यते ।
 तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ हृदान्नागमिवोद्धर ॥ २८ ॥
 अश्रुदुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत ।
 आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ॥ २९ ॥
 भीमसेन उवाच—स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम् ।
 न ह्यन्यं कंचिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ॥ ३० ॥
 या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे ।
 हत्वा हिडिंबं सा प्रीतिर्ममाऽऽसीद्वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥
 सत्यं भ्रातृश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते ।
 कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ॥ ३२ ॥
 तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम् ।
 अथ चेदपि योत्स्यंति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

ने रमोई-घर में जाकर भीमसेन से कहा—हे शत्रु-
 दमन ! तुम्हारी आज्ञा से मैंने कीचक को नाख्यशाला
 में बुलाया है । वह दुष्ट रात्रि को वहाँ अकेला जायगा,
 उसी समय तुम उसको मार डालना । वह दुष्ट सर्वदा
 गन्धर्वों (पाण्डवों) का अनादर किया करता है; इस-
 लिए तुम आज ही उसे मार डालो । गजराज जैसे
 सहज ही कमल के पेट को उखाड़कर रौद डालता
 है, वैसे ही तुम उसे मारकर मेरा दुःख दूर करो;
 मेरे आंसू पोंछो; वंश की मर्यादा बचाओ और अपना
 कल्याण करो ॥२४॥२९॥

भीमसेन ने कहा—हे पाञ्चाली ! प्रसन्नता की
 बात है कि तुम बिना किसी विघ्न के सब काम ठीक

कर आई हो । यहाँ आकर तुमने मुझे यह पिय
 संवाद दिया, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । हे
 कल्याणी ! मैं यही बात सुनना चाहता था । इसके
 सिवा मुझे और कोई सहायता न चाहिए । पहले
 हिडिम्ब दानव को मारते समय मुझे जैसी प्रसन्नता
 हुई थी वैसी ही प्रसन्नता हम ममय भी, तुम्हारे मुँह
 से यह शुभ संवाद सुनकर, हुई है । मैं इस समय
 तुम्हारे आगे सत्य, धर्म और प्यारे भाइयों की सीगन्द
 खाकर कहता हूँ कि जैसे इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा
 था वैसे ही मैं दुष्ट कीचक को एकान्त में या सबके
 सामने, जहाँ मिलेगा, मार डालूँगा । इसके लिए यदि
 सब मत्स्यराज के भीर युद्ध करने आवेंगे तो उन्हें

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः ।
 दुर्यूतदेवी गांधारः शकुनिर्युध्यतामिह ॥ २३ ॥
 नाऽक्षान्क्षिपति गांडीवं न कृतं द्वापरं न च ।
 ज्वलतो निशितान्वाणांस्तांस्तान्क्षिपति गाण्डिवम् ॥ २४ ॥
 न हि गांडीवनिर्मुक्ता गार्धपक्षाः सुतेजनाः ।
 नाऽतरेष्ववतिष्ठंते गिरीणामपि दारुणाः ॥ २५ ॥
 अंतकः पवनो मृत्युस्तथाऽग्निर्वडवामुखः ।
 कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु कुद्धो धनंजयः ॥ २६ ॥
 यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाऽकरोः ।
 तथा युध्यस्व संग्रामे सौवलेन सुरक्षितः ॥ २७ ॥
 युध्यतां कामतो योधा नाऽहं योस्त्ये धनंजयम् ।
 मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्या यद्यागच्छेद्द्रवां पदम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे द्रौणिवाक्य पंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

आचार्य लोग क्षिप्य के ऊपर पुत्र का सा स्नेह रखते हैं । इसी कारण महारमा द्रोणाचार्य की प्रीति अर्जुन पर रहती है ॥१८।२१॥

हे दुर्योधन ! तुम जैसे जुआ खेले, जैसे द्रांपदी को सभा में ले आये और जैसे इन्द्रप्रस्थ का राज्य तुमने हर लिया, वैसे ही इस समय तुम अर्जुन के साथ युद्ध करो । क्षत्रियधर्म में निपुण, छल करके जुआ खेलनेवाले, तुम्हारे मामा गान्धाराज शकुनि इस समय युद्ध करें । अर्जुन के गाण्डीव धनुष से तीक्ष्ण बाण ही फेंके जाते हैं, पामे नहीं ॥२२।२४॥

विराटपर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

अथ एरुपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

भीष्म उवाच—साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति ।

कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ॥ १ ॥

आचार्यो नाऽभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता ।

शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजने ह ॥ ४२ ॥
उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः ।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा समयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥
प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनंतकम् ।
यत्कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ॥ ४४ ॥
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम् ।
यहं चांऽतःपुरं सुभु ब्रीडारतिविराजितम् ।
तत्सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाऽऽहमुपागतः ॥ ४५ ॥
अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः ।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥ ४६ ॥

भीमसेन उवाच—दिष्टया त्वं दर्शनीयोऽथदिष्टयाऽऽत्मानं प्रशंससि ।

ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥ ४७ ॥
स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः ।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नाऽन्यस्त्वत्समः पुरुषस्तिवह ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

सहसोत्पत्य कौतेयः प्रहस्येदमुवाच ह ॥ ४९ ॥

कामान्ध कीचक उसके भीतर गया ॥३८॥४१॥

उसे क्या मालूम था कि द्रौपदी के अपमान से उत्पन्न क्रोध की अग्नि से प्रज्वलित भीमसेन, साक्षात् मृत्यु की तरह, वहां लेटे हुए हैं। भीतर जाकर, पास पहुंचकर [जलते हुए अग्निकुण्ड में गिरने के लिए उतारू पतझ या सिंह को छूनेवाले पशु की तरह] कीचक ने द्रौपदी के घोसे भीमसेन के शरीर पर टाय रक्खा। उसका हृदय आनन्द से मत्त हो उठा। उसने हसकर कहा—दे पिये! आज मैं तुम्हारे लिए बहुत सी अनमोल सामग्री-धन-रत्न वस्त्र आभूषण आदि—निकाल कर रख आया हू। मेरे घर में सैकड़ों

दास दासिया हैं, रूप-आवण्यवती युवती लिया हैं। अनेक मणि रत्न आदि मेरे रनिवास की शोभा को बढ़ा रहे हैं। तुम्हारे समागम की लालसा से वह रनिवास छोड़कर मैं यहा आया हू। हे सुन्दरी! मेरे अन्त पुर में रहनेवाली लिया मुझको अद्वितीय सुन्दर और मियदर्शन कहकर सदा मेरी प्रशंसा किया करती हैं ॥४२॥४६॥

भीमसेन ने कहा—मेरा परम सौभाग्य है कि तुम ऐसे मियदर्शन हो। तुम्हारी यह अपनी प्रशंसा भी ठीक है। किन्तु तुमने पहले कभी ऐसे कोमल स्पर्शमुक्त का अनुभव न किया होगा। अहा! तुम तो बड़े कामकरानिपुण हो! अच्छे रसिकशिरोमणि

सर्वं यथावच्चरितं यद्यदेभिः प्रतिश्रुतम् ।
 एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो वीभत्सुरागतः ॥ ५ ॥
 सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
 येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद्धर्मेऽपराध्नुयुः ॥ ६ ॥
 अल्लुब्धाश्चैव कौतियाः कृतवन्तश्च दुष्करम् ।
 न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ ७ ॥
 तदैव ते हि विक्रांतुमीपुः कौरवनेदनाः ।
 धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ॥ ८ ॥
 यच्चाऽनृत इति ख्यायाद्यः स गच्छेत्पराभवम् ।
 वृणुयुर्मरणं पार्था नाऽनृतत्वं कथंचन ॥ ९ ॥
 प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेर्युर्नर्यभाः ।
 अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्यां हि पांडवाः ॥ १० ॥
 प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
 तस्माद्यद्द्रव्यं कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम् ।
 तत्संविधीयतां शीघ्रं मावो ह्यर्थोऽभ्यगात्परम् ॥ ११ ॥
 न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव ।
 एकांतसिद्धिं राजेंद्रं संप्राप्तश्च धनंजयः ॥ १२ ॥

वर्ष पूरे होकर पाच महीने छ दिन अधिक हो गये हैं । पाण्डवों ने जो प्रतिज्ञा की थी वह पूरी हो चुकी, इसी से अर्जुन तुम्हारे सामने आये हैं ॥११॥

पाचों पाण्डव धर्म और अर्थ के जानकार हैं, विशेषकर युधिष्ठिर उनके मुखिया हैं । इसलिए वे धर्म के विषय में अपराधी कर्म हो सकते हैं । वे लोमहर्षि हैं और कठिन साधना कर चुके हैं । वे अधर्म करके राज्य पांच की आशा नहीं रखते । वे धर्म के बन्धन में बंधे हुए हैं, इसी लिये क्षात्र धर्म से विचलित नहीं हुए; नहीं तो वे उभी समय अपना पराक्रम दिखला देते । वे मृत्यु के मुँह में सटकर ही

जा सकते हैं, पर असत्य की राह में पाव नहीं बढ़ा सकते ॥६१॥

जिम वस्तु पर उनका अधिकार है उसको व पुरुषश्रेष्ठ कभी नहीं छोड़ सकते । यदि इन्द्र भी व वस्तु न देना चाहे तो वे यथासमय वह वस्तु ले ही लेंगे । उन लोगों में ऐसी ही शक्ति है । इस समय हम लोगों को श्रेष्ठ शस्त्रधारि अर्जुन से युद्ध करना होगा । इसलिए तुम लोग शीघ्र सज्जन-सम्मत कल्याणकर कार्य करो । दाय में अवसर न जाने पावे । हे दुर्भयिन ! युद्ध में यह निश्चय नहीं कि हमारी ही जीत होगी । युद्ध में एक जीतना है तो

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षतौ परस्परम् ।
 उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविष्व ॥ ५८ ॥
 तयोर्ह्यासीत्सुतुमुलः संप्रहारः सुदारुणः ।
 नखदंतायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५९ ॥
 अभिपत्याऽथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
 मातंग इव मातंगं प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ६० ॥
 स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
 तमाक्षिपत्कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः ॥ ६१ ॥
 तयोर्भुजविनिष्पेषाद्भयोर्बलिनोस्तदा ।
 शब्दः समभवद्घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ६२ ॥
 अथैनमाक्षिप्य बलाद्गृहमध्ये वृकोदरः ।
 धूनयामास वेगेन वायुश्चंड इव द्रुमम् ॥ ६३ ॥
 भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
 प्रास्पंदत यथा प्राणं विचकर्ष च पांडवम् ॥ ६४ ॥
 ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम् ।
 कीचको बलवान्भीमं जानुभ्यामाक्षिपद्भुवि ॥ ६५ ॥
 पातितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा ।
 उत्पपाताऽथ वेगेन दंडपाणिरिवांतकः ॥ ६६ ॥

भर भी अपने स्थान से नहीं हटते थे । वे परस्पर
 खींचकर, लिपटकर नहीं और दातों के प्रहार करते
 थे । ऐसा जान पड़ता था कि दो बली साड अथवा
 दो क्रोधित सिंह भिड़कर युद्ध कर रहे हैं । जिसके
 मद बह रहा हो ऐसा क्रोधित गजराज जैसे दूसरे
 गजराज पर झपटे वैसे ही कीचक एकाएक भीमसेन
 पर झपटा । ॥५६।६०॥

इस प्रकार बलपूर्वक कीचक के आक्रमण करने
 पर भीमसेन ने भी झपटकर वैसे ही उस पर चोट की ।
 किन्तु कीचक ने बलपूर्वक रेलकर भीमसेन को हटा

दिया । उन दोनों के हाथ मारने से बास फटने का सा
 भयानक शब्द होने लगा । अब भीमसेन ने बल पूर्वक
 कीचक को खींचकर इस तरह विचलित कर दिया
 जिस तरह आधी किसी बड़े पेड़ को हिलाकर ढीला
 कर देती है । कीचक युद्ध करते-करते थककर यद्यपि
 बेदम सा हो गया था, तो भी वह भारसक भीमसेन
 को खींचने लगा ॥६१।६४॥

क्रोध के मारे भिड़कर, भीमसेन को कुछ विच-
 लित कर, घुटनों की मार से उसने पृथ्वी पर गिरा
 दिया । एकाएक गिरकर भीमसेन तुरन्त वेग से दण्ड-

भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनंतरम् ।

सेनामुख्यान्व्यवस्थाप्य व्यूहितुं संप्रचक्रमे ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच—आचार्यमध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः ।

कृपः शारद्वतो धीमान्पार्श्वं रक्षतु दाक्षिणम् ॥ २२ ॥

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः ।

अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात्स्थास्यामि पालयन् ॥ २३ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे भीष्मसैन्यव्यूहे त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥५२॥

खाना कर दिया, फिर गाँव भेज दीं। फिर मेनापतियों को तैनात करके, व्यूहरचना कर्ण के लिए, वे द्रोण से कहने लगे—हे आचार्य! आप बीच में रहिए। अश्वत्थामा बायें ओर की और कृपाचार्य दाइने ओर

की रक्षा करें। सूतपुत्र कर्ण आगे बढ़कर अर्जुन को रोकने के लिए तैयार रहेंगे, और मैं सबके पीछे रहकर मैंभाले रहूँगा ॥२०॥२३॥

विराटपर्व का वाचनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथा व्यूहेष्वनीकेषु कौरवेषु भारत ।

उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥

ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् ।

दोधूयमानस्य भृशं गांडीवस्य च निःस्वनम् ॥ २ ॥

ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमत्रवीत् ।

महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गांडीवधन्विनम् ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच—एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः संप्रकाशते ।

एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥ ४ ॥

निरपनवां अध्याय ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! रथ के पहियों की घरघराहट से चारों दिशाओं को पूर्ण करते हुए मडावीर अर्जुन एकाएक कौरव-सेना के बीच में आ पहुँचे। कौरवों को उनकी ध्वजा का ऊपरी भाग स्पष्ट देख पड़ने लगा। गाण्डीव का और रथ के पहियों का शब्द साफ़-साफ़ सुन पड़ने लगा ॥१॥२॥

[आगे हुए अर्जुन को देखकर] गुरु द्रोणाचार्य कहने लगे—बड़ दम्पो, दूर से ही अर्जुन के रथ की पताका देख पड़ती है; रथ के पहियों का शब्द भी सुन पड़ना है। [ध्वजा के अग्रभाग में स्थित] वानर मडाभयङ्कर शब्द कर [कि सैनिकों को दहला] रहा है। रथ पर बैठे हुए अर्जुन चार-चार घनुप की

प्रग्रह्य तरसा दोर्भ्यां कंठं तस्य वृकोदरः ।
 अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशांतये ॥ ७६ ॥
 अथ तं भग्नसर्वांगं व्याविद्धनयनांवरम् ।
 आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम् ।
 अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ॥ ७७ ॥
 तं विपीदंतमाज्ञाय कीचकं पांडुनंदनः ।
 भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ७८ ॥
 अद्याऽहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम् ।
 शांतिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरधिकंतकम् ॥ ७९ ॥
 इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः ।
 अस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरंतमुद्ध्रांतनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज ८० ॥
 निष्पिप्य पाणिना पाणिं संद्रष्टौष्ठपुटं वली ।
 समाक्रम्य च संकुद्धो वलेन वलिनां वरः ॥ ८१ ॥
 तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः ।
 काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ॥ ८२ ॥
 तं संमथितसर्वांगं मांसपिंडोपमं कृतम् ।
 कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥
 उवाच च महातेजा द्रौपदीं योपितां वराम् ।
 पश्यैनमेहि पांचालि कामुकोऽयं यथा कृतः ॥ ८४ ॥

द्रौपदी का क्रोध शान्त करने के लिए कीचक को पटक-
 कर भीमसेन दोनों हाथों से उसका गला घोटने लगे ।
 ॥७९॥७६॥

अन्त को घुटने की चोट से उन्होंने उसकी कमर
 तोड़ डाली । हाथों से छाती की हड्डियाँ और पस-
 लिया तोड़ दी । इस प्रकार प्रहार करके भीमसेन ने
 उसे पशु की मौत मार डाला । जब कीचक सिसक
 रहा था तब उसके शरीरको धरती पर लथेड़कर भीमसेन
 कटने लगे--आज सैरग्री के जी का कांटा निकालकर

मैं भाई से उरिन हुआ, आज मुझे शांति मिली ।
 भीमसेन के प्रहार से कीचक के प्राण निकल गये । उस
 की आँखें ऊपर चढ़ गईं, वस्त्र और आभूषण हथ उभर
 गिर पड़े । देह ऐंठकर लकड़ी हो गई ॥७७॥८०॥

क्रोध के मारे दात चबाने लगे और हाथ से हाथ
 मसलते हुए भीमसेन ने फिर कीचक की लोथ पर
 आक्रमण करके, महादेवे ने जैसे गजासुर के सब अङ्ग
 शरीर के भीतर घुसेड़ दिये थे वैसे ही, हाथ-पाव
 आदि सब अङ्ग शरीर के भीतर घुसेड़कर उसे एक

गोपु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा ।
 दुर्योधनायाऽभिमुखं प्रयातं कुरुप्रवीराः सहसाऽभिपेतुः ॥ २ ॥
 तेषामनीकानि बहूनि गाढं व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि ।
 मत्स्यस्य पुत्रं द्विपतां निहंता वैराटिमांश्रय ततोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥
 एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमाञ्श्वेतान्हयान्कांचनरश्मियोक्त्रान् ।
 जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्नमासादयेऽहं कुरुसिंहवृन्दम् ॥ ४ ॥
 गजो गजेनैव मया दुरात्मा योद्धुं समाकांक्षति सूतपुत्रः ।
 तमेव मां प्रापय राजपुत्र दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ॥ ५ ॥
 स तैर्हयैर्वातजैर्वृहद्भिः पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
 व्यध्वंसयन्नद्रथिनामनीकं ततोऽवहत्पांडवमाजिमध्ये ॥ ६ ॥
 तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाटैः संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
 प्रत्युद्युर्भारतमापतंतं महाग्थाः कर्णमभीप्समानाः ॥ ७ ॥
 ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
 व्रातं रथानामदहत्समन्युर्वनं यथाऽग्निः कुरुपुंगवानाम् ॥ ८ ॥
 तस्मिन्स्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।
 विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो भीमेन भीमानुजमाससाद ॥ ९ ॥

ने जब देखा कि गायें राजा विराट की राजधानी को लौटी जा रही हैं और अर्जुन सफलता प्राप्त करके दुर्योधन की ओर बढ़े जा रहे हैं, तब वे एकाएक अर्जुन को रोकने के लिए उनकी ओर झपटे ॥१२॥

बहुतेरी विचित्र ध्वजाओं से शोभित कौरव-सेना के व्यूह को देखकर महावीर अर्जुन ने उत्तर से कटा—हे राजकुमार ! सुनहरी लगामोंवाले इन श्वेत घोड़ों को तुमन्त इस ओर बढ़ाओ, तो सहज ही इस कौरवों के व्यूह के पास पहुँचे । वह देखो, सूतपुत्र कर्ण मुझसे युद्ध करने के लिए तैयार खड़ा है । यह दुरात्मा, दुर्योधन का आश्रय पाकर, बल के घमण्ड

पर फूला हुआ है । तुम शीघ्र ही मेरा रथ इसके पास ले चलो ॥३॥५॥

तब विराटकुमार उत्तर, वायु के समान तेज़, श्वेत घोड़ों को बढ़ाकर शत्रुसेना का नाश करते हुए युद्ध के मैदान में पहुँचे । उधर चित्रसेन आदि धीर भी कर्ण की मदायता के लिए अर्जुन के ऊपर बाण बरसाने लगे पुरुषश्रेष्ठ वीर अर्जुन घनुप से छूटे हुए बाणों की अभि से, मदावन के ममान, शत्रुसेना को मम्म करने लगे ॥६॥८॥

इस प्रकार घोर संग्राम छिड़ जाने पर रथ पर चढ़ा हुआ विकर्ण अर्जुन के पास आकर टन पर

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
 काऽस्य ग्रीवा क चरणौ क पाणी क शिरस्तथा ।
 इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ॥ ९४ ॥

इति श्रीगन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

बना हुआ, कीचक मरा पड़ा है । उसकी यह दशा देखकर उन लोगों को दुःख भी हुआ और आश्चर्य भी । वे आपस में कहने लगे—मनुष्य तो कभी ऐसा अद्भुत काम नहीं कर सकता । देखो, इसके हाथ,

पांव, गर्दन आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग न जाने कहां चले गये हैं । अतएव निःसन्देह इसको गन्धर्वों ने ही मारा है ।
 ॥९१।९४॥

विराटपर्व का वार्दिसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्काले समागम्य सर्वे तत्राऽस्य बांधवाः ।
 रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समंततः ॥ १ ॥
 सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम् ।
 तथा संभिन्नसर्वांगं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ॥ २ ॥
 पोथितं भीमसेनेन तर्मिद्रेणेव दानवम् ।
 संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥
 ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः ।
 अदूराच्चाऽनवद्यांगीं स्तंभमालिंग्य तिष्ठतीम् ॥ ४ ॥
 समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः ।
 हन्यतां शीघ्रमसतीं यत्कृते कीचको हतः ॥ ५ ॥

तेईसवां अध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । यह सूचना पाकर कीचक के भाई-बन्धु वहां पर आ गये । वे कीचक की यह दशा देख, उसे चारों ओर से घेरकर, विलाप करने लगे । हे महाराज ! थल पर लाकर रखले गये कछुए की तरह कीचक की लोथ के मांस-पिण्ड को देखकर भय के मारे उन सबके

रोंगटे खड़े हो गये । इन्द्र के हाथ से मरे हुए वृत्रासुर के समान, भीमसेन के हाथ से मरे हुए कीचक का अन्वेषेष्टिसंस्कार करने के लिए वे लोग तैयारियां करने लगे । इसी समय उन्होंने देखा कि पतिव्रता द्रौपदी सामने का खम्भा पकड़े खड़ी हैं ॥१।४॥

उन्हें देखकर कीचक के भाई उपकीचक कहने

अथाऽस्य बाहूरुशिरोललाटं ग्रीवां वरांगानि परावमर्दी ।
 शितैश्च वाणैर्युधि निर्विभेद गांडीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ॥ ३५ ॥
 स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो गजो गजेनेव जितस्तरस्वी ।
 विहाय संग्रामशिरः प्रयातो वैकर्त्तनः पांडववाणततः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे कर्णापवांन चतु पचाशततमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

तरकस से मल्ल बाण निकालकर उनके प्रहार में कर्ण ने हारकर जी छोटकर भाग जाता है वैसे ही महावीर को विह्वल कर दिया । अर्जुन के तीक्ष्ण बाण कर्ण, कर्ण, वज्रप्रहार में भी कठिन बाणों की चोट से की मुजा, सिर, जाघ, मन्मथ, गरदन आदि सब अत्यन्त व्यथित होकर, युद्धभूमि छोड़कर भाग गया । अर्जुन में घुम गये । तब जैसे एक हाथी दूसरे हाथी ॥३१३६॥

विराटपर्व ना चौवनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

अथ पचपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन उवाच—अपयाते तु राधेय दुर्योधनपुरोगमाः ।
 अनीकेन यथास्वेन शनैराच्छन्त पांडवम् ॥ १ ॥
 बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्याऽऽपततः शरैः ।
 अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ॥ २ ॥
 ततः प्रहस्य वीभत्सुः कौतेयः श्वेतवाहनः ।
 दिव्यमखं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद्रथसत्तमः ॥ ३ ॥
 यथारश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम् ।
 तथा गांडीवनिर्मुक्तेः शरैः पार्थो दिशो दश ॥ ४ ॥
 न रथानां न चाऽश्वानां न गजानां न वर्मणाम् ।
 आनिविद्धे शितैर्वाणैरासीद् द्वयंगुलमंतरम् ॥ ५ ॥

पचपनवा अध्याय ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कर्ण के भाग जाने पर, अपनी-अपनी मेना माथ डिये हुए, दुर्योधन आदि वीर अर्जुन पर आक्रमण करके बाणों और से बाणों की वर्षा करने लगे । तटभूमि जैसे ममुद्र के वेग को रोक्ती है वैसे ही हमने हुए निडर अर्जुन ने उस कौरव-मेना के वेग को रोक लिया ।

अब वे अपने दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे । जैसे सूर्य की किरणें पृथ्वी पर मंदव फैल जाती हैं वैसे ही गाण्डीव धनुष में टूटे हुए बाण दलों दिशाओं में छा गये ॥११॥

अर्जुन अपने पैने बाणों में शत्रुओं के रथों की टांटेन और उनके हाथों-पोंटे आदि वाइनों की

वैशम्पायन उवाच—तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम् ।

श्रुत्वेवाऽभ्यपतद्भीमः शयनादविचारयन् ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच—अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरंध्रि भापिताम् ।

तस्मात्ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृम्भे जिघांसया ।

ततः स व्यायतं कृत्वा वेपं विपरिवर्त्य च ॥ १७ ॥

अद्वारेणाऽभ्यवस्कंध्य निर्जगाम बहिस्तदा ।

स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ॥ १८ ॥

श्मशानाभिमुखः प्रायाद्यत्र ते कीचका गताः ।

स लंघयित्वा प्राकारं निःसृज्य च पुरोत्तमात् ।

जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ॥ १९ ॥

चितासमीपे गत्वा स तत्राऽपश्यद्रनस्पतिम् ।

तालमात्रं महास्कंधं मूर्धशुष्कं विशांपते ॥ २० ॥

तं नागवद्दुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।

स्कंधमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ॥ २१ ॥

स तं वृक्ष दशव्यामं सस्कंधवितपं वली ।

प्रश्रद्धाऽभ्यद्रवस्सूतान्दंडपाणिरिवांऽतकः ॥ २२ ॥

को भय से व्याकुल कर देते हैं वे मेरी पुकार सुनें । सूतपुत्र मुझे जलने के लिए मसान की ओर लिये जा रहे हैं ॥१२।१४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा अनमेजय ! भीमसेन उस समय बिस्तर पर लेटे हुए थे । एकाएक द्रौपदी का आर्चनाद सुन पड़ते ही वे शीघ्र उठ खड़े हुए और कहने लगे कि हे भीरु ! सूतपुत्रों से तुम भयभीत होओ मत । तुम्हारी पुकार मैंने सुन ली है । अब क्या था, वे कीचक के भाइयों को मारने के लिए तैयार हो गये । देखते ही देखते उनका शरीर मानों बहुत अधिक बढ़ गया । उन्होंने अपना

वेग बदल लिया । फिर वे द्वार से न जाकर, दीवार पर चढ़कर, उसे अनायास लाध गये । राजमवन के बाहर कूदकर वे मसान की ओर दौड़े । नगर की चट्टारदीवारी लाधकर दौड़ते हुए वे सूतपुत्रों के सामने पहुँचे । ताड़ ऐसा ऊँचा और बहुत ही मोटा, ऊपर से सूखा, एक विशाल वृक्ष चिता के पास ही लगा हुआ था । उसे भीमसेन ने अपने बाहुबल के प्रभाव से उखाड़ लिया ॥१५।२०॥

उस वृक्ष को कन्धे पर रखकर और कर्मी घुमाते हुए भीमसेन, दण्ड हाथ में लिये यमराज की तरह वपकीचकों को मारने के लिए वेग से दौड़े । भीमसेन

सेदुः पार्थहृतानीत्र पार्थकर्मानुशासनात् ॥ ३० ॥
 ओपधीनां शिरांसीव द्विपच्छीर्षाणि सोऽन्वयात् ।
 अवंनेशुः कुरुणां हि वीर्याण्यर्जुनजान्द्रयात् ॥ ३१ ॥
 अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम् ।
 चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितांतराम् ॥ ३२ ॥
 लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्द्युतैः ।
 वभ्रुवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्तरश्मयः ॥ ३३ ॥
 साकं खं तत्क्षणेनाऽऽसीत्संध्यायामेव लोहितम् ।
 अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवसेत् न पाण्डवः ॥ ३४ ॥
 तान्सर्वान्समरे शूगः पौरुषे समवस्थितान् ।
 दिव्यैरस्त्रैश्चित्यात्मा सर्वानार्च्छदनुर्धरान् ॥ ३५ ॥
 स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत् ।
 दुःसहं दशभिर्वाणैर्द्रोणिमष्टाभिरेव च ॥ ३६ ॥
 दुःशामनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः ।
 भीष्मं शांतनवं पृथुया राजानं च शतेन ह ।
 कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ॥ ३७ ॥
 तस्मिन्विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे ।
 हताश्वसूने विरथे ततोऽनीकमभज्यन ॥ ३८ ॥

कार्य देखकर व्यथित भी हो गई ॥२७३०॥

पकी हुई फूल के भिरे जैसे झुक जाते हैं वैसे ही अर्जुन के मन से उत्साहहीन शत्रुओं के भिर झुकने लगे । अर्जुन के तेज और फुर्ती ने कौश्ल्य-पक्ष के तेज और उत्साह को कम कर दिया । बांधी के समान अर्जुन ने शत्रुओं के जत्रल को मथका रक्त-पवाह से पृथ्वी को लाल कर दिया । रक्त से सनी हुई धूल के कण वायु में उड़ने में सूर्य की किरणें भी लाल-लाल देख पड़ने लगी । उस समय आकाश मन्व्याकाल की लम्बाई में लाल सा जान पड़ने लगा ।

सूर्य भी अम्ताचल पर पहुंचकर लौट पड़ते हैं परन्तु अर्जुन युद्ध में हटते न देख पड़ते थे ॥३१॥३१॥ महाशूर पराक्रमी अर्जुन युद्ध में डटी हुई शत्रु-पक्ष की सेना के ऊपर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे । उन्होंने द्रोणाचार्य को विश्वाकर्षण बाण मारकर दुःसह की दम, अश्वत्थामा को आठ, दुःशामन को बारह, कृपाचार्य को तीन, भीष्म को साठ और दुर्योधन को एक भी बाण मारे । किन्तु शत्रुदमन अर्जुन ने कर्णों नामक बाण कर्ण के कान में मारा तथा उसके मारथी और पीछों को मारकर उसका

एवं ते निहता राजञ्शतं पंच च कीचकाः ।

स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत्सूतपद्शतम् ॥ ३३ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः ।

विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किञ्चन भारत ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

भय नहीं है। तुम आनन्द से नगर के भीतर जाओ। मैं भी दूसरी राह से पाकशाला में जाता हूँ ॥ २६।३१ ॥
वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय। इस प्रकार भीमसेन के हाथ से उपकीचक मारे गये और उनकी पत्नी हुई लोथों से वह मसान की भूमि, टूटे

हुए पेटों से पूर्ण, महावन के समान जान पड़ने लगी। बालक बूढ़े-जवान सब नगरवासी यह हाल सुनकर मसान में एकत्र होने लगे। वे इस अद्भुत घटना को देखकर आश्चर्य के मोरे सजाट में आ गये ॥ २३।३४ ॥

—०—

विराटपर्व का तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते दृष्ट्वा निहतान्सूतान्राज्ञे गत्वा न्यवेदयन् ।

गंधर्वैर्निहता राजन्सूतपुत्रा महाबलाः ॥ १ ॥

यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः ।

व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यन्ते तथा सूता महीतले ॥ २ ॥

सैरंध्री च विमुक्ताऽसौ पुनरायाति ते गृहम् ।

सर्वं संशयितं राजन्नगरं ते भविष्यति ॥ ३ ॥

यथारूपा च सैरंध्री गंधर्वाश्च महाबलाः ।

पुंसामिष्टश्च विपयो मैथुनाय न संशयः ॥ ४ ॥

यथा सैरंध्रीदोषेण न ते राजन्नदिदं पुरम् ।

विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ५ ॥

चौबीसवा अध्याय ॥ २४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय। इसके पदचात् सब नगरनिवासियों ने राजा विराट के पास आकर कहा—हे महाराज। गन्धर्वों के हाथ से बड़े वीर सूतपुत्र मारे गये। वज्रपात से फटे हुए पर्वत शिखर के समान वे पृथ्वी पर पड़े हुए हैं। छुटकारा पाकर

सैरन्ध्री भी घरको लौट आई है। जान पड़ता है कि आप का यह राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि सैरन्ध्री का रूप-स्वभाव असाधारण है, गन्धर्व भी महापराक्रमी हैं और पुरुषों की प्रवृत्ति भी स्वभाव से स्त्री-सङ्ग की ओर हुआ करती है। इसलिए यथाचित

सहोपायात्तदा राजन्विश्वामिभिरुतां गणैः ॥ ३ ॥
 तद्देवयक्षगंधर्व महोरगसमाकुलम् ।
 शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मंडलम् ॥ ४ ॥
 अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुंजताम् ।
 तच्च भीमं महद्युद्धं कृपार्जुनसमागमे ।
 द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥
 शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी ।
 मणिरत्नमयी चाऽन्या प्रासादं तदधारयत् ॥ ६ ॥
 ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ।
 विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा ॥ ७ ॥
 तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत्तिष्ठन्ति सहवासवाः ।
 गंधर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः ॥ ८ ॥
 तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः ।
 अष्टकश्च शिविश्वैव ययातिर्नहुषो गयः ॥ ९ ॥
 मनुः पूरु रघुर्मानुः कृशाश्चः सगरो नलः ।
 विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः ॥ १० ॥
 अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः ।
 तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च ॥ ११ ॥
 अलंबुपोप्रसेनानां गंधर्वस्य च तुंबुरोः ।

और अर्जुन का भयानक युद्ध देखने के लिए अधिनी-
 कुमार और विधेदेवा आदि देवताओं के साथ, दिव्य
 विमान पर बैठे हुए, इन्द्र आकाशमार्ग में आ गये ।
 देवता, यक्ष, गन्धर्व और नागों के मणिरत्न-सूचित
 असंख्य विमान आकाश में, मेघ से छुटे हुए प्रहों
 के समान, शोभा देने लगे । उनमें इन्द्र का, चाहे
 जहां जाने की शक्ति रखनेवाला, सब रत्नों में अलंकृत
 विमान और भी अधिक शोभित हुआ । आकाश-

मण्डल में वसु, रुद्र आदि तीनों देवता, गन्धर्व,
 राक्षस, नाग, सिद्ध, महर्षि और पितरों की भीड़ हो
 गई । राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिवि,
 ययाति, नहुष, गये, मनु, पूरु, रघु, मानु, कृशाध,
 सगर और नल आदि स्वर्ग-वासी नरेश भी उस समय
 आकाश में आ गये ॥११०॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता,
 विधाता, कुबेर, यम, तम्रमेन, अलम्बुप और तुम्बुरु

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम् ।

ददर्श राजन्पांचाली यथा मत्तं महाद्विपम् ॥ १४ ॥

तं विस्मयंती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत् ।

गंधर्वराजाय नमो येनाऽस्मि परिमोचिता ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच—ये पुरा विचरंतीह पुरुषा वशवर्तिनः ।

तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरंत्वतः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सा नर्त्तनागारे धनंजयमपश्यत ।

राज्ञः कन्या विराटस्य नर्त्तयानं महाभुजम् ॥ १७ ॥

ततस्ता नर्त्तनागाराद्विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः ।

कन्या ददृशुरायांतीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ॥ १८ ॥

कन्या ऊचुः—दिष्टया सैरंध्री मुक्तासि दिष्टयाऽसि पुनरागता ।

दिष्टया विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यंत्यनागसम् ॥ १९ ॥

पृहललोवाच—कथं सैरंध्री मुक्ताऽसि कथं पापाश्च ते हताः ।

इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ २० ॥

सैरंध्र्युवाच—बृहन्नले किं नु तव सैरंध्र्या कार्यमद्य वै ।

या त्वं वसासि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम् ॥ २१ ॥

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरंध्री यदुपाश्नुते ।

तेन मां दुखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव ॥ २२ ॥

नगर के भीतर पाकशाला के द्वार पर मस्त हाथी की तरह खड़े भीमसेन को देखकर द्रौपदी ने, इशारे के तौर पर, यह कहकर अपनी कृतज्ञा जताई कि जिन गन्धर्वराज ने इस विपत्ति से मुझे छुड़ाया है उनको मैं प्रणाम करती हूँ। भीमसेन ने भी इसके उत्तर में उसी तरह इशारे के तौर पर कहा—पहले से ही पुरुष (गन्धर्व) जिसके वश में होकर यहाँ निवास करते हैं उसी (सैरंध्री) के वाक्य सुनकर इस समय वे उरिन हो गये। अब आनन्द से रहें ॥१४१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रौपदी

जब नाट्यशाला के समीप पहुँचीं तब उन्हें देखकर राजपराने की लड़कियाँ, बृहन्नला (अर्जुन) को साथ लेकर, बाहर आईं और द्रौपदी से कहने लगीं—हे सैरंध्री! बड़े भाग्य की बात है कि तुम शत्रु के हाथ से छुटकारा पाकर सकुशल यहाँ लौट आईं। जो लोग बिना अपराध के तुमको क्रुश देने का यत्न कर रहे थे वे सूतगण भी सौभाग्यवश मारे गये ॥१७१९॥ बृहन्नला ने कहा—हे सैरंध्री! इस विपत्ति से तुम्हारा छुटकारा किस तरह हुआ और दुष्ट सूतपुत्र कैसे मारे गये! इसका व्यौग्य सुनने को मेरा जी

ततः पार्थस्तु संकुद्धश्चित्रान्मार्गान्प्रदर्शयन् ।
 दिशः संछादयन्वाणेः प्रदिशश्च महारथः ।
 एकच्छायमिवाऽऽकाशमकरोत्सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥
 प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम् ।
 स शौरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥
 तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमोजसम् ।
 अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥
 ततः कनकपर्वाद्यैर्वीरैः सन्नतपर्वाभिः ।
 त्वरन्गांडीवानिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
 चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत्परमेपुभिः ।
 ते हया निशितैर्वाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।
 उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाऽच्यवत् ॥ २३ ॥
 च्युतं तु गौतमं स्थानात्समीक्ष्य कुरुनंदनः ।
 नाऽविध्यत्परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥
 स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम् ।
 विव्याध दशभिर्वाणैस्त्वरितः कंकपत्रिभिः ॥ २५ ॥
 ततः पार्थो धनुस्तस्य भङ्गेन निशितेन ह ।
 चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाऽहरत् ॥ २६ ॥
 अथाऽस्य कवचं वाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः ।

छोड़ने लगे । कृपाचार्य ने अपने अपने वाणों से अर्जुन के चलाये, रक्त पीनेवाले, नाराच वाणों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले । फिर महावीर अर्जुन ने अत्यन्त क्रोधित हो पेंतड़े बदलकर अपने विचित्र वाणों से चारों दिशाओं को व्याप्त कर दिया और कृपाचार्य के ऊपर सैंकड़ों वाण चलाये ॥१७।१९॥

अग्नि की ली के समान प्रज्वलित अर्जुन के वाणों से घायल कृपाचार्य ने भी कुपित होकर अर्जुन के ऊपर दस हजार वाण चलाये और बिकट भिड़नाद

किया । महावीर अर्जुन ने भी अत्यन्त तीक्ष्ण चार वाण मारकर कृपाचार्य के रथ के चारों ओरों को घायल कर दिया । अग्नि जगलते हुए मणों के समान अर्जुन के वाण लगने से पेंतड़े व्याकुल होकर टटल पड़े । कृपाचार्य रथ से नीचे गिर पड़े ॥२०।२३॥

अर्जुन ने उस समय, अवसर पाकर भी, आचार्य के गौरव की रक्षा के लिए बार नहीं किया । कुपित कृपाचार्य ने शीघ्रता से दूसरे रथ पर चढ़कर अर्जुन को दस वाण मारे । अर्जुन ने तीक्ष्ण मद्द वाण से

तुम्हारा अलौकिक रूप है और गुण भी तुममें वैसे ही हैं । पुरुषों की प्रवृत्ति विषय-भोग की ओर अधिक हुआ करती है । उधर तुम्हारे स्वामी गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं । [इसलिए यहाँ तुम्हारे रहने से हम लोग किसी तरह चैन से नहीं रह सकते ।] ॥२६।२८॥

सैरन्ध्री ने कहा—हे भद्रे ! केवल तेरह दिन

विराटपर्व का चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

अथ गोहरणपर्व ।

अथ पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशांपते ।

अत्याहितं चिंतयित्वा व्यस्मयंत पृथग्जनाः ॥ १ ॥

तस्मिन्पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च संघशः ।

शौर्याद्धि बल्लभो राज्ञो महासत्वः स कीचकः ॥ २ ॥

आसीत्प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः ।

स हतः खलु पापात्मा गंधर्वैर्दुष्टपूरुषः ॥ ३ ॥

इत्यजल्पन्महाराज परानीकविनाशनम् ।

देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ॥ ४ ॥

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः ।

मृगयित्वा बहून्ग्रामान्प्राणि नगराणि च ॥ ५ ॥

संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।

कृतकृत्या न्यवर्तत ते चरा नगरं प्रति ॥ ६ ॥

पचीसवा अध्याय ॥ २५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । इस तरह कीचक और उपकीचकों के मोरे जाने पर सब लोग अत्यन्त शङ्कित, चिन्तित और विस्मित हुए । क्या राजा विराट की राजधानी में और क्या अन्य नगरों में, सर्वत्र यही चर्चा होने लगी कि दुर्गामा कीचक अपनी शूरवीरता के प्रभाव से महाराज विराट

का परम प्रिय सेनापति था । वह परस्त्रीगामी और पापी था । गन्धर्वों की प्यारी स्त्री को प्राप्त करने की चेष्टा करने के कारण वह उन्हींके हाथों मारा गया ॥ १४ ॥

पांडवों का पता लगाने के लिए राजा दुर्योधन ने पहले से ही बहुत से गुप्तचर इधर-उधर भेज रखे थे । बहुत से गावों, राज्यों और नगरों में पता लगाने

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम् ।
 भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥
 स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति ।
 भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत्प्रभाम् ॥ २९ ॥
 पार्थ च सुमहाबाहुर्महावेगोर्महारथः ।
 विव्याध निशितैर्वाणैर्मैघो वृष्टयेव पर्वतम् ॥ ३० ॥
 तथैव दिव्यं गांडीवं धनुरादाय पांडवः ।
 शत्रुघ्नं वेगवान्हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
 विससर्ज शरांश्चित्रान्सुवर्णविकृतान्वहून् ।
 नाशयञ्शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान् ।
 तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतामिवाऽभवत् ॥ ३२ ॥
 स रथेन चरन्पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः ।
 युगपद्दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
 एकच्छायमिवाऽऽकाशं वाणैश्चक्रे समंततः ।
 नाऽदृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥
 तस्याऽभवत्तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः ।
 जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥
 दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम् ।
 स विस्फार्य धनुः श्रेष्ठं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ ३६ ॥

अर्जुन को पायल करने लगे । द्रोणाचार्य के चक्रायु
 चमकीले तेज वाणों से सूर्य की प्रभा छिप गई ।
 जैसे मेघ वर्षा की दूँदों में पर्वत को छा लेते हैं वैसे
 ही महावीर अर्जुन पर द्रोणाचार्य तीक्ष्ण वाणों की
 वर्षा कर रहे थे । प्रमत्तचित्त अर्जुन गाण्डीव धनुष
 चढ़ाकर सुवर्ण-भाण्डित विचित्र वाणों से द्रोणाचार्य
 के वाणों की वर्षा को रोकने लगे । अर्जुन के धनुष
 से निकले हुए वाण-जाल अद्भुत काम कर रहे थे ।

रथ पर सवार अर्जुन, इधर-उधर विचरकर, चारों
 ओर अस्त्र-विद्या का प्रमाण दिखा रहे थे ॥२७॥३२॥
 उस समय आकाशमण्डल में वाण ही वाण
 छा गये । द्रोणाचार्य मानों कुहरे के भीतर छिपकर
 अदृश्य हो गये । चारों ओर अग्नि लगने में जैसा
 पर्वत देव पड़ता है वैसे ही अर्जुन के वाणों से छाये
 हुए द्रोणाचार्य जान पड़ने लगे ॥३३॥३५॥
 युद्धचतुर द्रोणाचार्य, अपने रथ को अर्जुन के

नदीकुंजेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
 आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ॥ १२ ॥
 अथाऽग्रजानंतरजः पापभावानुरागवान् ।
 ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ॥ १३ ॥
 येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप ।
 ते यांतु दत्तदेया वै भूयस्तान्परिमार्गितुम् ॥ १४ ॥
 एतच्च कर्णो यत्प्राह सर्वमीहामहे तथा ।
 यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयंतु यतस्ततः ॥ १५ ॥
 एते चाऽन्ये च भूयांसो देशाद्देशं यथाविधि ।
 न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ॥ १६ ॥
 अत्यंतं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः ।
 व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥ १७ ॥
 अथवा विपमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
 तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनंदन ।
 कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

पट्टचानते हैं वे अपने को बहुत ही छिपाकर नदी, कुंज, तीर्थ, गांव, नगर, रमणीय आश्रम, पर्वत, गुफा आदि स्थानों में जाकर छिपे हुए पाण्डवों का पता लगावें ॥८१२॥

इसके पश्चात् दुःशासन ने बड़े भाई दुर्योधन से कहा—हे महाराज ! जासूसों में जो लोग हमारे अधिक विश्वासपात्र हैं उन्हें, उनके योग्य पुरस्कार देकर, फिर पाण्डवों का पता लगाने को भेजिए । और, कर्ण ने जो उपाय बताया है उसे हम सभी

ठीक समझते हैं । अन्यान्य जासूस, कर्ण के बताये हुए स्थानों में जाकर, पाण्डवों के रहने का रङ्ग-दङ्ग और कामकाज देखें । मेरी समझ में पाण्डव या तो कहीं गुप्त रूप से रहते हैं और या समुद्र-पार चले गये हैं; अथवा घने जङ्गल में भयानक सूती जानवर उनको खा गये हैं; या घोर दुर्दशा में पड़कर दुःखित हो उठेंगे स्वयं अपनी जान दे दी है । इसलिए हे कुरु-श्रेष्ठ ! आप व्याकुल न होकर हृदय में उत्साह लावें और अपने कर्तव्य का ध्यान रखकर कार्य करें ॥१३।१८॥

विराटपर्व पा छव्यासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

हयानस्याऽर्जुनः सर्वान्कृतवानल्पजीवितान् ।
 ते राजन्न प्रजानंत दिशं कांचन मोहिताः ॥ ५ ॥
 ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः ।
 विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह ।
 तदस्याऽपूजयन्देवाः कर्म दृष्ट्वाऽतिमानुषम् ॥ ६ ॥
 द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः ।
 साधु साध्विति भापंतोऽपूजयन्कर्म तस्य तत् ॥ ७ ॥
 ततो द्रौणिर्धनुःश्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम् ।
 पुनरेवाऽहनत्पार्थ हृदये कंकपत्रिभिः ॥ ८ ॥
 ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत्तदा ।
 योजयामास नवया मौर्व्या गांडीवमोजसा ॥ ९ ॥
 ततोऽर्धचंद्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत् ।
 वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः ॥ १० ॥
 ततः प्रवृत्ते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः ।
 रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ ११ ॥
 तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः ।
 युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ ॥ १२ ॥
 तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुपर्यभौ ।

हो जाने से अन्धे का फैल गया। जलते हुए बाण की
 पेरों फटने का सा बाणों के परस्पर टकराने का 'नद-
 चट' शब्द सुन पड़ने लगा ॥१।१॥

अर्जुन ने अधर्यामा के घोड़ों को इतने बाण
 मारे कि वे बहुत ही पीड़ित और व्याकुल होकर यह
 जानने में अममर्थ हो गये कि उन्हें किधर जाना
 होगा। इधर महापराक्रमी अधर्यामा ने अवसर पाकर
 तीक्ष्ण क्षुर बाण से गाण्डोव धनुष की डोरी काट
 डाली। अधर्यामा के इस अनीतिक काम को देख-
 कर देवता उनकी प्रशंसा करने लगे। इधर द्रोणाचार्य,

कृपाचार्य, भीष्म और कर्ण ने भी अदकत्यामा को
 खूब शाबाश दी। फिर अधर्यामा ने अपना श्रेष्ठ
 धनुष खींचकर अर्जुन के हृदयमें अनेक बाण मारे ॥५॥८॥

महाबाहु अर्जुन ने ईसते हुए उन प्रहारों को
 मद् लिया। उन्होंने गाण्डोव की ज़ोर से झुकाकर
 उस पर दृमरी डोरी चढ़ाई। जैसे यूधरति गजराज
 किसी मन्द हाथी से युद्ध कर बैभे ही अर्जुन फिर
 गाण्डोव धनुष लेकर अधर्यामा में भिड़ गये। दोनों
 वीरों के बाण कुद हुए सगों की तरह प्रचलित थे।
 उनके द्वारा युद्ध करनेवाले दोनों महावीरों के युद्ध

विज्ञाय कियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे ।

ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्यै चाऽन्ये तद्विदो जनाः ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

की प्रतिज्ञा की है उसके समाप्त होने के पहले ही तुमको जो करना हो सो कर लो । इस समय पाण्डव लोगों के रहने के स्थान का पता लगाने में ही श्रेय है । किन्तु वे तपस्वी, शूर, दुर्ज्ञेय, और दुर्दर्भ हैं तथा तेजस्वी युधिष्ठिर स्वभाव से ही विशुद्ध-हृदय, नीतिमान् और सत्यपरायण हैं । इसलिए साधारण

लोग उनका पता न लगा सकेंगे । जो ब्राह्मण जाति के जासूस अनुभवी और अपने काम में चतुर हैं— पाण्डवों के आकार-प्रकार और स्वभाव से भली भांति परिचित हैं—उन्हें फिर पाण्डवों का पता लगाने के लिए भेजा ॥६॥१०॥

—०—

विराटपर्व का सत्तार्दसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शांतनवो भीष्मो भरतानां पितामहः ।

श्रुतवान्देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १ ॥

आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत् ।

हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान्प्रति ॥ २ ॥

युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम् ।

असस्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाऽभिमतां सदा ॥ ३ ॥

भीष्मः समं वदत्तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम् ।

यश्चैव ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ।

तद्वाक्यमभिनन्दामि न मे तत्र विचारणा ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसंपन्नाः साधुव्रतसमन्विताः ।

श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ॥ ५ ॥

अष्टार्दसवा अध्याय ॥ २८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रोणाचार्य की बातें समाप्त होने पर देश-कालज्ञ, सब धर्मों के जानकार, भरतकुल के पितामह, भीष्मजी ने द्रोणाचार्य के कथन की पुष्टि करके कहा—हे कौरवो ! सब विषयों के ज्ञाता हूँ द्रोणाचार्य ने पाण्डवों के बारे में जो वचन कहा सो धर्ममङ्गल, साधुसम्मत

और आदरणीय है । मैं बिना किसी सन्देह के इनकी बातों का अनुमोदन करता हूँ । सब सुलक्षणों से युक्त, सच्चरित्र, सदाचारी, बड़े वृद्धों की बात मानकर चलनेवाले पांचों पाण्डव वीर पुरुष, पराक्रमी, क्षत्रियों के धर्म में दृढ़ और श्रीकृष्णचन्द्र के कहे में हैं । वे सज्जनों के मार्ग पर आरूढ़ हैं । इस कारण वे किसी

अथ पट्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

अजुन उवाच—कर्ण यत्ते सभामध्ये बहु वाचा विकल्पितम् ।
 न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ॥ १ ॥
 सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
 ज्ञास्यस्यवलमात्मानं न चाऽन्यानवमन्यसे ॥ २ ॥
 अत्रोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
 इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥
 यत्त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किञ्चन ।
 तद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥
 यत्सभायां स पांचालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
 दृष्टवानासि तस्याऽद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥
 धर्मपाशनिवद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
 तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥
 वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
 तस्याऽद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि संप्रति ॥ ७ ॥
 एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व संगरे ।
 प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

साठवा अध्याय ॥ ६० ॥

अजुन ने कहा—हे कर्ण ! पहले कौरवों की सभा में तुमने बड़े अहङ्कार के साथ कहा था कि पृथ्वी पर मेरे समान कोई योद्धा नहीं है । अब यह युद्ध का समय आ गया है । आओ, मुझसे युद्ध करो । तुम्हें अपने पराक्रम की खाह लग जायगी और फिर तुम कभी इस तरह किसी का अपमान न करोगे । हे राधा के पुत्र ! तुमने धर्म का विचार न करके सदा निरे कठोर वचन कहे हैं । इस समय तुम्हारा वह अभिप्राय पूर्ण होना कठिन जान पड़ता है । तुम्हें मेरे पीछे दुर्बोधन आदि कौरवों से जो बातें कही

हैं—जो डींग मारी है—उन्हें इस समय मेरे साथ, कौरवों के आगे, पूरा करके दिला ॥१।४॥

जिस समय दुष्ट कौरव गरी सभा में द्रौपदी का अपमान कर रहे थे उस समय तुम बड़े आनन्द से द्रौपदी की दुर्दशा देख रहे थे । इस समय तुम उसका उचित फल पावोगे । मैं उस समय धर्म—प्रतिज्ञा—के बन्धन में बंधा हुआ था, इससे सब कुछ सहता रहा । इस समय अपने उसी कोप को मैं सफल करूँगा । हे दुष्टजुद्धि ! बारह वर्ष वन में रहकर हम लोगों ने जिन कठिन क्लेशों को सहा है उनका

नाऽहं शक्यामि वीरेह नियंतुं ते हयोत्तमान् ।
 विपीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥
 अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः संप्रयुज्यताम् ।
 त्वया च कुरुभिर्श्चैव द्रवंतीव दिशो दश ॥ ५ ॥
 गंधेन मूर्च्छितश्चाऽहं वसारुधिरमेदसाम् ।
 द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥
 अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः ।
 गदापातेन महता शंखानां निःस्वनेन च ॥ ७ ॥
 सिंहनादैश्च शूराणां गजानां वृंहितैस्तथा ।
 गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च ।
 श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रनष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥
 अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया ।
 व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता ।
 दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥
 वपुश्चोद्यं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः ।
 व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥
 नाऽऽददानं न संधानं न मुंचतं शरोत्तमान् ।
 त्वामहं संप्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

प्रभाव से जहा देखो तहा रक्त की नदिया बहने लगी हैं । चर्बी, रक्त और मेदा की दुर्गन्धि से मैं अचेत-सा होता जाता हूँ । इन अरौकिक घटनाओं को देखकर मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है । मैंने युद्ध-भूमि में कभी ऐसा वीरों का जमघट नहीं देखा । गदाओं के शब्द, राहूनाद, सिंहनाद, हाथी-घोड़ों के दारुण शब्द और वज्रपात-सुल्य गाण्डीव धनुष के मयानक शब्द से मेरे कान बहरे से हुए जा रहे हैं, स्मरणशक्ति काम नहीं देती । अलातचक्र (जलती हुई लकड़ी घुमाने से जो अग्नि का चक्र सा बन

जाता है उस) के समान गाण्डीव धनुष को आप लगातार घुमा रहे हैं । उसे देखकर मेरी आँखें चौंधिया रही हैं और हृदय फटा सा जा रहा है । कोपित शङ्कर के समान आपकी भयङ्कर मूर्त्ति और महाभुजाओं को देखकर मैं बहुत ही भयभीत हो रहा हूँ ॥११॥

मुझे कुछ भी नहीं जान पड़ता कि आप कब तरकप से बाण निकालते हैं, कब धनुष पर चढ़ाते और कब धनुष को छोड़ते हैं । युद्ध में आप की फुर्ती देखकर मैं अचेत सा हो रहा हूँ । मुझे

निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन्वै त्रयोदशे ।
 तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसांप्रतम् ॥ १४ ॥
 पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
 दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिपेवकः ।
 जनो जनपदे भाव्यो तत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
 प्रियवादी सदा दांतो भव्यः सत्यपरो जनः ।
 हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
 नाऽसूयको न चाऽपीर्षुर्नाऽभिमानी न मत्सरी ।
 भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥ १७ ॥
 ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च ।
 क्रतवश्च भविष्यंति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ॥ १८ ॥
 सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः ।
 संपन्नसस्या च मही निरातंका भविष्यति ॥ १९ ॥
 गुणवंति च धान्यानि रसवंति फलानि च ।
 गंधवंति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ॥ २० ॥
 वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम् ।
 न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥
 गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः ।
 पयांसि दधिसर्षीपि रसवंति हितानि च ॥ २२ ॥

या जनपद में रहते होंगे वहा के राजाओं का अमङ्गल
 किसी तरह नहीं हो सकता । राजा युधिष्ठिर जहा
 रहते होंगे वहा के सब लोग दानी, प्रिय वचन बोलने-
 वाले, लोकलज्जा का खयाल रखनेवाले, जितेन्द्रिय,
 सत्यवादी, हृष्ट पुष्ट, विशुद्धहृदय और अपने धर्म पर
 अनुराग रखते होंगे । वे कभी ईर्ष्या परवश, पराई
 बढ़ती देखकर कुदनेवाले, अभिमानी या मात्सर्ययुक्त
 नहीं होंगे । युधिष्ठिर के निवासस्थान में सदा वेद
 पाठ की ध्वनि सुन पड़ती होगी, पूर्णाहुति और बहुत

सी दक्षिणावाले अनेक प्रकार के यज्ञ होते होंगे ।
 ठीक समय पर खूब जल बरसता होगा । पृथ्वी अन्न
 से दही भरी और भयरहित होगी । सब अन्न रसिले
 होंगे । फलों में गुण होंगे । पुष्पमालाएँ सुगन्धित
 होगी । लोगों के वचन शुभ शब्दों से युक्त होंगे ।
 शीतर, मन्द, सुगन्ध रायु चलती होगी । कोई किसी
 का विरोधी न होगा ॥११२०॥

भय नाम लेने को न होगा । गाय आदि उप-
 योगी पशु सबल होंगे और उनकी बढ़ती होगी ।

दुःशासनस्तु भङ्गेन विध्वा वैराट्मुत्तरम् ।
 द्वितीयेनाऽर्जुनं वीरः प्रत्यविध्यस्तनांतरे ॥ ३८ ॥
 तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम् ।
 चकर्त्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥
 अथैनं पंचसिः पश्चात्प्रत्यविध्यस्तनांतरे ।
 सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थवाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥
 तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्वागैः ।
 विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराजपूजः ॥ ४१ ॥
 ततस्तमपि कौतेयः शरेणाऽऽनतपर्वणा ।
 ललाटेऽभ्यहनचूर्णं स विद्धः प्रापतद्रथात् ॥ ४२ ॥
 ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविर्विशतिः ।
 अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुभ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥
 तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
 विध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥
 तौ हताश्वौ विभिन्नांगौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
 अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥
 सर्वा दिशश्चाऽभ्यपतद्गीभत्सुरपराजितः ।
 किरीटमाली कौतेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोह्वरणपर्वणि उत्तरगोपदे अर्जुनदुःशासनादिपुद्धे एकपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

विविशति, इन चारों वीरों ने आकर एकाएक अर्जुन पर आक्रमण किया। दुःशासन ने उत्तर के ऊपर एक भल्ल नाम का बाण चलाया। साथ ही और एक तीक्ष्ण बाण छाती में मारकर अर्जुन को घायल कर दिया। तब अर्जुन ने तीक्ष्ण धारवाले गृध्रपत्र-मूषित बाण से दुःशासन का घनुष काट डाला। साथ ही हृदय में पांच बाण मारकर उसके घायल कर दिया। अर्जुन के बाणों से पीड़ित हो, युद्ध छोड़कर, दुःशासन भाग गया ॥३६॥४०॥

तब महावीर विकर्ण अर्जुन के ऊपर गृध्रपत्र-मूषित तीक्ष्ण बाण बरसाने लगा। अर्जुन ने शीघ्र ही एक अद्वयत तीक्ष्ण बाण विकर्ण के मस्तक में मारा। उसके लगते ही वह अचेत होकर रथ से नीचे गिर पड़ा। दुःसह और विनिशति दोनों, विकर्ण की जान बचाने के लिए, अर्जुन, के ऊपर तीक्ष्ण बाण बरसाने लगे। महावीर अर्जुन ने भी गृध्रपत्र-मूषित पाँच बाणों से उनके घोड़ों को मारा और उन्हें भी घायल कर दिया। उन दोनों वीरोंके पादवर्णक भेजिक

ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथाऽऽर्जवम् ।

तस्मात्त्र निवासं तु च्छन्नं यत्नेन धीमतः ।

गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥ ३२ ॥

एवमेतत्तु संचित्य यत्कृते मन्यसे हितम् ।

तत्क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्धासि मे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभरते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

सकते, फिर साधारण मनुष्य किस तरह जान सकेंगे ? इसलिए हे राजेन्द्र ! जिन सद्गुणों और सुलक्षणों से युक्त स्थानों का उद्देश्य मैंने किया है वैसे ही स्थानों में कहीं पर बुद्धिमान् युधिष्ठिर, वेप बदले हुए, रहते होंगे । मैं इतना ही कह सकता हूँ । इसके सिवा

और तरह का अनुमान करने को मेरा जी नहीं चाहता । हे कौरव ! अब यदि मेरी बात पर, जो मैंने युधिष्ठिर के अज्ञातवास के सम्बन्ध में कही है, तुम्हें श्रद्धा हो तो अच्छी तरह विचार करके जो अपने लिए हित समझो वह करने का उपाय करो ॥२६।३॥

विराटपर्व का आठवेंसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।

युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान्प्रति भाषितम् ॥ १ ॥

धर्मार्थसहितं श्रुक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।

तत्राऽनुरूपं भीष्मेण ममाऽप्यत्र गिरं शृणु ॥ २ ॥

तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिंत्यताम् ।

नीतिर्विधीयतां चापि सांप्रतं या हिता भवेत् ॥ ३ ॥

नाऽवज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूपता ।

किं पुनः पाण्डवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे ॥ ४ ॥

उनतीसवां अध्याय ॥ २९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब कृपाचार्य ने कहा—हे तात दुर्योधन ! कुरुवंश के वृद्ध पितामह भीष्म ने पाण्डवों के बारे में जो कुछ कहा वह युक्तिसङ्गत, धर्म और अर्थ के अनुकूल, कारणयुक्त और मनोहर भी है । मैं भी भीष्म के समान कुछ कहता हूँ, सुनो । इस समय पाण्डवों के

गुप्त रहन-सहन और अज्ञातवास के बारे में विचार करना और पता लगाना जैसे आवश्यक है वैसे ही नीति का आश्रय लेकर यथोचित रूप से दित का विचार भी करना चाहिए । हे राजेन्द्र ! देश-काल का अच्छा और पूरा ज्ञान रखनेवाले पाण्डवों की कौन कहे, बुद्धिमान् लोग साधारण शत्रु को भी, कभी, तुच्छ

अथ त्रिपष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती ।
 द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥ १ ॥
 पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः ।
 विस्फारयंतश्चापानि बलवंति दृढानि च ॥ २ ॥
 तान्त्रिकीर्णपताकेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
 प्रत्युद्ययौ महाराज समंताद्धानरध्वजः ॥ ३ ॥
 ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः ।
 तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ॥ ४ ॥
 शरौघान्सम्यगस्यंतो जीमूता इव वार्षिकाः ।
 ववर्षुः शरवर्षाणि पातयंतो धनंजयम् ॥ ५ ॥
 इयुर्भिवर्षुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः ।
 अदूरात्पर्यवस्थाप्य प्रूरयामासुरादृताः ॥ ६ ॥
 तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समंततः ।
 न तस्य द्वयंगुलमपि विवृतं संप्रदृश्यते ॥ ७ ॥
 ततः प्रहस्य वीभत्सुर्दिव्यमैंद्रं महारथः ।
 अस्त्रमादित्यसंकाशं गांडीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥
 शररश्मिरीवाऽऽदित्यः प्रतस्थे समरे वली ।
 किरीटमाली कौंतेयः सर्वान्प्राच्छादयत्कुरून् ॥ ९ ॥

त्रैमठवा अध्याय ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । तब दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, द्रोणाचार्य, अध्वर्यामा, कृपाचार्य आदि सब महारथी अर्जुन को मारने के लिए धनुष चढ़ा-चढ़ाकर उनकी ओर चले । उधर सूर्य के समान प्रतापी और प्रगाढ़शाली अर्जुन, फटाराती हुई पताका में शोभित रथ पर चढ़कर, उक्त महावीरों की ओर बढ़े ॥१॥३॥

योद्धी ही दूर पर खड़े कृपाचार्य, कर्ण और

महारथी द्रोण ने अर्जुन के ऊपर, वर्षाकाल के बादलों की तरह, ऐसी वर्षा की वर्षा की कि अर्जुन का शरीर कहीं पर दो अंगुल भर भी कौरव नहीं रह गया । सब जगह वर्षा के घाव थे । तब महारथी अर्जुन ने हँसते-हँसते धनुष पर ऐन्द्र अस्त्र चढ़ाया । उस अस्त्र का तेज सूर्य के समान था । अर्जुन ने उसी अस्त्र से कौरवपक्ष के सब वीरों को परास्त कर दिया । उस समय अर्जुन के हाथ में गाण्डीव धनुष

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।

अन्यैस्त्वं पांडवैर्वापि हीनैः स्वबलवाह्नैः ॥ १३ ॥

एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।

यथाकालं मनुष्येन्द्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारुप्रत्यापचारे कृपवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥२९॥

बढ़ा लेने पर अवश्य ही तुम सफलता और विजय पाने में समर्थ होंगे । हे राजेन्द्र ! इस प्रकार कोप और बल बढ़ाकर तुम अपने को समृद्धिशाली बना लोगे तो तुमसे कम सहायक और धन रखनेवाले

पाण्डव हों या और कोई प्रबल शत्रु हो, सबसे युद्ध कर सकोगे । तात्पर्य यह है कि धर्म के अनुसार इन सब कामों को कर लोगे तो यथासमय सदा के लिए सुख के अधिकारी बन जाओगे ॥११११४॥

विराटपर्व का वनतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः ।

प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥ १ ॥

असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो ।

सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ॥ २ ॥

वाधितो बंधुभिः सार्द्धं बलाद्बलवतां विभौ ।

स कर्णमभ्युदीक्ष्याऽथ दुर्योधनमभापत ॥ ३ ॥

असकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं वाधितमोजसा ।

प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत्पुरा ॥ ४ ॥

क्रूरोऽमर्षी सुदुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः ।

निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥ ५ ॥

तीसवां अध्याय ॥ ३० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! [पहले दुरात्मा कीचक ने मत्स्य और शाल्व देश की सेना को साथ लेकर भार्द-बन्धुओं सहित त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा को कई बार हराया था ।] इस समय उपयुक्त अवसर देखकर सुशर्मा ने कर्ण की ओर देखा

और दुर्योधन से कहा—महाराज ! मत्स्यनेरेश विराट ने कीचक की सहायता से कई बार मेरे राज्य पर आक्रमण करके मुझे हराया है । इस समय वह दुरात्मा क्रूर कीचक बली गन्धर्वों के हाथ से मार डाला गया है ॥११५॥

कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ॥ २० ॥

ऋते शांतनवाद्भीष्मात्कृष्णाद्वा देवकीसुतात् ।

आचार्यप्रवराद्वाऽपि भारद्वाजान्महाबलात् ॥ २१ ॥

अश्वैरस्त्राणि संवार्य क्रीडंतौ भरतर्षभौ ।

चक्षुंषि सर्वभूतानां मोहयंतौ महाबलौ ॥ २२ ॥

प्राजापत्यं तथैवेन्द्रमाश्रेयं रौद्रदारुणम् ।

कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च ।

प्रयुंजानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥ २३ ॥

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा ।

साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाऽनुवन् ॥ २४ ॥

नाऽयं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान् ।

महास्त्राणां संप्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं सर्वास्त्रविदुपोरस्त्रयुद्धमवर्त्तत ।

अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्त्तत ॥ २६ ॥

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।

चकर्त्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत्कार्मुकं रणे ।

समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।

अर्जुन से युद्ध करके भीष्म पितामह सचमुच बड़ा कठिन कार्य कर रहे थे । क्योंकि भीष्म वृद्धे थे, और अर्जुन थे नौजवान और फुटीले । श्रीकृष्ण, द्रोणाचार्य और कुरु पितामह [बालभद्राचार्य] भीष्म के सिवा और कौन वीर अजेय अर्जुन के वेग को रोक सकता था ! ॥२७२१॥

हे महाराज ! फिर वे दोनों कुरुकुल के वीर परस्पर अस्त्र-शस्त्र चलाकर युद्धक्रीड़ा करने लगे । उनके वल अद्भुत युद्ध और दिव्य अस्त्रों को देख-कर लोगों के अचरज का ठिकाना न रहा । वे परस्पर

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आश्रेय, पाशुरत, कौबेर, वारुण, याम्य, वायव्य आदि दिव्य अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे । उस समय कोई "शाबाश अर्जुन !" कहता था, और कोई "धन्य भीष्म" कहता था । चारों ओर यही सुन पड़ता था कि हमने भीष्म और अर्जुन का सा दारुण युद्ध और कभी नहीं देखा ॥२३।२५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! फिर सब अस्त्रों के ज्ञाता दोनों वीर परस्पर प्रहार करते हुए अपने-अपने युद्ध-कौशल और अस्त्र शिक्षा का परिचय देने लगे । इसी बीच में अर्जुन ने एक पने

तस्मात्क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम् ।
 विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ ॥ १५ ॥
 प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः ।
 आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा ।
 मन्यन्ते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम् ॥ १६ ॥
 संमन्त्र्य चाऽऽशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः ।
 किं च नः पांडवैः कार्यं हीनार्थवलपौरुषैः ॥ १७ ॥
 अत्यंतं वा प्रनष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम् ।
 यामो राजन्निरुद्धिशा विराटनगरं वयम् ।
 आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ॥ १८ ॥
 ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत् ।
 वैकर्त्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत्स्वयम् ॥ १९ ॥
 शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनंतरम् ।
 सह वृद्धैस्तु संमन्त्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ॥ २० ॥
 यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः ।
 सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः ।
 त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ॥ २१ ॥
 प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।
 जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसांतरे ।
 विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ॥ २२ ॥
 ते यांतु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ।
 क्षिप्रं गोपान्समासाद्य गृह्णंतु विपुलं धनम् ॥ २३ ॥

धन, बल और पौरुष से हीन पाण्डवों को व्यर्थ खोजने का क्या प्रयोजन है ? वे सदा के लिए देश छोड़कर भाग गये हैं, अथवा यमपुरी पहुँच गये हैं। इसलिए हम लोग बेखटके पाण्डवों का पीछा छोड़कर विराट के नगर पर आक्रमण कर सकते हैं। [वहा अवश्य

हमारी जीत होगी और] हम धन, रत्न, गोधन आदि लूट लावेंगे ॥ ११११८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कर्ण की सम्मति को पसन्द करके राजा दुर्योधन ने अपने भाई दुःशासन को तुलन्त आज्ञा दी कि तुम लोग

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
 अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ समो समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ६ ॥
 ततः प्रभिन्नेन महागजेन महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
 रथेश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः कुंतीसुतं जिष्णुमथाऽभ्यधावत् ॥ ७ ॥
 तमापतंतं स्वरितं गजेन्द्रं धनंजयः कुंभविभागमध्ये ।
 आकर्णपूर्णेन महायसेन वाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ८ ॥
 पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र आपुंखदेशात्प्रविवेश नागम् ।
 विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं यथाऽशानिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ॥ ९ ॥
 शरप्रतप्तः स तु नागराजः प्रवेपितांगो व्यथितांतरात्मा ।
 संसीदमानो निपपात मर्त्यां वज्राहतं शृंगमिवाऽचलस्य ॥ १० ॥
 निपातिते दंतिवरे पृथिव्यां त्रासाद्विकर्णः सहसाऽवतीर्य ।
 तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा विविंशतेः स्पंदनमारुरोह ॥ ११ ॥
 निहृत्य नागं तु शरेण तेन वज्रोपमेनाऽद्रिवरांबुदाभम् ।
 तथाविधेनैव शरेण पार्थो दुर्योधनं वक्षसि निर्विभेद ॥ १२ ॥
 ततो गजे राजनि चैव भिन्ने भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
 गांडीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्नास्ते योधमुख्याः सहसाऽपजग्मुः ॥ १३ ॥

क्रोध के मारे अधीर हो बैठे। तब वे गाण्डीव धनुष पर [विष और अभि के समान दुर्दुर्ष पाणनासक] बाण चढ़ाकर दुर्योधन पर प्रहार करने लगे। दुर्योधन भी उन पर लगातार बाण चलाते लगा। इस प्रकार जिस समय अर्जुन और दुर्योधन से युद्ध हो रहा था उसी समय वीर विकर्ण भी पर्वत-सदृश ऊंचे एक मन्द हाथी पर चढ़कर बड़े बड़े बाण अर्जुन की ओर चला। इस हाथी के चारों पावों की रक्षा के लिए एक-एक रथ तैनात था। अर्जुन ने इस हाथी के मस्तक को ताककर, कान तक धनुष की डोरी खींचकर, एक बाण चला दिया। इन्द्र के हाथ से सृष्टा हुआ वज्र जैसे किसी पर्वत को फाड़ डाले वैसे ही अर्जुन का

चलाया हुआ वह बाण उस हाथी के मस्तक को फाड़कर पृथ्वी में धुस गया ॥१५८॥

उस प्रहार से वह हाथी बहुत ही पीड़ित होकर कांपकर उसी समय पृथ्वी पर गिर पड़ा और मर गया। यह देखकर विकर्ण बहुत ही भयभीत हुआ। वह हाथी की पीठ पर से कूदकर, शीघ्रता से एक नौ आठ वग भागकर, विविंशति के रथ पर सवार हो गया। फिर अर्जुन ने वीणा ही एक बाण मारकर दुर्योधन के हृदय में पाव कर दिया। अब वे अन्य योद्धाओं पर लगातार बाण चरसाने लगे। योद्धा लोग अर्जुन के बाणों से घायल होकर वहां से दूर-दूर भागने लगे। इन अद्भुत क्रमों को देख-सुनकर

ततस्त्रयोदशस्यांऽते तस्य वर्षस्य भारत ।
 सुशर्मणा गृहीतं तद्गोधनं तस्माद् बहु ॥ ४ ॥
 ततो जवेन महता गोपः पुरमथाऽव्रजत् ।
 स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात्प्रस्कंच कुंडली ॥ ५ ॥
 शूरैः परिवृतं योधैः कुंडलांगदधारिभिः ।
 संवृतं मंत्रिभिः सार्द्धं पांडवैश्च महात्माभिः ॥ ६ ॥
 तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
 सोऽव्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ७ ॥
 अस्मान्युधि विनिर्जित्य परिभूय सर्वाधवान् ।
 गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ॥ ८ ॥
 तान्परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव ।
 तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् ॥ ९ ॥
 रथनागाश्चकलिलां पत्तिष्वजसमाकुलाम् ।
 राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ॥ १० ॥
 भानुमन्ति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः ।
 स वज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र कांचनम् ॥ ११ ॥
 विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत् ।

[भाइयों सहित] मारा गया तब राजा विराट को शत्रुमान-मर्दन करनेवाले पाण्डवों का ही भरोसा रह गया । हे राजा जनमेजय ! जिस समय पाण्डवों के अज्ञातवास का वर्ष समाप्त हुआ उसी समय त्रिगर्त देश का राजा सुशर्मा विराटनगरी में पहुँचकर उनके गोधन को छीनने लगा । तब गोपाल राजसभामें गया । १५

वहा महाप्रभावशाली मत्स्यराज बैठे हुए थे । उनके आस-पास शूरवीर योद्धा, मन्त्री और पुरुष श्रेष्ठ पावों पाण्डव अपने-अपने स्थान पर बैठे थे । सभा में बैठे हुए राज्यरक्षक महाराज विराट के पास पहुँकर, प्रणाम करके, गोपाल ने कहा—हे राजेन्द्र !

त्रिगर्त देश के सिपाही हमें डराकर आपकी असंख्य गाँयें हरे लिये जा रहे हैं । आप गाँयों को छुड़ाना चाहते हैं तो कोई उपाय कीजिए । गोपाल के मुँह से यह सुनते ही राजा ने हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, इन चार अङ्गोंवाली मत्स्यदेश की सेना को सजने की आज्ञा दे दी । राजा और राजपुत्र शूरों के योग्य कवच आदि पहनने लगे ॥६।१०॥

मत्स्यराज के प्यारे भाई शतानीक ने फौलाद का बना सुवर्ण का कामदार कवच पहना । उनके छोटे भाई मदिराक्ष ने सुवर्ण के पत्तों से मढ़ा हुआ कवच पहना । वह कवच इतना दृढ़ था कि किसी शस्त्र की

सोऽमृत्युमाणो वचसाऽभिमृष्टो महारथेनाऽनिरथस्तरस्वी ।
 पर्याविवर्ताऽथ रथेन वीरो भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥
 तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्त्तमानं निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम् ।
 दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ६ ॥
 भीष्मस्ततः शांतनवो विवृत्य हिरण्यकक्षस्वरयाऽभिपंगी ।
 दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥
 द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम् ।
 सर्वे पुरस्ताद्विततोरुचापा दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेतुः ॥ ५ ॥
 स तान्यनीकानि निवर्त्तमानान्यालोक्य पूर्णोधनिभानि पार्थः ।
 हंसो यथा मेघमित्राऽऽपतंतं धनंजयः प्रत्यपतत्तरस्वी ॥ ६ ॥
 ते सर्वतः संपरिवार्य पार्थमस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः ।
 ववर्षुरभ्येत्य शरैः समंतान्मेघा यथा भूधरमंबुवर्गैः ॥ ७ ॥
 ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां गांडीवधन्वा क्रुपुंगवानाम् ।
 संमोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं प्रादुश्चकारोद्दिरपारणीयम् ॥ ८ ॥
 ततो दिशश्चाऽनुदिशो विवृत्य शरैः सुधारैर्निशितैः सुपुत्रैः ।
 गांडीवघोषेण मनांसि तेषां महाबलः प्रव्यथयांचकार ॥ ९ ॥

पांव की चोट नहीं सह सकता वैभे ही अर्जुन के
 तिरस्कारपूर्ण वचन दुर्योधन से नहीं सह गये । कर्ण
 ने बहुत ही घायल दुर्योधन को फिर युद्ध के लिए
 लौटते देखा । तब उसने म्वन्ध होकर, दुर्योधन के
 ठहरा और मे जाकर, अर्जुन पर आक्रमण किया ।
 महाशयी भीष्म भी लौटकर, दुर्योधन के पश्चिम ओर
 पहुंचकर, उसकी रक्षा करने लगे ॥१।१॥

द्रोणाचार्य, कृपानार्य, विविंशति और दुःशासन
 आदि योद्धा भी दुर्योधन की महायत्ना के लिए, धनुष
 बाण ले-लेकर, शीघ्र ही अर्जुन के सामने पहुंच गये ।
 हंस (सूर्य) जैसे आती हुई मेघ-माया के सामने
 उभयपक्षों के वैभे ही महाविजयवाली कौरव योद्धाओं

की सेना के प्रभाव को फिरते देखकर अर्जुन उत्साह
 के साथ उनके सामने आये । जैसे मेघ चारों ओर
 से घेरकर पर्वत पर जल बरसाने में वैभे ही वह कौरवों
 की सेना अर्जुन की चारों ओर से घेरकर उन पर
 लगभग चारों ओर दृष्टियों की वर्षा करने लगी ॥१।७॥

अब महावीर अर्जुन ने एक अस्त्र चलाकर
 कौरवों के अस्त्र-यन्त्रों को निष्क्रिय कर दिया । फिर
 उन्होंने अन्वर्थ समोहन अस्त्र प्रकट किया । उस
 अस्त्र का प्रयोग करते ही सब दिशाओं में बाण ही
 बाण देख पड़ने लगे । अर्जुन के हम गाण्डीव धनुष
 की प्रचण्ड टडकार में कौरवों के हृदय व्यथित होने
 लगे । फिर अर्जुन ने मथानक शब्दशब्द महाशब्द

एतेषामपि दीयंतां रथा ध्वजपताकिनः ।
 कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ॥ २२ ॥
 प्रतिमुंचंतु गात्रेषु दीयंतामायुधानि च ।
 वीरांगरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ॥ २३ ॥
 नेमे जातु न युद्धयेरन्निति मे धीयते मतिः ।
 एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
 शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन्समादिशत् ॥ २४ ॥
 सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
 तान्प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ २५ ॥
 निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्छीघ्रमयोजयन् ।
 कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ॥ २६ ॥
 विराटः प्रादिशद्यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
 तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ॥ २७ ॥
 रथान्हयैःसुसंपन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
 निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ॥ २८ ॥
 तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
 रथान्हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ॥ २९ ॥
 विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुंगवाः ।
 चत्वारो भ्रातरः शूराः पांडवाः सत्यविक्रमाः ॥ ३० ॥
 भीमाश्च मत्तमातंगाः प्रभिन्नकरटामुखाः ।

हे भाई ! कङ्क, बल्लव, प्रन्थिक और तन्तिपाल भी युद्ध कर सकते हैं । तुम इन्हें भी ध्वजा-पताका आदि से युक्त रथ और गनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दो । ये भी हम लोगों की तरह विचित्र, मुट्टेदार होने पर भी पहनने में कष्ट न देनेवाले, कवच पहन लें । राजा विराट की आज्ञा पाकर शतानीक ने उसी समय पाण्डवों के लिए सुन्दर रथ मँगा दिये । राजभक्त

सारथी लोग उसी समय राजा की आज्ञा से रथ सजाकर ले आये । शत्रुदलनकारी, युद्धविशारद, परम तेजस्वी, अपने को छिपाये हुए, कुरुकुलतिलक, चारों पाण्डव राजा की आज्ञा से तुरन्त रथों पर चढ़कर प्रसन्नता के साथ चले ॥२१३०॥

पर्वत पेसे ऊँचे, बली, भयानक आकारवाले, मस्त, साठ वर्ष की आयुवाले सधे हुए हजार दाभी

अथ सप्तपटितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो विजित्य संग्रामे कुरून्स वृषभेक्षणः ।
 स मानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥
 गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
 वनाग्निष्क्रम्य गहनाद्ब्रह्मवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
 भयार्त्संभ्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
 मुक्तकेशास्त्वदृश्यंत स्थिताः प्रांजलयस्तदा ॥ ३ ॥
 क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः ।
 ऊचुः प्रणम्य संभ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
 अर्जुन उवाच—स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।
 नाऽहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्रासयामि वः ॥ ५ ॥
 वैशम्पायन उवाच—तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः ।
 आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनंदयन् ॥ ६ ॥
 ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्नमुत्सृज्य शत्रून्विनिवर्तमानम् ।
 विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयांतं नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ॥ ७ ॥
 ततः स तन्मेघमिवाऽऽपतंतं विद्राव्य पार्थः कुरुमेघसैन्यम् ।
 मत्स्यस्य पुत्रं द्विपतां निहंता वचोऽब्रवीत्संपरिरभ्य भूयः ॥ ८ ॥

सङ्कसठवां अध्याय ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! संग्राम में इस तरह कौरवों को दराकर अर्जुन ने महाराज विगट की गायें लौटा लीं । कौरवों के भाग जाने पर कुरुमेना के कुछ विदेशी मिपाडी व्याकुल हुए-हूए, पाम के वन में निकलकर, टाथ जोड़कर अर्जुन के पाम आये । वे भयभीत हुए-हूए थे । उनके बाल बिस्त्रे हुए थे । वे भूष और प्याम के मारे व्याकुल हो रहे थे । उन्हेनि [दाग्ण में आकर] कहा—हे अर्जुन ! हम आरके अनुगन हैं । आज्ञा दीजिए, हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥१।४॥

अर्जुन ने कहा—मैं तुम लोगों को अमय देता

हूँ । तुम्हारा मजा हो । मैं तुम्हें को और शरणागत को कभी नहीं माता ॥५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब उन सैनिकों ने अर्जुन से अमयदान पाकर प्रणाम किया और आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी आयु और यश बढ़े । इस प्रकार विभुष और शरणागत शत्रुओं को अमय देकर, मस्त हाथी की तरह, विजयी अर्जुन विराटनगरी की ओर चले । फिर कौरवों की सेना के वीरों को अर्जुन पर आक्रमण करने की दिग्मन नहीं पड़ी । मेघमात्र के ममान वमड़ी हुई कौरव-सेना का जत्रुदमन अर्जुन ने [आंधी की तरह] मगाकर

तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः	।
घ्नतां परस्परं राजन्यमराष्ट्रविवर्द्धनः	॥ ४ ॥
देवासुरसमो राजन्नासीत्सूर्योऽवलंबति	।
पदातिरथनागेंद्रहयारोहवल्गौघवान्	॥ ५ ॥
अन्योऽन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम्	।
उदतिष्ठद्रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन	॥ ६ ॥
पक्षिणश्चाऽपतन्भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः	।
इषुभिर्व्यतिसर्पाङ्गिरादित्योऽत्तरधीयत	॥ ७ ॥
खद्योतैरिव संयुक्तमंतरिक्षं व्यराजत	।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम्	॥ ८ ॥
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम्	।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः	॥ ९ ॥
सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः	।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि	॥ १० ॥
संरब्धाः समरे राजन्निजघ्नुरितरेतरम्	।
निघ्नंतः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघवाहवः	॥ ११ ॥
न शेकुरभिः संरब्धाः शूरान्कर्तुं पराङ्मुखान्	।
कृत्तोरुष्टं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम्	॥ १२ ॥

गोधन हरकर ले जानेवाले, त्रिगर्तदेश के वीरों पर आक्रमण किया। गोधन को ले जाने की इच्छा सब की थी। इसी से त्रिगर्त और मत्स्यदेश की सेना सग्राम करने लगी। दोनों ओर के युद्धचतुर प्रधान-प्रधान योद्धा, मस्त हाथियों पर चढ़े हुए, बारम्बार अकुश मारकर उन्हें प्रबल वेग से बढ़ाते हुए शत्रु सेना की ओर चले। हे महाराज ! सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे थे; इसी समय दोनों ओर की सेना परस्पर मारने और जय पाने की आशा से यमपुर को जीवों से भरनेवाला, रोमाञ्चकारी, देवासुर-सग्राम के समान,

घोर युद्ध करने लगी। सैनिकों के परस्पर आक्रमण से बड़ी धूल उड़ी। धूल में कुछ सूझ न पड़ने के कारण पक्षी पृथ्वी पर गिरने लगे। बाणों की वर्षा से सूर्यमण्डल छिप गया। उस समय ऐसा जान पड़ने लगा कि मानों आकाशमण्डल में जुगनु से चंभक रहे हैं। धनुर्धर वीर योद्धा दाहने और बायें सुवर्णमंडित धनुशों को चढ़ाने लगे। रथ पर सवार लोग रथ के सवारों से, पैदल पैदलों से, घोड़ों के सवार युद्धसवारों से और हाथियों के सवार हाथियों के सवारों से युद्ध करने लगे। हे राजेन्द्र ! पशुकमी वीर तलवार, कुठार,

तस्माद्गच्छंतु मे योधा बलेन महता वृताः ।

उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः ॥ ११ ॥

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं पदातिसंघांश्च ततः प्रवीरान् ।

प्रस्थापयामास सुतस्य हेतोर्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान् ॥ १२ ॥

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।

व्यादिदेशाऽथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरंगिणीम् ॥ १३ ॥

कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा ।

यस्या यंता गतः पंडो मन्येऽहं स न जीवति ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—तमत्रवीर्द्धर्मराजो विहस्य विराटराजं तु भृशामितसम् ।

वृहन्नलासारथिश्चेन्नरेन्द्र परे न नेष्यंति तवाऽद्य गास्ताः ॥ १५ ॥

सर्वान्महीपान्सहितान्कुरुंश्च तथैव देवासुरसिद्ध्यक्षान् ।

अतीव जेतुं समरे सुतस्ते स्वनुष्ठितः सारथिना हितेन ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः ।

विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन् ॥ १७ ॥

राज्ञस्तत्सर्वमाचख्यौ मंत्री विजयमुत्तमम् ।

पराजयं कुरूणां चाप्युपायांतं तथोत्तरम् ॥ १८ ॥

पढ़ता है कि कौरव लोग त्रिगर्त-नरेश के भाग जाने की सूचना पाकर कभी वहां नहीं टढ़ेंगे अच्छा, जो लोग इस युद्ध से लौटकर आये हैं और घायल नहीं हैं वे योद्धा, उत्तर के प्राणों की रक्षा के लिए, बहुत सी सेना लेकर अभी जायें ॥११११॥

यह आज्ञा देकर मत्स्यराज विराट ने भैतिकों से कहा—तुम टाथी, घोड़े, रथ आदि पर सवार होकर अभी युद्ध-भूमि में जाकर देखो कि उत्तर कुमार जीवित हैं या नहीं। इसी समय आकर मुझे यह सूचना दो। मैं तो समझता हूँ कि जब एक नपुंसक सारथी बनकर गया है तब अवश्य ही कुमार अब जीते न होंगे ॥१२११॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय। अब विराट के ये वचन सुनकर घर्मराज युधिष्ठिर मुसकाये और बोले—हे महाराज। वृहन्नला राजकुमार का सारथी बनकर गया है तो कभी कोई आरकी गायें हरकर नहीं ले जा सकता। जब वृहन्नला सारथी है तब राजकुमार उत्तर के लिए योद्धाओं समेत कौरवों का जीत लेना कुछ कठिन काम नहीं; इस दया में यदि देवता, असुर, सिद्ध और यक्ष भी सामना करेंगे तो कुंअर उनके भी छक्के छुड़ा देंगे ॥१५११६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय। इसी बीच में उत्तर के भेजे हुए दूतों ने राजसभा में आकर राजकुमार की जीत का समाचार दिया।

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
 अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥
 विराटस्तत्रसंग्रामे हत्वा पंचशतान्स्थान् ।
 हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पंच महारथान् ॥ २२ ॥
 चरन्स विविधान्मार्गान्स्थेन रथसत्तमः ।
 त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद्भुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥
 तौ व्यवहारतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
 अन्योन्यमभिगर्जतौ गोष्ठेषु वृषभाश्विव ॥ २४ ॥
 ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
 मत्स्यं समीयाद्राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥
 ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
 शरान्व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥
 अन्योऽन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।
 कृतास्त्रौ निशितैर्वाणैरसिशाक्तिगदाभृता ॥ २७ ॥
 ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।
 पंचभिः पंचभिश्चाऽस्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥
 तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
 पंचाशद्भिः शितैर्वाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

और विशालाक्ष ने चार सौ सैनिकों को मारा । इस प्रकार उन दोनों वीरों ने शत्रुओं के रथों को खोजते हुए सेना के भीतर घुसकर उसके छवके लुड़ा दिये । वीर लोग विपक्षी वीरों के बाल खींचकर, उनके रथों पर आक्रमण कर, घोर संग्राम कर रहे थे ॥ १२।२० ॥

सूर्यदत्त राजा विराट के आगे थे और मदिराक्ष पीछे । राजा विराट ने शत्रुपक्ष के पांच सौ रथी । पांच महारथी और आठ सौ युद्धसवार मारे । इस तरह चारों ओर फिरकर शत्रुसेना का संहार करते हुए राजा विराट ने सुवर्णमण्डित रथ पर चढ़े हुए

सुशर्मा पर आक्रमण किया । वे दोनों महाबली पराक्रमी वीर, मैदान में दो साँड़ों के समान, परस्पर स्पर्धा-पूर्वक युद्ध करने लगे । अब युद्धचतुर सुशर्मा मत्स्य-राज विराट को ललकारकर परस्पर युद्ध करने लगा । वर्षाकाल के बादलों के समान गरज-गरजकर वे दोनों वीर शक्ति, सज्ज आदि शस्त्रों की ओर वाणों की वर्षा करने लगे । राजा विराट ने सुशर्मा को दस बाण और उसके घोड़ों को पांच-पांच बाण मारे । सब शस्त्रों के ज्ञाता युद्धनिपुण सुशर्मा ने भी विराट के ऊपर पांच सौ बाण चलाये । हे राजेन्द्र ! इस

मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
 कोऽन्यो वृहन्नलायास्तान्प्रतिधुष्येत संगतान् ॥ ४२ ॥
 यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति ।
 अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते । ॥ ४३ ॥
 योऽजयत्संगतान्सर्वान्ससुरासुरमानवान् ।
 तादृशेन सहायेन कस्मात्स न विजेष्यते ॥ ४४ ॥
 विगट उवाच—वद्गुशः प्रतिपिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
 नियंता चेन्न विद्येत न कश्चिद्धर्ममाचरेत् ॥ ४५ ॥
 वैशम्पायन उवाच—ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाऽहनद्भृशम् ।
 मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नेवमित्येव भरत्सयन् ॥ ४६ ॥
 बलवत्प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमात्रहत ।
 तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
 अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम् ।
 सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
 पात्रं गृह्णत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिदिता ।
 तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद्यत्प्रसुखाव नस्ततः ॥ ४९ ॥

और अन्य महारथी यदि साक्षात् इन्द्र को भी साथ
 लेकर समरभूमि में आवे तो वृहन्नला उनका सामना
 कर सकता है । वृहन्नला के सिवा और कोई उन
 महारथियों से युद्ध नहीं कर सकता । बाहु-बल में
 वृहन्नला के समान वीर न कोई हुआ है और न होगा ।
 अत्यन्त पौर मन्नाम में वृहन्नला का हृदय आनन्दित
 और उत्साहित हो उठता है । जो मनुष्य सब देव-
 ताओं, दानवों और मनुष्यों को अकेला ही एक माघ
 मर्द ही जीत सकता है उसकी महायत्ना पाकर युद्ध
 में विजयी कौन नहीं हो सकता ? ॥४२।४३॥

“हे कर्ण ! मैं बाण-बार तुम्हें मना करता हूँ,
 तो भी तुम शांत नहीं रहते । जान पड़ता है कि कोई

दण्ड देनेवाला न होने से कोई भी धर्ममार्ग में नहीं
 चलता । देखो, मैं फिर कहता हूँ, तुम ऐसी बात
 अब कभी न कहना” ॥४५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यों
 दण्डकर विगट ने अपने हाथ के पासे धर्मराज के
 शूद्र पर खींचकर मारे । पासे लगने से युधिष्ठिर की
 नाक से रक्त की धारा बह चली । परन्तु वह रक्त
 पृथ्वी पर नहीं गिरने पाया, युधिष्ठिर ने उसे अपने
 हाथ में ले लिया । द्रौपदी पाप ही खड़ी थीं । युधिष्ठिर
 ने उनकी ओर देखा । वे उनका अभिप्राय समझकर
 उभी ममय जल से भाग सुवर्ण का वर्तन ले आईं ।
 उन्होंने जल में वह रक्त धो दिया ॥४६।४७॥

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
 अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥
 विराटस्तत्रसंग्रामे हत्वा पंचशतान् रथान् ।
 हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पंच महारथान् ॥ २२ ॥
 चरन्स विविधान्मार्गान् रथेन रथसत्तमः ।
 त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद्बुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥
 तौ व्यवहारतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
 अन्योन्यमभिगर्जतौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥
 ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
 मत्स्यं समीयाद्राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥
 ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
 शरान्व्यस्तृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥
 अन्योऽन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।
 कृतास्त्रौ निशितैर्वाणैरसिशाक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥
 ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।
 पंचभिः पंचभिश्चाऽस्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥
 तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
 पंचाशद्भिः शितैर्वाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

और विशालाक्ष ने चार सौ सैनिकों को मारा । इस प्रकार उन दोनों वीरों ने शत्रुओं के रथों को खोजते हुए सेना के भीतर घुसकर उसके छक्के लुड़ा दिये । वीर लोग विपक्षी वीरों के बाल खींचकर, उनके रथों पर आक्रमण कर, घोर संग्राम कर रहे थे ॥ १२१-२० ॥

सूर्यदत्त राजा विराट के आगे थे और मदिराक्ष पीछे । राजा विराट ने शत्रुपक्ष के पांच सौ रथी । पांच महारथी और आठ सौ युद्धसवार मारे । इस तरह चारों ओर फिरकर शत्रुसेना का संहार करते हुए राजा विराट ने सुवर्णमण्डित रथ पर चढ़े हुए

सुशर्मा पर आक्रमण किया । वे दोनों महाबली पराक्रमी वीर, मैदान में दो साँड़ों के समान, परस्पर स्पर्धा-पूर्वक युद्ध करने लगे । अब युद्धचतुर सुशर्मा मत्स्य-राज विराट को ललकारकर परस्पर युद्ध करने लगा । वर्षाकाल के बादलों के समान गरज-गरजकर वे दोनों वीर शक्ति, खत्र आदि शस्त्रों की और वाणों की वर्षा करने लगे । राजा विराट ने सुशर्मा को दस वाण और उसके घोड़ों को पांच-पांच वाण मारे । सब शस्त्रों के शता युद्धनिपुण सुशर्मा ने भी विराट के ऊपर पांच सौ वाण चलाये । हे राजेन्द्र ! इस

अवगाढा द्विपंतो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।
 यस्त्वं धनमथाऽजैपीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ ७५ ॥
 तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम् ।
 नूनं प्रकाल्य तान्सर्वास्त्वया युधि नरर्षभ ।
 आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनाऽऽमिषं यथा ॥ ७६ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमहे विराटोत्तरसंवादे अष्टपटितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, महाशू, अश्वत्थामा से तुम कैसे लड़े ? युद्ध-भूमि में जिन्हें देखकर योद्धा लोग उस व्यापारी की तरह सन्नाटे में आ जाते हैं जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उन कृपाचार्य से तुम कैसे लड़े ? जो बाण में पर्वत को तोड़ सकते हैं उन राजपुत्र दुर्योधन से तुमने कैसे युद्ध किया ? जो हो,

महापराक्रमी कीरव मेरी सब गाँवें हर ले गये थे; मांसभोजी सिंह जिस तरह शिकार को खान लेता है उसी तरह तुम युद्ध में उन्हें हराकर गाँवों को फेर लिये । बड़ी प्रयत्नता की बात है कि बलवान् शत्रुओं को नीचा देखना पड़ा ॥ ७५, ७६ ॥

—०—

विराटपर्व का अड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

अथ एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

उत्तर उवाच—न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।

कृतं तत्सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ॥ १ ॥
 स हि भीतं द्रवंतं मां देवपुत्रो न्यवर्त्तयत् ।
 स चाऽतिष्ठद्रथोपस्थे वज्रसन्नहनो युवा ॥ २ ॥
 तेन तां निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
 तस्य तत्कर्म वीरस्य न मया तान तत्कृतम् ॥ ३ ॥
 स हि शारद्वनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च पडूथान् ।
 सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्शरैः ॥ ४ ॥

वनदत्तरवा अध्याय ॥ ६९ ॥

उत्तर ने कहा—हे विनात्री ! मैंने स्वयं न तो वन शत्रुओं को परास्त किया और न मैं गाँवें ही लूटाकर लाया हूँ । एक देवपुत्र ने आकर यह अद्भुत काम किया है । मैं शत्रुधेनाने मयर्षभन हारकर भागा था; उन देवपुत्र ने आकर मुझे रोका । उन्होंने

स्वयं रथ पर बैठकर कौरवों को परास्त किया और गाँवें लूटा लीं । अर्केके ही वन्दोंने अपने पंने वालों से कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, कर्ण, अध्यायामा, मर्मि और दुर्योधन, इन छ. महागणियों को दग दिया ॥ १-४ ॥ यह देव दुर्योधन और विद्वान् आदि मयर्षभन

वलं तु मत्स्यस्य वलेन राजा सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा ।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं विराटमोजस्त्रिनमभ्यधावत् ॥ ७ ॥

तौ निहत्य पृथक्धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम् ॥ ८ ॥

तमुन्मथ्य सुशर्माऽथ युवतीमिव कामुकः ।
स्यंदनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ॥ ९ ॥

तस्मिन्हीते विरथे विराटे बलवत्तरे ।
प्राद्रवंतभयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥ १० ॥

तेषु मंत्रस्यमानेषु कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ११ ॥

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा ।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विपतां वशम् ॥ १२ ॥

उपिताः स्वं सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः ।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ॥ १३ ॥

भीमसेन उवाच—अहमेनं परित्रास्ये शासनात्तव पार्थिव ।
पश्य मे सुमहत्कर्म शुध्यतः सह शत्रुभिः ॥ १४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह ।
एकांतमाश्रितो राजन्पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ १५ ॥

त्रिगर्तराज सुशर्मा ने बड़े पराक्रम से राजा विराट की सेना को मथ डाला और हरा दिया । अन्त को वह राजा विराट की ओर झपटा । पास जाकर उसने विराट के रथ के दो घोड़ों को, रथ की रक्षा करने वाले आसपास के सिपाहियों को और सारथी को मार डाला । इस प्रकार रथ से हीन विराट को पकड़कर, अपने रथ पर बिठाकर, सुशर्मा अपने नगर की ओर चला । यह देखकर विराट की सेना बहुत भयभीत । त्रिगर्तदेश की सेना के पराक्रम से अत्यन्त पीड़ित होकर मत्स्यदेश के सिपाही युद्धमूर्ति से इधर-

उधर भागने लगे ॥७१०॥

उन्हें युद्ध में विमुख और भयभीत हुआ देखकर महाराज युधिष्ठिर ने शत्रुदमन भीमसेन से कहा—
हे महाबाहु ! त्रिगर्तराज सुशर्मा मत्स्यनरेश विराट को पकड़े लिये जा रहा है । तुम उनको शत्रु के हाथ से छुड़ा लो । देखो, वह कैद न होने पावे । हम लोग राजा विराट के यश अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करते हुए बड़े सुख से रहते रहे हैं । इसलिए अब तुम महाराज विराट को छुड़ाकर उस उपकार का उचित बदला चुकाओ ॥१११॥३॥

स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत्	॥ ८ ॥
अर्जुन उवाच—इंद्रस्याऽर्द्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति	
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः	॥ ९ ॥
एष विग्रहवान्धर्म एष वीर्यवतां वरः	
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम्	॥ १० ॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे	
न चैवाऽन्यः पुमान्वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन	॥ ११ ॥
न देवा नाऽसुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः	
गंधर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः	॥ १२ ॥
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः	
पांडवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी	॥ १३ ॥
महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः	
वलवान्धृतिमान्दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः	
धनैश्च संचर्यैश्चैव शक्यैश्चवणोपमः	॥ १४ ॥
यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता	
एवमेव महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः	॥ १५ ॥
अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः	
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्यैवोद्यतः प्रभाः	॥ १६ ॥
संसरन्ति दिशः सर्वा यज्ञसोऽस्य इवांशवः	
उदितस्यैव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः	॥ १७ ॥

भी आपे आमन पर बैठने की योग्यता रखनेवाले, स्वाध्याय-मंत्रज्ञ, यज्ञनिरत, दृढव्रत, धर्मस्वरूप, अतीतिक बुद्धिवाले, तपस्वी, नगर और जनपद में रहनेवाली सभी प्रजा को प्यारे, महाबलितुल्य, महातेजस्वी, महापुरुष, जगत्प्रसिद्ध, इरुक्कुलनिरुक्त महाराज युधिष्ठिर हैं। देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, किन्नर, नाग आदि किसी को इनके समान अम विद्या का ज्ञान नहीं दे ॥८१२॥

ये बलवान्, गम्भीर, कार्य-नटुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। घन का मध्य करने में ये इन्द्र और यक्षराज कुबेर के समान हैं। ये महानेजस्वी महाराज मनु के समान प्रजा पर कृपा करने और उनकी प्रतिपाल करते हैं। सूर्य की प्रभा के समान इनकी कीर्ति में मद्य दिशाएँ उज्ज्वल हो रही हैं। ये जब अपने राज्य में, कुरूकुल में, रहते थे तब महादेवशाही, सुवर्ण-मायाओं में मूषिन, दम हजार

सुशर्मा चिंतयामास कालांतकयमोपमम् ।
 तिष्ठतिष्ठेति भाषंतं पृष्ठतो रथपुंगवः ।
 पश्यतां सुमहत्कर्म महद्युद्धमुपस्थितम् ॥ २५ ॥
 परावृत्तो धनुर्यह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह ।
 निमेषांतरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः ॥ २६ ॥
 रथानां च गजानां च वाजिनां च समादिनाम् ।
 सहस्रशतसंघाताः शूराणामुग्रधन्विनाम् ॥ २७ ॥
 पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतेः ।
 पत्तयो निहतास्तेषां गदां वृह्य महात्मना ॥ २८ ॥
 तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
 चिंतयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे ।
 अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मशो महावले ॥ २९ ॥
 आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत ।
 सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान्क्षिपते च पुनः पुनः ॥ ३० ॥
 ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन् ।
 दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान्प्रत्यमर्षणाः ॥ ३१ ॥
 तान्निवृत्तरथान्दृष्ट्वा पांडवान्सा महाचमूः ।
 वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ॥ ३२ ॥
 सहस्रमबंधीत्तत्र कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 भीमः सप्तसहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ॥ ३३ ॥

बड़े वेग से सुशर्मा की ओर झपटे। भीमसेन ने राजा विराट की ओर देखकर कहा कि तनिक ठहर जाइए। यमराजके समान भीमसेन को अपने पीछे आते देखकर, अपने भाइयों के साथ, सुशर्मा भी लौट पड़ा। अब सुशर्मा और भीमसेन से घोर युद्ध होने लगा २२।२६

महारथी भीमसेन ने क्षण भर में विपक्ष के हजारों रथों, सवारों समेत घोड़ों, हाथियों और प्रधान योद्धाओं को मार डाला। फिर हाथ में गदा लेकर वे पैदल

सेना का संहार करने लगे। शूरवीर सुशर्मा ने अपने भाई को सड्ड में फँसा हुआ देखकर सोचा कि और यहा तो मेरी सेना भी बुरी तरह से मारी गई। अब धनुष चढ़ाकर सुशर्मा भी लगातार पैने बाण बरसाने लगा। तब पाण्डव लोग विकट क्रोध से त्रिगर्त-सेना की ओर बढ़कर बाणों की वर्षा करने लगे। [अपनी ओर से] पाण्डवों को युद्ध करते देखकर विराट का कुंभ भी बड़े उत्साह से युद्ध करने लगा ॥२७।३२॥

यत्कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनंतरम् ।
 सर्वे कामाः समृद्धा मे संवन्धी यस्य मेऽर्जुनः ॥ ११ ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवति राजेंद्रे कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 अन्वशासत्स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः ॥ १२ ॥
 ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत
 प्रेषयामास कौंतियो विराटश्च महीपतिः ॥ १३ ॥
 ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पंच पांडवाः ।
 उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यंत सर्वशः ॥ १४ ॥
 अभिमन्युं च वीभत्सुरानिनाय जनार्दनम् ।
 आनर्त्तभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पांडवः ॥ १५ ॥
 काशिराजश्च शैव्यश्च प्रीयमाणो युधिष्ठिरे ।
 अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६ ॥
 अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः ।
 द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखंडी चाऽपराजितः ॥ १७ ॥
 धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
 समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
 वेदावभृथसंपन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

तुष्टारे साथ सम्बन्ध हो जाने से मैं अपने को कृतार्थ
 समझता हूँ। मेरी सब इच्छाएँ पूर्ण हो गईं ॥१०॥११॥
 वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !
 इसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने भी परस्पर के
 इस प्रशंसनीय सम्बन्ध का अनुमोदन किया । राजा
 विराट के और पाण्डवों के जो इष्ट-मित्र नातेदार
 थे, उनके यहाँ उसी समय यह सूचना और विवाह
 का न्याता लेकर दूत खाना हुए । धर्मराज युधिष्ठिर
 ने उसी समय एक दूत के द्वारा यह समाचार कृष्णचन्द्र
 के पास भेजा । इसके पश्चात् ही यह सूचना सब
 जगद् फिद गई कि अज्ञानवास का तोहड़ा वर्ष व्यतीत

करके इस समय पाँचों पाण्डव राजा विराट के नगर
 में हैं ॥१२॥१३॥

अर्जुन ने अभिमन्यु, कृष्णचन्द्र और बलमद्र
 आदि सब यादवों को ले आने के लिए दूत भेज
 दिये । महात्मा काशिराज और महाराज शैव्य, दोनों
 ही महाराज युधिष्ठिर के नियम मित्र थे । वे यष्ट
 समाचार और निमन्त्रण पाकर, एक-एक अक्षौहिणी
 सेना साथ लेकर, विराट की राजधानी में आ गये ।
 महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर
 आये । उनके साथ द्रौपदी के पाँचों पुत्र, शिखण्डी
 और धृष्टद्युम्न भी आये । ये सब यज्ञ करनेवाले,

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत ।
 राजपुत्र निवर्त्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥ ४३ ॥
 अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
 कथं चाऽऽनुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विपीदसि ॥ ४४ ॥
 इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
 तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाऽभ्यद्रवद्वली ॥ ४५ ॥
 भीमस्तु भीमसंकाशो रथात्प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।
 प्राद्रवत्तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥ ४६ ॥
 तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
 त्रिगर्त्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४७ ॥
 अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
 समुद्यम्य तु रोपात्तं निष्पिपेष महीतले ॥ ४८ ॥
 पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद्विलपिष्यतः ।
 तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
 स मोहमगमद्राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ४९ ॥
 तस्मिन्ग्रहीते विरथे त्रिगर्त्तानां महारथे ।
 अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद्भयातुरम् ॥ ५० ॥
 निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
 अवजित्य सुशर्माणं धनं चाऽऽदाय सर्वशः ॥ ५१ ॥

हे राजपुत्र ! लौटो । इस तरह युद्ध से पीठ दिखाकर भागना तुम्हें उचित नहीं है । क्या इसी विरते पर तुम महाराज विराट की गाँवें छीनने आये थे ? अब अपने साथियों को छोड़कर युद्धभूमि से क्यों भागते हो ? महाबली भीमसेन के ये वाक्य सुनकर सुशर्मा फिर लौट पड़ा । "ठहरो, ठहरो" कहकर वह भीमसेन की ओर लपका । भीमपराक्रमी भीमसेन तुरन्त रथ से उतरकर सुशर्मा को मारने के लिए इस तरह झपट ज़िस तरह सिंह किसी क्षुद्र मृग की ओर चले ।

॥४३।४७॥

लपककर उन्होंने भागनेवाले सुशर्मा के बाल पकड़ लिये और क्रोध के मारे झटका देकर उसे पृथ्वी पर पटक दिया । भीमसेन ने सुशर्मा को पृथ्वी पर अच्छी तरह रगडा और उसके सिर पर लात मारी । दर्द के मारे वह चिल्लाने लगा, फिर कोहनी और छाती पर घुटने मारकर भीमसेन ने उसे अधमरा कर डाला ॥४८।४९॥

भीमसेन के प्रबल प्रहार से पीड़ित सुशर्मा बेहोश

ततः शंखाश्च भेर्यश्च गोमुखाडंबरास्तथा ।
 पार्थैः संयुज्यमानस्य नेटुर्मत्स्यस्य वेश्मनि ॥ २७ ॥
 उच्चावचान्मृगाञ्जन्तुर्मैध्यांश्च शतशःपशून् ।
 सुरामैरेयपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥
 गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा ।
 स्तुवंतस्तानुपातिष्ठन्सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥
 सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः ।
 आजग्मुश्चारुसर्वाग्न्यः सुमृष्टमणिकुंडलाः ॥ ३० ॥
 वण्योपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
 सर्वाश्चाऽभ्यभवन्कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥
 परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम् ।
 सुतामिव महेंद्रस्य पुरस्कृत्योपनस्थिरे ॥ ३२ ॥
 तां प्रत्यगृह्णात्कौतेयः सुतस्याऽथे धनंजयः ।
 सौभद्रस्याऽनवद्यांर्गीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥
 तत्राऽतिष्ठन्महाराजो रूपमिंद्रस्य धारयन् ।
 स्नुपां तां प्रतिजग्राह कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥
 प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम् ।
 विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

गये । अनेक प्रकार की मदिराएं और पीने की वस्तुएं
 लाई गईं । मानेवाले, प्राचीन आरूयान सुनानेवाले,
 नट, वैतालिक, सूत-मागध-बन्दीजन आदि आकर
 अपनी-अपनी कलाएं दिखाने लगे । सब मिलकर
 पाण्डवों की, श्रीकृष्ण की और राजा विराट की प्रशंसा
 और स्तुति करने लगे ॥२५२९॥

मणि-कुण्डल आदि अनेक आभूषणों से सजी
 हुई मत्स्य-नरेश के परिवार की स्त्रिया इन्द्रकन्या के
 समान आभूषणों और वस्त्रों से शोभित उचरा कुमारी
 को साथ लेकर वहां पर आईं । उन स्त्रियों के आगे

मृत्यवान् वस्त्र-आभूषणों से शोभित रानी सुदेष्णा
 थीं; किन्तु यशस्विनी द्रौपदी के रूप के आगे सबकी
 शोभा फीकी जैचती थी । अभिमन्यु की स्त्री के रूप
 में राजकुमारी उचरा को प्रदृश्य करके महावीर अर्जुन
 प्रतापी इन्द्र के समान शोभित हुए । उचरा को पुत्र-
 वधू बनाकर महाराज युधिष्ठिर परम प्रसन्न हुए ।
 जनार्दन कृष्णचन्द्र ही सब कामों में अगुआ थे ।
 बहुत अच्छी तरह प्रसन्नतापूर्वक अभिमन्यु का विवाह
 हुआ ॥३०॥३५॥

राजा विराट ने प्रज्वलित अग्नि में पहले हवन

युधिष्ठिर उवाच—मुंच मुंचाऽधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।

दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि भैवं कार्षीः कदाचन ॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोप्रहे सुशर्मनिप्रहे त्रयत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

अब युधिष्ठिर ने स्नेह के साथ भीमसेन ने कहा— उन्हीं सुशर्मा से कहा—तुमको दासभाव से छुट-
दे भाई ! इस पापी को छोड़ दो । इसके दासत्व कारा दिया जाता है । फिर कभी ऐसा कार्य करने
स्वीकार करने का प्रमाण तो हमी लोंग है । फिर का साहस न करना ॥६०११॥

विराटपर्व का तैत्तिरीय अर्थात् समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते तु सत्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।

समुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥ १ ॥

विस्तृज्य तुं सुशर्माणं पांडवास्ते हताद्विपः ।

स्वबाहुवलसंपन्ना हीनिपेवा यतव्रताः ।

संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥ २ ॥

ततो विराटः कौंतेयानतिमानुपविक्रमान् ।

अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥ ३ ॥

विराट उवाच—यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा ।

कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम् ॥ ४ ॥

ददाभ्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च ।

मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिवर्हणाः ॥ ५ ॥

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।

तस्मान्द्वन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥ ६ ॥

चौत्तिसवा अध्याय ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—दे राजा जनमेजय ! युधि- वही, समरभूमि में, सुखपूर्वक यह रात्रि व्यतीत की ।
ष्ठिर के यों कहने पर सुशर्मा ने लज्जा से सिर झुका फिर राजा विराट ने अलौकिक पराक्रमी पाण्डवों को
लिया । उसने विराट के पास जाकर उनको प्रणाम बहुत सा धन देकर सम्मानित किया और कहा—
किया । फिर वहा से वह उसी समय भाग गया । आज तुम्ही लोगों के पराक्रम से मैं जीता-प्रागता
सुशर्मा को छोड़कर राजा विराट और पाण्डवों ने बच गया हूँ । मेरे यहां जितने रख दूँ वे और सारा

प्रादाय चाऽर्धं धृतराष्ट्रपुत्रः सुखी सहाऽस्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥
 लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव ।
 ध्रुवं प्रशांताः सुखमाविशेयुस्तेषां प्रशांतिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥
 दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य ।
 प्रिये च मे स्याद्यदि तत्र कश्चिद्भ्रजेच्छमार्थं कुरुपांडवानाम् ॥ ४ ॥
 स भीष्ममामंत्र्य कुरुप्रवीरं वैचित्रवीर्यं च महानुभावम् ।
 द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च गांधारराजं च समूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
 सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा बलप्रधाना निगमप्रधानाः ।
 स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
 एतेषु सर्वेषु समागतेषु पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु ।
 ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं कुन्तीसुतस्याऽर्धकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥
 सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या प्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तेः ।
 प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य द्यूतं प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥
 निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः ।
 स दीव्यमानः प्रतिदीव्यचैनं गांधारगजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥

लिए यत्न कर रहे हैं । इन्हें व्याधा राज्य दे देने से
 दुर्योधन, हम लोगों के साथ, सुखी होकर अत्यन्त
 आनन्द प्राप्त करेंगे । सद्ब्यवहार के साथ कौरवों से
 व्याधा राज्य पाने पर पाण्डव लोग शांत हो जायेंगे और
 सुख से रहेंगे । दुर्योधन आदि को भी इसी में शान्ति
 मिलेगी और इसी में पजा का डिट होगा ॥१३॥

मैं चाहता हूँ कि कोई पुरुष दोनों पक्षों में भेद
 करने के लिए जाकर दुर्योधन के मन की बात मालूम
 करे और कौरवों में युधिष्ठिर का अभिप्राय कहे ।
 वह पुरुष कौरवों की समा में जाकर कुरुवीर भीष्म,
 महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपा-
 चार्य, गान्धारराज शकुनि, कर्ण तथा और भी बल
 एवं शास्त्र के ज्ञान में बड़े, अपने-अपने धर्म में स्थित,
 लोकवीर, अनुभवी, सब कुरुवंशी और धृतराष्ट्र के

सब पुत्र, पुरवाषी तथा वृद्ध पुरुष जब एकत्र हों तब
 उनसे मिले । फिर उन सबके आगे नम्रता के साथ
 युधिष्ठिर का संदेशा कहे और ऐसा यत्न करे कि जिसमें
 धर्मराज का प्रयोजन भिन्न हो जाय । मेरी सम्मति
 में, किसी अवस्था में, कौरवों को क्रुद्ध करना अच्छा
 न होगा; क्योंकि उन्होंने बलपूर्वक युधिष्ठिर के राज्य
 को छीन लिया है और वे इस समय प्रबल हो रहे
 हैं । युधिष्ठिर को लुप्त का बड़ा शोक था । इन्हें द्यूत
 में फंसाकर इनका राज्य उन्होंने छीन लिया है ।
 युधिष्ठिर द्यूतकीड़ा में निपुण नहीं हैं; उस समय
 इनके इष्ट-मित्रों ने इन्हें मना भी किया; किन्तु इन्होंने
 नहीं माना और पासे के खेल में निपुण शकुनि के
 कहने पर उसके साथ खेलना स्वीकार करके उसे
 खेलने के लिए ललकारा ॥१३॥

सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयंतु च ते जयम् ।
 ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत् ॥ १६ ॥
 आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामे विजयं मम ।
 कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छंतु मे पुरात् ॥ १७ ॥
 वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
 एतां चाऽऽज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः ।
 तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः ॥ १८ ॥
 ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति ।
 विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन् ॥ १९ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोम्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

सचके साथ ऐसा ही सरल व्यवहार करके सदा अनुमप सुख भोगते रहिए। हे राजेन्द्र ! मैं चाहता हू कि अब आपके दूत शीघ्र नगर में जाकर इष्ट मित्रों को यह प्रिय समाचार सुनावें और सर्वत्र आपकी जय-घोषणा कर दें ॥ १४ ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर की इच्छा से विराट ने दूतों को आज्ञा दी कि तुम लोग नगर में जाकर मेरी जीत का हाल

सुना दो। गढ़ने पढ़ने हुए कुमारिया, वेदयाएँ और बाजे बजानेवाले लोग आगे से लेने के लिए यहाँ आँवें। रात्रि को ही वे दूत विराट की आज्ञा से प्रसन्नतापूर्वक राजधानी को चल दिये। सूर्योदय के समय नगर में पहुँचकर उन्होंने विराट के जीतने की घोषणा कर दी ॥ १७ ॥ १९ ॥

—०—

विराटपर्व का चौतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

अथ पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—याते त्रिगुर्त्तान्मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति ।

दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ ॥ १ ॥
 भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित् ।
 द्रौणिश्च सौवलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ॥ २ ॥
 विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।

पेतीसवा अध्याय ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जिस समय राजा विराट ने अपनी गर्मों को छुड़ाने के

लिए सुशर्मा का पीछा किया उसी समय इधर दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, अध्रत्थामा,

को जिजीविपुरासादेद्दृष्ट्युन्नं च पार्पतम् ।
 पंचैतान्पाण्डवेषांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥ १७ ॥
 समप्रमाणान्पाण्डूनां समवीर्यान्मदोत्कटान् ।
 सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
 गदप्रद्युम्नसांवांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।
 ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
 कर्णं चैव निहत्याऽऽजावभिपेक्ष्याम पाण्डवम् ।
 नाऽधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून्हत्वाऽऽततायिनः ॥ २० ॥
 अधर्न्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।
 हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतांद्रिताः ॥ २१ ॥
 निस्सृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।
 अथ पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
 निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यंति वसुधातले ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

के और मेरे पराक्रम को रह रकता है ? जीवन की
 इच्छा रखनेवाला कौन योद्धा यमराज और मृत्यु के
 सटका नकुल और सशदेव, घृष्टद्युम्न, पिताओं के समान
 पराक्रमी द्रौपदी के पाँचों पुत्रों, महाबली अभिमन्यु,
 उत्कट कालानलरतुल्य वीर गद, प्रद्युम्न और साम्ब
 का सामना कर सकता है ? इसलिए हम सब मिल-
 कर, शकुनि और कर्ण सहित दुर्योधन को युद्धमें मारकर,
 युधिष्ठिर को राजभिद्धान्त पर विठावेंगे ॥ १४।२० ॥

आततायी अधर्मों शत्रुओं को मारने में अधर्म
 नहीं होता। शत्रुओं से याचना करना ही अधर्म
 और अयश का काम है। इसलिए दुर्योधन के मन
 में जो बात है उसे ही आप लोग सावधान होकर
 करें। दुर्योधन युद्ध के बिना राज्य देना नहीं चाहता।
 यह निश्चय है कि इस समय या तो राजा युधिष्ठिर
 को आधा राज्य मिले, और या कौरव लोग युद्ध में
 मारे जायें ॥ २१।२३ ॥

उद्योगपर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

दुष्ट उवाच—एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
 न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
 अनुवत्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।

इष्वेत्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
 तस्य नत्सत्यमेवाऽस्तु मनुष्येन्द्रस्य भापितम् ॥ १३ ॥
 आवर्त्तय कुरुञ्जित्वा पशून्पशुमतां वर ।
 निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ॥ १४ ॥
 धनुश्च्युतै रुक्मपुंखेः शरैः सन्नतपर्वभिः ।
 द्विपतां भिन्ध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ॥ १५ ॥
 पाशोपधानां ज्यातंत्रीं चापदंडां महास्वनाम् ।
 शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ॥ १६ ॥
 श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः ।
 ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तत्र प्रभो ॥ १७ ॥
 रुक्मपुंखाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया ।
 छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ॥ १८ ॥
 रणे जित्वा कुरून्सर्वान्वज्रपाणिरिवाऽसुरान् ।
 यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ १९ ॥
 त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः ।
 यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ॥ २० ॥
 एवमेव गतिर्नूनं भवान्विषयवासिनाम् ।
 गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ॥ २१ ॥

लिए आप स्वयं उठिए । महाराज आपको ही राज्य
 और राजधानी की रक्षा तथा देख-रेख का भार सौंप
 गये हैं ॥८१२॥

समा में महाराज आपके विषय में कहा करते
 हैं कि मेरा पुत्र मेरे ही समान शूर, वश की बात
 रखनेवाला, शस्त्रविद्या में निपुण, युद्धचतुर और महा-
 पराक्रमी है । हे राजकुमार ! इस समय महाराज का
 आपके बारे में यह कहना सत्य होना चाहिए । आप
 अपने विचित्र धनुष से छूटे हुए, सुवर्णपुद्ग, तीक्ष्ण बाणों
 से शत्रुओंको मारकर सब गाये छीन लाएँ ॥१३॥१६॥

शीघ्र ही आपके रथ में चादी के रत्न के श्वेत
 घोड़े जोते जाय और सिंह के चिह्न से युक्त ऊँची
 ध्वजा फहराने लगे । आप युद्धभूमि में पहुँचकर
 बाणों की ऐसी वर्षा कीजिए कि शत्रुओं की राह रुक
 जाय और आकाश में सूर्य का मण्डल छिप जाय ।
 इन्द्र जैसे असुरों को परास्त करते हैं वैसे ही आप
 कौरवों को परास्त करके यश प्राप्त कीजिए और सफल-
 मनोरथ होकर राजधानी को लौटिए । हे राजपुत्र !
 महाराज अर्जुन जैसे पाण्डवों के आश्रयस्थल हैं वैसे
 ही आप भी सब मत्स्यदेश की प्रजा के आश्रयस्थल

अथ पचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच—उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे ।
 अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्याऽमितौजसः ॥ १ ॥
 एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकांक्षताम् ।
 अन्यथा ह्याचरन्कर्म पुरुषः स्यात्सुवाल्लिशः ॥ २ ॥
 किं तु संबन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुपु ।
 यथेष्टं वर्त्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥
 ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान् ।
 कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान्प्रति ॥ ४ ॥
 भवान्वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च ।
 शिष्यवत्ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥
 भवंतं धृतराष्ट्रं सततं बहु मन्यते ।
 आचार्ययोः सखा चाऽसि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥
 स भवान्प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थंकरं वचः ।
 सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद्भवान् ॥ ७ ॥
 यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुंगवः ।
 न भवेत्कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान्क्षयः ॥ ८ ॥

पाचवां अन्याय ॥ ५ ॥

[वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ।
 द्रुपद के यों कह चुकने पर अब वृष्णिकुनावर्तस]
 श्रीकृष्ण ने कहा—महाभ्रातृ युधिष्ठिर का प्रयोजन
 सिद्ध होने के बारे में महाराज द्रुपद ने जो कुछ
 कहा—सो सोमकवंश के योग्य और युक्तिमद्गत है ।
 हम लोग यदि श्रेष्ठ नीति की मानकर चलना और
 कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इसी के
 अनुसार कार्य करना चाहिए । अपनी भलाई के लिए
 हमें सबसे पहले राजाओं के पास अवश्य अपने दूत
 भेजने चाहिए । जो हम ऐसा न करेगा तो बड़ी मूर्खता

होगी । किन्तु कौरव और पाण्डव दोनों ही हमारे
 समान मन्वन्धी हैं । दोनों का व्यवहार हमारे साथ
 एक सा है । [किन्हीं ने यादवों का अपमान या यादवों
 से अशिष्ट व्यवहार कभी नहीं किया ।] ॥१३॥

हम और आप सब लोग यहाँ, इस समय,
 अभिमन्यु के विवाह के निमन्त्रण में आये हैं । इस समय
 विवाह हो गया है, हम लोग प्रथमतः पूर्व अपने-
 अपने घर को लौट जायेंगे । अवस्था और ज्ञान में
 आप हमसे और सब राजाओं से बड़े हैं । हम सब
 शिष्य की तरह आपके उपदेश के अनुसार ही काम

विभ्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत् ।
 अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ॥ ७ ॥
 शून्यमासाद्य कुरवः प्रयांत्यादाय गोधनम् ।
 किंतु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाऽभवम् ॥ ८ ॥
 पश्येयुरथ मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः ।
 किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मान्प्रवाधते ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भापतः ।
 अतीतसमये काले प्रियां भार्यामर्निदिताम् ॥ १० ॥
 द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पांचालीं पावकात्मजाम् ।
 सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम् ॥ ११ ॥
 उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः ।
 उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्बचनादिदम् ॥ १२ ॥
 अयं वै पाण्डवस्याऽऽसीत्सारथिः संमतो वृढः ।
 महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविष्यति ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्बचनं स्त्रीषु भापतश्च पुनः पुनः ।
 न साऽमर्षत पांचाली वीभत्सोः परिकीर्त्तनम् ॥ १४ ॥
 अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यास्ता तपस्विनी ।
 व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

जा रहे हैं। मैं यदि वहां उपस्थित होता तो क्या वे ऐसा कार्य कर सकते थे ? सैर, अब सही। कौरव लोग आज मेरे पराक्रम को देखें। मेरा युद्ध देखकर वे सोचने लगेंगे कि स्वयं अर्जुन ही क्या क्रुद्ध होकर युद्ध करने आये हैं ! ॥१४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राज-पुत्र उत्तर की बातें सुनकर अर्जुन ने एकान्त में अपनी प्यारी द्रौपदी से कहा—हे कल्याणी ! तुम मेरे कङ्ठ से शीघ्र जाकर राजकुमार उत्तर से कहो कि वृहन्नला जय पाण्डवों के यहाँ था तब वह पाण्डवों के सारथी

का कार्य करके बड़ी प्रशंसा पा चुका है। घोर संग्राम में उसने बड़ी चतुराई से अपना कार्य किया था। इसलिए तुम वृहन्नला को इस समय अपना सारथी बना लो ॥१०१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! विराट का कुंवर उत्तर, स्त्रियों के बीच में अर्जुन का नाम ले-लेकर बार-बार अपनी प्रशंसा कर रहा था; यह द्रौपदी से नहीं सदा गया। स्त्रियों के बीच में बैठे हुए राजकुमार उत्तर के पास जाकर, कुछ रज्जा के माव से, द्रौपदी ने धीरे-धीरे कहा—हे राजपुत्र !

सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाऽभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

ततः शयाने गोविंदे प्रविवेश सुयोधनः ।

उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निपसाद वरासने ॥ ८ ॥

ततः किरीटी तस्याऽनु प्रविवेश महामनाः ।

पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत्कृतांजलिः ॥ ९ ॥

प्रतिबुद्धः सवाष्णोऽपि ददर्शाऽग्रे किरीटिनम् ।

स तयो स्वागतं कृत्वा यथावत्प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥

तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।

ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥

विग्रहेऽस्मिन्भवान्साह्यं मम दातुमिहाऽर्हति ।

समं हि भवतः सख्यं मम चेवाऽर्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥

तथा संबन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव ।

अहं चाऽभिगतः पूर्वं त्वामग्रे मधुसूदनः ॥ १३ ॥

पूर्वं चाऽभिगतं संतो भजंते पूर्वसारिणः ।

त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामग्रे जनार्दन ॥ १४ ॥

सततं संमतश्चैव सद्गृह्यत्तमनुपालय ।

कृष्ण उवाच—भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नाऽस्ति संशयः ।

दृष्टस्तु प्रथमं राजन्मया पाप्यो धनंजयः ॥ १५ ॥

पुरप्रेष्ठ अर्जुन और दुर्योधन ने एक साथ द्वारका में पहुँचकर, श्रीकृष्ण के भवन में जाकर, देखा कि वे पन्नौ पर पड़े मो रहे हैं। दुर्योधन पहले पहुँचा। श्रीकृष्ण को सोने देखकर वह उनके मित्र होने एक मूल्यवान् आमन पर जा बैठा। इसके पश्चात् महावीर अर्जुन भी पहुँचे और श्रीकृष्ण को सोने देखते उनके पाँवों के पाम टाय जोड़कर नम्रभाव में बैठ गये ॥७१॥

जागते ही श्रीकृष्ण ने आँसे मोचकर आगे सामने बैठे हुए अर्जुन को देखा। [फिर देखने पर

उन्हें अपने मित्र होने अथ आमन पर बैठा हुआ गर्भित दुर्योधन देख पड़ा।] श्रीकृष्ण ने दोनों का मरकार और स्वागत किया। इसके पश्चात् उनमें आने का कारण पूछा। तब प्रमत्तकार दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से कहा—हम माइयों के हम युद्ध में आप मुझे महायत्ना दीजिए। यद्यपि मैं और अर्जुन दोनों ही आपके समान मित्र और समान मन्वन्धी हूँ तथापि मैं आपके पाम पहले आया हूँ। सज्जनों का नियम है कि वे पहले आये हुए का पक्ष लिया करते हैं। आप हम समय प्रार्थी पर सब सज्जनों में श्रेष्ठ और

पृथिवीमजयत्कृत्स्नां कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
 सैरंध्री त्वां समाचष्टे सा हि जानाति पांडवान् ॥ १७ ॥
 संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले ।
 कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ १८ ॥
 अर्जुनस्य किलाऽऽसीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
 त्वयाऽजयत्सहायेन पृथिवीं पांडवर्षभः ॥ १९ ॥
 एवमुक्त्वा प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला ।
 का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ॥ २० ॥
 गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
 तत्कारिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ॥ २१ ॥
 उत्तर उवाच—बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
 क्षिप्रं मे रथमास्थाय निरृह्नीष्व हयोत्तमान् ॥ २२ ॥
 वैशम्पायन उवाच—स तत्र मर्मसंयुक्तमकरोत्पांडवो बहु ।
 उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिदमः ॥ २३ ॥
 ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुंचत ।
 कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन्पृथुलोचनाः ॥ २४ ॥
 स तु दृष्ट्वा विमुह्यंतं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
 कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ २५ ॥

सुना है कि पहले तुम अर्जुन के प्रिय सारथी थे ।
 उन्होंने तुम्हारी सहायता से ही खाण्डव वन देकर
 अग्नि को तृप्त किया था—सारी पृथ्वी को जीत
 लिया था ॥१७१७॥

इस समय तुम वैसे ही मेरे सारथी बनो । मैं
 हरी गई गाँय छीनने के लिए कौरवों से युद्ध करूँगा ।
 अर्जुन ने कहा—हे राजपुत्र ! युद्ध के बीच सारथी
 का कार्य भला मैं कैसे कर सकता हूँ ! हाँ, यदि गाने-
 बजाने अथवा नाचने के लिए कहा तो वह सब मैं कर
 सकता हूँ । मुझे सारथी का कार्य करने की शक्ति

नहीं है ॥२०११॥

उत्तर ने कहा—हे बृहन्नला ! तुम फिर आकर गवैये-
 नचैये का कार्य कर लेना । इस समय मेरे रथ में उत्तम
 घोड़े जोतकर चतुर्गई से सारथी का कार्य करो ॥२२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! क्षत्रु-
 दमन अर्जुन यद्यपि उत्तम के मुल से सब हाल सुन
 चुके थे तो भी, राजपुत्र के साथ, बार-बार अपने को
 नपुंसक और युद्ध में सारथी का कार्य करने में असमर्थ
 बताकर, दिग्गुणी करने लगे । अन्त में सारथी का
 कार्य करने के लिए प्रसन्न होकर अर्जुन कवच पहनने

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके धैर्य यादवों के साथ युधिष्ठिर के पास हस्तिनापुर
पदचतु श्रीकृष्ण को साथ लेकर प्रसन्न अर्जुन अनेक को लौट आये ॥३९॥

दशमपर्व का सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—शल्यः श्रुत्वा तु दूनानां सैन्येन महता घृतः ।
अभ्ययात्पांडवान् राजन्सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥
तस्य सेनानिवेशोऽभूद्ध्यर्द्धमिव योजनम् ।
तथा हि विपुलां सेनां विभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥
अक्षौहिणीपती राजन्महावीर्यपराक्रमः ।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः ।
विचित्रस्त्रधराः सर्वे विचित्रांबरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेपाभरणा वीराः शतसहस्रशः ।
तस्य सेनाप्रणेतारो वभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥
व्यथयन्निव भूतानि कंपयन्निव मेदिनीम् ।
शनैर्विश्रामयन्सेनां स ययौ येन पांडवः ॥ ६ ॥
ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम् ।
उपायांतमभिटुल्य स्वयमानर्चं भारत ॥ ७ ॥
कार्षामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः ।

आठवां अध्याय ॥ ८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! महा-
वर्षी शल्य को जब दूतों के द्वारा इस युद्ध का समा-
चार मिला तब वे अपने महारथी पुत्रों को साथ लेकर
पाण्डवों के पास चले । दो-दो कोम पर दसही सेना
का पड़ाव पढ़ना था । महावक्रवर्षी शल्य के साथ
भी एक अक्षौहिणी सेना थी । विचित्र कवच, ध्वजा
और पनुप, विचित्र आभूषण, रथ और वाहन तथा
विचित्र गण्ड और चक्र आदि में शोभित एवं अपने

देग का पहनावा पहने सैकड़ों-हज़ारों वीरश्रेष्ठ क्षत्रिय
महाराज शल्य के सेनापति थे ॥१॥५॥

अपनी विगाळ सेना से सबको मयभीत करि
और पृथ्वी को क्षमायमान करते हुए शल्य सम
सेना को, धीरे-धीरे विश्राम कराते हुए, युधिष्ठिर के
पास ले चले । दुर्योधन ने जब शल्य के खाना होने
का समाचार सुना तब उसने मार्ग में उनके टटाने
के लिए स्थान-स्थान पर सुन्दर स्थान बनवा दिये ।

प्रसन्नतापूर्वक प्रदक्षिणा करके, उन्हें जय प्राप्त करने के आशीर्वाद देने लगे। स्त्रियाँ और कन्याएँ मञ्जलाचरण करके उन्हें कहने लगीं—हे बृहन्नला ! पहले खांडव-

दहन के समय महाबली अर्जुन को जैसे यश, विजय और मञ्जल प्राप्त हुआ था वैसे ही तुम लोगों को भी कल्याण प्राप्त हो ॥२७॥३४॥

विराटपर्व का सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—स राजधान्या निर्याथ वैराटिरकुतोभयः ।
 प्रत्याहीत्यत्रवीत्सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥ १ ॥
 समवेतान्कुरून्सर्वाङ्गिणीपूनवजित्य वै ।
 गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥ २ ॥
 ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान्यांडुनंदनः ।
 ते ह्या नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।
 आलिखन्त इवाऽऽकाशमूहुः कांचनमालिनः ॥ ३ ॥
 नाऽतिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
 अवेक्षेतामभिन्नघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ ४ ॥
 इमशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
 तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥
 तदनीकं महत्तेषां विवभौ सागरोपमम् ।
 सर्पमाणमिवाऽऽकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ६ ॥
 ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
 दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक्कुरुसत्तम ॥ ७ ॥

अड़तीसवाँ अध्याय ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! निर्भय राजकुमार उत्तर राजधानी से निकलकर सारथी (अर्जुन) से कहने लगा—हे बृहन्नला ! शत्रु कौरवों के पास मेरा रथ ले चला। मैं सब कौरवों को जीतकर, गायें फेरकर, अभी अपनी नगरी को लौट आता हूँ। यह सुनकर अर्जुन शीघ्रता के साथ घोड़ों को चलाने लगे। घोड़ों के गले में सुवर्ण की मालाएँ पड़ी हुई थीं।

रायुकी तरह शीघ्र चलनेवाले घोड़े ऐसी शीघ्रता से जाने लगे, कि मानों आकाश में उड़ते चले जा रहे हों ॥१॥३॥ कुछ दूर जाकर उत्तर और बृहन्नला दोनों उसी मसान के पासवाले शर्माके वृक्ष के पास पहुँचे। वहाँ से उन्हें उमड़ हुए समुद्र के समान कौरवों की असंख्य सेना देख पड़ने लगी। उन सैनिकों के पाँशों से उड़ी हुई-धूल ऐसी छाई हुई थी कि किसी को कुछ नहीं

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै ।
 अवाप्स्यसि सुखं राजन्हत्वा शत्रून्परंतप ॥ ३२ ॥
 विदितं ते महाराज लोकतंत्रं नराधिप ।
 तस्माद्धोभक्तं किञ्चित्तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥
 राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत ।
 दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
 क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर ।
 अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन्प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥
 मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः ।
 धर्मास्ते विदिता राजन्बहुवो लोकसाक्षिकाः ॥ ३६ ॥
 सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप ।
 दिष्टया कृच्छ्रमिदं राजन्पारितं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
 दिष्टया पश्यामि राजेंद्र धर्मात्मानं सहानुगम् ।
 निस्तीर्णं दुष्करं राजस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥
 वैशम्पायन उवाच—ततोऽस्याऽकथयद्राजा दुर्योधनसमागमम् ।
 तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥ ३९ ॥

पर अब दुर्योधन के दिये हुए तुम्हारे दु खों का अन्त हो गया । अब तुम शत्रुओं को शीघ्र मारकर अपनी महानशालता का फल सुख भोगोगे । हे महाराज ! तुम ससार की गति को अच्छी तरह से जानते ही हो । इसी कारण ससार से मिलनेवाले दु खों से तुम्हारे चित्त में कुछ भी विकार नहीं उत्पन्न होता । अब तुम पूर्वज राजर्षियों के अनुयायी बनकर दान, सत्य और तप में विशेष रूप से अपनी बुद्धि को लगाओ । लोगों को आश्चर्य में डालनेवाले, क्षमा, दमन, सत्य और अहिंसा आदि सद्गुण तुममें सदा स्थिर रूप से हैं ॥३२।३५॥

तुम कोमल-प्रकृति, उदार, नाक्षणभक्त, जिते-

न्द्रिय और धर्मात्मा हो । समार जिनका साक्षी है, ऐसे अनेक प्रकार के धर्मों को तुम अच्छी तरह जानते हो । सासारिक विषयों को भी तुम बहुत अच्छी तरह जानते हो । तुम्हारे राजा होने पर सब प्रजा फिर आनन्दित होगी । बड़े भाग्य की बात है कि तुमने इस वनवास के कष्टदायक तन को पूर्ण कर लिया । बड़े सौभाग्य की बात है कि मैं इस समय भाइयों सहित तुम धर्मात्मा को सब कष्टों से मुक्त और धर्म में दृढ़ देख रहा हूँ ॥३६।३८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । अब महाराज शत्रु ने दुर्योधन से मिलने का, उसकी की हुई अपनी सेवा और सत्कार का और अपने

वैशम्पायन उवाच—अविजातो विजातस्य मौर्ख्याद्दूर्तस्य पश्यतः ।

परिदेवयते मंदः सकाशे सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

त्रिगर्तान्मे पिता यातः शून्ये संप्रणिधाय माम्।

सर्वा सेनामुपादाय न मे संतीह सैनिकाः ॥ १७ ॥

सोऽहमेको बहून्वालः कृतास्त्रानकृतश्रमः ।

प्रतियोद्भुं न शक्यामि निवर्त्तस्व बृहन्नले ॥ १८ ॥

बृहन्नलोवाच—भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्द्धनः ।

न च तावत्कृतं कर्म परैः किञ्चिद्गणाजिरे ॥ १९ ॥

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान्प्रति ।

सोऽहं त्वां तत्र नेप्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ॥ २० ॥

मध्यमामिपशुघ्राणां कुरूणामानतायिनाम् ।

नेप्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम् ॥ २१ ॥

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।

कथमानोऽभिनिर्णाय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ २२ ॥

न चेद्विजित्य गास्तास्त्वं गृहान्वै प्रतियास्यसि ।

प्रहसिष्यंति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ २३ ॥

अहमप्यत्र सैरंधन्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।

न च शक्यास्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ २४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । अपने लारथी बुद्धिमान् अर्जुन के अपे [उनके प्रौढ़ और पराक्रम का ढाल कुछ न जानने के कारण] मूर्खतावश यों खेद और व्याकुलता प्रकट करके राजकुमार उत्तर ने कहा—हे बृहन्नल । पिताजी मुझे तूने घर में अकेला छोड़, सब सेना, सामन्तों और महायुद्धों का साथ लेकर, त्रिगर्तराज सुशर्मा से युद्ध करने चले गये हैं । ऐसा कोई वीर योद्धा नहीं जो यज्ञ पर इस समय मेरी सहायता करे । विशेषकर मैं अभी बालक ही हूँ; मुझे तो परिश्रम करने का अभ्यास ही

नहीं है । इस कारण अस्त्र-शस्त्र की विद्या को अच्छी तरह जाननेवाले इन आगणित कौरव वीरों से मेरा अकेले युद्ध करना किसी तरह उचित नहीं है । इसलिए तुम अभी मेरा रथ नगर की लौटा ले चलो । १६।१८।

बृहन्नल ने कहा—हे महाबाहु ! शत्रुओं ने अभी आपको कुछ दानि या कष्ट नहीं पहुंचाया; फिर आप अभी से क्यों इस तरह व्याकुल होकर—कायरता प्रकट कर—शत्रुओं के हर्ष को बढ़ा रहे हैं ? युद्ध से पहले ही टिम्मत क्यों द्वारते हैं ? कौरवों ने अभी ऐसा कौन सा कार्य किया है जिससे आप इतने

यथा स सजेत्त्रिशिराः कामभोगेषु वेभृशम् ।
 क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥
 शृंगारवेपाः सुश्रोणयो हारैर्युक्ता मनोहरैः ।
 हावभावसमायुक्ता सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
 प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम ।
 अस्वस्यं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वरांगनाः ।
 भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताऽवलाः ॥ १२ ॥
 अप्परास ऊचुः—तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने ।
 यथा नाऽवाप्स्यसि भयं तस्माद्बलनिपूदन ॥ १३ ॥
 निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः ।
 तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
 यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम् ।
 शक्य एवाच—इंद्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम् ।
 तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयंत्यो वरांगनाः ॥ १५ ॥
 नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवांगेषु सौष्टवम् ।
 नाऽभ्यगच्छत्प्रहर्षं ताः स पश्यन्सुमहातपाः ॥ १६ ॥
 इंद्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसन्निभः ।
 तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपास्यताः ॥ १७ ॥

हे मरुतेश्वर ! बुद्धिमान् इन्द्र ने बहुत मोचकर
 त्वष्ट के पुत्र त्रिशिरा को लुमाने और तप से ऋष्ट
 करने के लिए अप्परासों को आज्ञा दी । इन्द्र ने
 उनसे कहा—तुम इन्हीं ममय मनोहर हार आदि
 आभूषण पदनकर, अच्छी तरह बन-टनकर, त्रिशिरा
 के पास जाओ और अपने हाव-भाव, सौन्दर्य आदि
 से उसे ऐसा लुमाओ कि वह तप छोड़कर भोग में
 लग जाय । हे अप्परासो ! त्रिशिरा के मय से मैं
 व्याकुल हो गया हूँ । तुम मेरा मय और व्याकुलता
 को दूर कर दो ॥१६॥१७॥

अप्परासों ने कहा—हे देवराज ! हम त्रिशिरा
 को लुमाने का ऐसा उपाय करेगी कि आपको उससे
 क्विचिद्नात्र भी मय नहीं रह जायगा । अपनी दृष्टि
 से सब लोकों को मानों मग्न कर देंगे, इस तरह
 तप में लगे हुए तपोनिधि त्रिशिरा को लुमाने के
 लिए हम मच जाती हैं । हम उन्हें अपने वश में
 करके आपका मय दूर कर देंगी ॥१६॥१७॥

हे महाराज ! इसके पश्चात् मच अप्परासुं इन्द्र
 की आज्ञा से त्रिशिरा के पास गई और उन्हें लुमाने
 के लिए मनोहर नाच, हाव-भाव, सुन्दरता दिमाने

क एष वेपसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः ।
 किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः ॥ ३३ ॥
 सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीवरूपं विभर्ति च ।
 तदेवैतच्छिरोशीवं तौ बाहू परिघोपमौ ।
 तद्देवाऽस्य विक्रांते नाऽयमन्यो धनंजयात् ॥ ३४ ॥
 अमरोष्विव देवेंद्रो मानुषेषु धनंजयः ।
 एकः कोऽस्मानुपायायादन्योलोके धनञ्जयात् ॥ ३५ ॥
 एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये सन्निहितः पुरे ।
 स एष किल निर्यातो वालभावात्न पौरुपात् ॥ ३६ ॥
 सत्रेण नूनं छन्नं हि चरंतं पार्थमर्जुनम् ।
 उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद्बहिः ॥ ३७ ॥
 स नो मन्यामहे हृष्टः भीत एष पलायते ।
 तं नूनमेव धावंतं जिघृक्षति धनंजयः ॥ ३८ ॥
 वैशम्पायन उवाच—इति स्म कुरवः सर्वे विमृशतः पृथक्पृथक् ।
 न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवन्ति ते ॥ ३९ ॥

छोड़कर उत्तर कुमार रथ से कूदकर भाग खड़ा हुआ उसने अपने मान-अपमान की कुछ परवा नहीं की । तब अर्जुन ने कहा—हे राजपुत्र ! युद्ध से भयभीत होकर भागना क्षत्रिय का धर्म नहीं है । यों भयभीत होकर भागने की अपेक्षा युद्ध में मर जाना ही क्षत्रिय के लिए श्रेष्ठ है ॥२९॥२८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब अर्जुन तुरन्त ही रथ से उतर पड़े । वे शीघ्रता के साथ उत्तर कुंभर को पकड़ लाने के लिए उसके पीछे दौड़े । उस समय उनकी लम्बी बेणी हिलने लगी और लाल चक्र उड़ने लगे । यह दृश्य देखकर कौरव-पक्ष के कुछ लोग हँसने लगे । इस तरह उत्तर के पीछे शीघ्रता के साथ अर्जुन को दौड़ते देखकर कौरव लोग

परस्पर कहने लगे कि राख में छिपी हुई अग्नि के समान अपने को छिपाये हुए यह पुरुष कौन है । इसके शरीर का कुछ हिस्सा पुरुष का सा और कुछ स्त्री का सा देख पड़ता है ॥२९॥३३॥

इसका वेप तो हीजड़ों का सा है; पर इसकी [बहुत सी] बातें अर्जुन से मिलती-जुलती हैं । इसका मस्तक ऊँचा है, गरदन मोटी है, भुजाएँ बेलन के समान बड़ और मोटी हैं । इसकी चाल और पराक्रम अर्जुन के समान जंचता है । इसलिए ये अशुभ अर्जुन होंगे । जैसे देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ हैं वैसे ही मनुष्यों में वीर अर्जुन श्रेष्ठ हैं । अर्जुन के मित्र और कौन मनुष्य हम लोगों के सामने व्यकेले आने की हिम्मत कर सकता है ! ऐसा जान पड़ता है कि मानों

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मधवानथ ।
 जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान्ययौ ॥ ४३ ॥
 मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा ।
 त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाऽथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
 क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत् ।
 त्वष्टोवाच—तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
 विनाऽपराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान्मम ॥ ४५ ॥
 तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम् ।
 लोकाः पश्यंतु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥
 स च पश्यंतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः ।
 उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
 अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह ।
 इंद्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात्तपसो मम ॥ ४८ ॥
 सोऽवर्द्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः ।
 किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥
 शकं जहीति चाऽप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः ।
 ततो युद्धं समभवद्वृत्रवासवयोर्महत ॥ ५० ॥

तीतर निकले । मदिश पीने के मुँह से कलविद्ध और
 श्येन पक्षी मकट हुए ॥३८।४२॥

यों त्रिशिरा के सिर कट जाने पर निश्चिन्त और
 निर्भय होकर, अपने को कृतार्थ मानकर, इन्द्र अपने
 लोक को चले गये । बड़ई भी अपने स्थान को चला
 गया । उधर प्रजापति त्वष्टा को जब इन्द्र के हाथ
 से अपने पुत्र के मोर जाने का समाचार मालूम हुआ
 तब क्रोध के मोर उनके नेत्र लाल हो गए । उन्होंने
 कहा—मेरा पुत्र क्षमा, दम और जितेन्द्रियता के साथ
 तपस्या कर रहा था ॥४३।४५॥

उमे बिना अपराध के इन्द्र ने मार डाला है,

इसलिए अब मैं इन्द्र को मारने के लिए वृत्रामुर
 को उत्पन्न करता हूँ । इस समय सब लोक और
 दुरात्मा, पापबुद्धि इन्द्र भी मेरे तपोबल को देखे ।
 क्रुद्ध होकर तपस्वी, यशस्वी त्वष्टा ने आचमन करके
 अग्नि में आहुति छोड़ी, उसी से भयङ्कर वृत्रामुर
 उत्पन्न हुआ । त्वष्टा ने उसने कहा—दे इन्द्रशत्रु !
 मेरे तप के प्रभाव से तुम बढ़े । वृत्रामुर का तेज
 सूर्य और अग्नि के समान था; वह ठीकी समय बढ़-
 कर आकाश को छूने लगा । वृत्रामुर ने त्वष्टा से
 कहा—आजा दीर्घिए, मैं क्या करूँ ? ॥४६।४७॥
 त्वष्टा ने कहा कि तुम इन्द्र को मार डालो ।

प्रयाह्येतद्रथानीकं मद्बाहुवलरक्षितः ।
 अप्रधृष्यतमं घोरं युतं वीरैर्महारथैः ॥ ४७ ॥
 मा भैस्त्वं राजपुत्राग्न्य क्षत्रियोऽसि परंतप ।
 कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विपीदसि ॥ ४८ ॥
 अहं वै कुरुभियोत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून् ।
 प्रविश्यैतद्रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ ४९ ॥
 यंता भव नश्चेष्ट योत्स्येऽहं कुरुभिः सह ।
 एवं त्रुवाणो वीभत्सुर्वैराटिमपराजितः ।
 समाश्रास्य मुहूर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ ॥ ५० ॥
 तत एनं विचेष्टतमकामं भयपीडितम् ।
 रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥ ५१ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोत्रहे उत्तराश्रासने अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

से अर्जुन ने कहा—हे शत्रुओं का नाश करनेवाले वीर कुमार ! यदि शत्रुओं से युद्ध करने की हिम्मत तुममें नहीं है तो तुम मेरे सारथी बनकर रथ हाँको । मैं अपने बाहुबल से तुम्हारी रक्षा और शत्रुओं से युद्ध करूँगा । तुम व्याकुल मत होओ । हे पुरुष-सिंह ! तुम क्षत्रिय हो, फिर भी शत्रुओं के बीच खड़े

होकर क्यों खेद कर रहे हो ? मैं कौरवों से युद्ध करूँगा और उन्हीं हराकर उनसे तुम्हारी गाँयें छीन लाऊँगा । तुम मेरे सारथी बनो । कभी किसी से न हारनेवाले अर्जुन ने विराट के पुत्र उत्तर को, यों सान्त्वना देकर, रथ पर बिठाया । फिर वे भी रथ पर सवार होकर आगे बढ़े ॥४५।५१॥

विराटपर्व के अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच—तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुंगवम् ।
 शमीमभिमुखं यांतं रथमारोप्य चोत्तरम् ॥ १ ॥
 भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः ।
 वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृताद्भयात् ॥ २ ॥

उनतालीसवाँ अध्याय ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! नपुं-सक-वेषधारी पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन को उत्तर के साथ रथ

पर चढ़कर उस मसानवाले शमीवृक्ष की ओर जाते देख—उनके कारण—भीष्म, द्रोण आदि महारथी

असन्तमिव लोकांस्त्रीन्सूर्याचंद्रमसौ यथा ।
 ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः ॥ १६ ॥
 ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः ।
 व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥
 न च शक्तोपि निर्जेतु वासवं बलिनां वर ।
 युध्यतोश्चापि वा कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥
 पीड्यंते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
 सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥
 अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्र लोकांश्च शाश्वतान् ।
 ऋषिवाक्यं निशम्याऽथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
 उवाच तानृषीन्सर्वान्प्रणम्य शिरसाऽसुरः ।
 सर्वे यूयं महाभागा गंधर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
 यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममाऽपि शृणुताऽनघाः ।
 संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः ।
 तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

ऋषय ऊचुः—सकृत्सतां संगतं लिप्सितव्यं ततः परं भविता भव्यमेव ।

नाऽतिक्रामेत्सत्पुरुषेण संगतं तस्मात्सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥ २३ ॥

की आज्ञा से ऋषिगण और इन्द्र आदि सब देवता वृत्रासुर के निवासस्थान पर गये । वहां पहुँचकर पराक्रमी देवताओं ने देखा कि वृत्रासुर अपने तेज में प्रज्वलित होकर दमों दिशाओं को सन्धान पहुँचा रहा है । जान पड़ता है कि मानो सूर्य और चन्द्रमा सहित तीनों लोकों को खा जायगा ॥ १४-१६ ॥

तब ऋषियों ने, इन्द्र और देवताओं के माथ, वहां जाकर वृत्रासुर में कहा—हे दुर्जय ! इस जगत् में तुम्हारा तेज व्याप्त हो गया है । उधर बहुत दिनों से युद्ध करने पर भी तुम अभी तक इन्द्र को जीत नहीं सके हो । देवता, दैत्य और मनुष्य आदि सब

प्रजा की तुम्हारे इस व्यय के युद्ध से बड़ी व्याकुलता हो रही है । इस कारण अब तुम मदा के लिए इन्द्र में मन्थि करओ । हमने तुम सुमूर्ख स्वर्गलोक के भोग प्राप्त कर सकोगे ॥ १७-२० ॥

तब महानेत्रस्वी वृत्र ने ऋषियों को प्रणाम करके कहा—हे ऋषियों ! हे गन्धर्वों ! तुम मरने जो कहा सो मैंने सुन लिया । अब मैं जो कहता हूँ, भी सुनो । हे देवताओ ! दो तेजस्वी पुत्रों में नित्रता कैसे हो सकती है ? इसी कारण इन्द्र में मेरी नित्रता होता सम्भव नहीं । ऋषियों ने कहा—एक बार मन्त्रों का मन्त्र कर ही लेना चाटिए; उसके

क्लेशितश्च वने शूरो वामवेनाऽपि शिक्षितः ।
 अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि ।
 नेहाऽस्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥
 महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः ।
 किरातवेपप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥ १३ ॥

वर्ण उवाच—सदा भवान्फाल्गुनस्य गुणैरस्मान्विकल्पसे ।

न चाऽर्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ॥ १४ ॥

दुर्योधन उवाच—यद्येव पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम ।

ज्ञाताः पुनश्चरिष्यन्ति द्वादशाऽब्दान्विशोषते ॥ १५ ॥

अथैष कश्चिदेवाऽन्यः क्लीववेषेण मानवः ।

शरैरेन सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्नुवाति तद्वाक्यं धार्तराष्ट्रे परंतप ।

भीष्मो द्रोणःकृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन् ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे अर्जुनप्रशंसायां एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

की ध्वजा में हनुमान् हैं, वृक्ष-विशेष जिनका नाम है, वे इन्द्र-सुत—अङ्गना-वेषधारी—किरीटी आज दुर्योधन को जीतकर गायें ले जायेंगे। इस (राजा) की रक्षा करो। य वीरश्रेष्ठ अर्जुन देवताओं और दैत्यों से भी युद्ध करने से मुँह मोड़नेवाले नहीं ॥१११॥

इन्द्र से इन्होंने अच्छी तरह अस्त्र-शस्त्र की विद्या सीख ली है। विशेषकर वनवाम में इनको जो दुःख सहने पड़े हैं उनसे ये अत्यन्त कुपित हो रहे हैं। इससे इस समय युद्ध किये बिना ये कभी न मानेंगे। इधर हम लोगों में ऐसा कोई वीर योद्धा नहीं जो इनका सामना कर सके। सुना है कि अर्जुन हिमालय पर्वत पर अपनी युद्धचातुरी से किरातवेप-धारी भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट कर चुके हैं ॥१२११३॥

कर्ण ने कहा—हे आचार्य! आप सदा अर्जुन

के गुणों का बखान और हम लोगों की निन्दा किया करते हैं। किन्तु वास्तव में अर्जुन का पौरुष और युद्धकौशल मेरे तथा महाराज दुर्योधन के पौरुष और युद्धकौशल के सोलहवें हिस्से के समान भी नहीं है ॥१४॥

दुर्योधन ने कहा—हे अङ्गराज कर्ण! यह नपुंसक-वेषधारी मनुष्य यदि सचमुच अर्जुन है तो अवश्य हम लोगों का मनोरथ पूरा होगा; क्योंकि पाण्डव बारह वर्ष वनवास के पश्चात् एक वर्ष तक अज्ञातवास करने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। अभी वह अज्ञातवास का वर्ष पूरा नहीं हुआ। इसी बीच में यदि अर्जुन प्रकट हो गये तो फिर पाण्डवों को, प्रतिज्ञा के अनुसार, बारह वर्ष तक वन में रहना पड़ेगा। और, यदि और कोई नपुंसक के वेष से युद्ध करने आया है तो अवश्य अभी हम तीक्ष्ण

अराजकं जगत्सर्वमभिभूतमुपद्रवैः ।
 नतो भीताऽभवन्देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
 दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
 न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयोनाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ऋषि भयभीत हो गये । चारों ओर अराजकता छा । कौन हो । स्वर्ग में देवता और ऋषि राजा के दिन गढ़े, घोर उपद्रव होने लगे । तब देवता लोग भय- पीड़ित थे; परन्तु कोई उनका राजा बनने के लिए भीत होकर सोचने लगे कि इस समय हमारा राजा उद्यत न होता था ॥४७॥५०॥
 उद्योगपर्व का दमवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

शक्य उवाच—ऋषयोऽथाऽनुवन्सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
 अयं वै नहुषः श्रीमान्देवराज्येऽभिपिच्यताम् ॥ १ ॥
 तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।
 ते गत्वा त्वनुवन्सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
 स तानुवाच नहुषो देवानृपिगणांस्तथा ।
 पितृभिः सहितान्राजन्परीप्सन्हितमात्मनः ॥ ३ ॥
 दुर्वलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने ।
 बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा ॥ ४ ॥
 तमनुवन्पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः ।
 अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे ॥ ५ ॥

ग्यारहवां अध्याय ॥ ११ ॥

शक्य ने कहा—हे राजा सुषिष्ठिर! इसकेपश्चात् देवताओं ने निश्चय किया कि श्रीमान् नहुष को अपना राजा बनाना चाहिए; क्योंकि वे तेजस्वी, यशस्वी और धार्मिक भी हैं। यह निश्चय करके देवता लोग राजा नहुष के पास गये। उनसे उन्होंने अपना राजा बनने के लिए प्रार्थना की। नहुष ने देवताओं,

ऋषियों और पितरों से अपने भन्ने की इच्छा से कहा—मैं दुर्बल हूँ, मुझमें आप लोगों का पालन करने की शक्ति नहीं है। इसलिए आप लोग किमी और इन्द्र के समान बर्ण पुत्रों को मोहन लीजिए ॥१॥२॥
 देवताओं और ऋषियों ने कहा—हे महाराज! हम तुम्हें अपने तरफ का बल देने दें, तममे तुम स्वर्ग-

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसंवाधकारकम् ।
 सुवर्णाविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ॥ ७ ॥
 अलं भारं गुरुं बोद्धुं दारुणं चारुदर्शनम् ।
 तादृशान्येव सर्वाणि बलवन्ति दृढानि च ।
 युधिष्ठिरस्य भीमस्य वीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

और लम्बा-चौड़ा है । न उसमें कोई गांठ है, न होता है । महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और कोई ऋण (कहीं से कटा-फटा) । उसका बोझ बहुत सहदेव के धनुष भी ऐसे ही दिव्य, दृढ़ और इन्हीं अधिक है । वह देखने में बहुत ही मनोहर प्रतीत श्रेष्ठ गुणों से युक्त है ॥१८॥

विराटपर्व का चाळीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

उत्तर उवाच—अस्मिन्वृक्षे किलोद्धृच्छं शरीरमिति नः श्रुतम् ।
 तदहं राजपुत्रः सन्स्पृशेयं पाणिना कथम् ॥ १ ॥
 नैवंविधं मया युक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना ।
 महता राजपुत्रेण मंत्रयज्ञविदा सता ॥ २ ॥
 स्पृष्ट्वन्तं शरीरं मां शबवाहमिवाऽशुचिम् ।
 कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले ॥ ३ ॥
 बृहन्नलोवाच—व्यवहार्यश्च राजेंद्र शुचिश्चैव भविष्यसि ।
 धनूप्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नाऽत्र विद्यते ॥ ४ ॥
 दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम् ।
 त्वां कथं निर्दिष्टं कर्म कारयेयं नृपात्मज ॥ ५ ॥

इकतालीसवां अध्याय ॥ ४१ ॥

उत्तर ने कहा—दे बृहन्नल ! मैंने सुना है कि वाले के समान अपवित्र हो जाऊंगा, फिर तुम मुझे इस पेड़ पर एक मुर्दा बंधा हुआ है । मैं राजकुमार कैसे छुओगे ? ॥१॥३॥
 और उससे कैसे छू सकता हूँ ! मन्त्र और व्रत के अर्जुन ने कहा—दे उत्तर ! तुम साहजान करो । जाननेवाले क्षत्रिय के बालक को देखी अशुद्ध वस्तु हमें छूने से तुम अपवित्र नहीं हो सकते । यह मुर्दा न छूनी चाटिए । मैं इस मुर्दे को छूकर मुर्दा दोनों नहीं, धनुष दूँ । दे राजकुमार ! तुम अच्छे बंधों में

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः ।
 अथ देवानुवाचेदमिंद्रं प्रति सुराधिपः ॥ ५ ॥
 अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी ।
 जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः ॥ ६ ॥
 वहूनि च नृशंसानि कृतार्नीन्द्रेण वै पुरा ।
 वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः ॥ ७ ॥
 उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्याऽहितं परम् ।
 युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति ॥ ८ ॥
 देवा ऊचुः—इंद्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते ।
 जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर ॥ ९ ॥
 शल्य उवाच—इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत ।
 जग्मुर्वृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाऽशुभं वचः ॥ १० ॥
 जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि ।
 दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम ॥ ११ ॥
 ते त्वां देवाः संगंधर्वा ऋषयश्च महाद्युते ।
 प्रसादयन्ति चेंद्राणी नहुपाय प्रदीयताम् ॥ १२ ॥
 इंद्राद्विशिष्टो नहुपो देवराजो महाद्युतिः ।
 वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी ॥ १३ ॥

नहुप कानाच हो रहे थे; उन्होंने देवताओं के समक्षोने पर घ्यान ही न दिया। उन्होंने देवताओं से कहा—इन्द्र ने जब यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्या को, उनके पति के जीते जी, दूषित किया था तब तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ? इन्द्र पहले बहुत से निन्दित कार्य कर चुके हैं। उन्होंने जब विध्वंस-वध आदि अधर्म और वृत्र-वध आदि छत्र के कार्य किये, तब तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ? इसलिये देवी इन्द्राणी मेरे पास आवे। इसी में उनका परम हित और सुखदारा कल्याण होगा ॥५८॥

देवताओं ने कहा—दे देवराज ! प्रमत्त होकर

क्रोध को गोकिए। प्रमत्त हजिए। हम आपकी इच्छा के अनुसार इन्द्राणी को आपके पास ले आयेगे। शल्य कहते हैं कि नहुप से यों कहकर सब ऋषि और देवता लोग वृहस्पति के पास, इन्द्राणी से नहुप का अशुभ आज्ञा का हाक कटने के लिए, गये। वहाँ जाकर उन्होंने वृहस्पतिसे कहा—दे गुरुजी ! हम जानते हैं कि इन्द्राणी ने आकर आपका आश्रय लिया है और आप भी उन्हें अमरदान कर चुके हैं। इस समय हम सब देवता, गन्धर्व और ऋषि आपसे मार्शना करने हैं कि आप नहुप को इन्द्राणी दे दीजिए। महानरस्त्री देवराज नहुप इन्द्र से भी

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

उत्तर उवाच—विंदवो जातरूपस्य शतं यस्मिन्निपातिताः ।
 सहस्रकोटिसौवर्णाः कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ १ ॥
 वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासन्ति दंशिताः ।
 सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ २ ॥
 तपनीयस्य शुद्धस्य पृष्ठे यस्येंद्रगोपकाः ।
 पृष्ठे विभक्ताः शोभन्ते कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ ३ ॥
 सूर्या यत्र च सौवर्णान्नयो भासन्ति दंशिताः ।
 तेजसा प्रज्वलन्तो हि कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ ४ ॥
 शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूषिताः ।
 सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ ५ ॥
 इमे च कस्य नाराचाः सहस्रा लोमवाहिनः ।
 समन्तात्कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्यमये ॥ ६ ॥
 विपाठाः पृथवः कस्य गार्धपत्राः शिलाशिताः ।
 हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः ॥ ७ ॥
 कस्याऽयमसितश्रापः पंचशार्दूललक्षणः ।
 वराहकर्णव्यामिश्राञ्जशरान्धारयते दश ॥ ८ ॥

वयालीसवा अध्याय ॥ ४२ ॥

उत्तर ने पूछा—यह सैंकड़ों-हज़ारों-करोड़ों सुवर्ण-बिन्दुओं से शोभित धनुष किसका है ? सुवर्ण के पत्तों से मढ़ा हुआ, आसपास जड़े हुए रत्नों से मनोहर और अत्यन्त सुखदायक 'पकड़'-वाला यह धनुष किसका है ? यह धनुष किसका है, जिसकी पीठ पर सुवर्ण के बने इन्द्रगोप कीट (बीरबहूटी) अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे हैं ? यह धनुष किसका है, जिस पर अनेक पक्षियों की मूर्तियाँ अंकित हैं ? और यह धनुष किसका है, जिसकी पीठ पर उज्ज्वल प्रभावले तीन सूर्य चमक रहे हैं ? देखिए, इस सुवर्णमय तर-

कस में ये एक हज़ार नाराच बाण किसके हैं ? १।५।
 इन विचित्र बाणों की चोंके चादी से मढ़ी हुई चमक रही हैं, और ये बाण रोमयुक्त हैं । ये गिद्ध के परों से शोभित, लोहे के बने, हल्दी के रङ्ग से रंगे, चिकने और चौड़े बाण किसके धनुष को शोभित करते थे ? यह काला सा धनुष किसका है जिसमें पाच शेरों के जिह्व बने हुए हैं और सुअर के कान के आकार के दस अद्भुत बाण जिसके द्वारा चलाये जाते हैं ? ये चौड़े, लम्बे, अर्धचन्द्राकार सात सौ नाराच बाण किसके हैं ? जिनका आगे का हिस्सा

अकंपन्नहुपं स्थानाद् दृष्ट्वा वलनिपूदनः ।
 तेजोमं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१ ॥
 ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत ।
 अदृश्यः सर्वं भूतानां कालाकांक्षी चचार ह ॥ २२ ॥
 प्रनष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता ।
 हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३ ॥
 यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोपिता यदि ।
 एक भर्तृत्वमेवाऽस्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४ ॥
 पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे ।
 देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५ ॥
 प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा ।
 पतिव्रतात्वात्सत्येन सोपश्रुतिमथाऽकरोत् ॥ २६ ॥
 यत्राऽऽस्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे ।
 इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यताम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

पाकर अपने पहले रूप को प्राप्त हुए ॥१४१२०॥
 राजा नहुष देवताओं के वरदान से दुःख हो
 रहे थे; उनमें यह शक्ति भी थी कि देवते ही हर
 एक प्राणी के तेज और बल को हर लेने थे। इन्द्र ने
 देखा कि इन कारणों से नहुष को इन्द्र-यद मे टटाना
 कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। तब शची के
 स्वामी इन्द्र फिर वहाँ से चल दिये और मय प्राणियों
 में अदृश्य रहकर अपने अनुकूल और नहुष के प्रति-
 कूल समय की बाट देवते हुए इषा-उषा विचरने लगे
 इधर इन्द्र को फिर भागा हुआ देखकर इन्द्राणी शोक
 में विह्वल हो उठीं और हाय नाथ ! हाय इन्द्र !
 कटकर विचार करने लगीं। वे कहने लगीं—जो देवते

दान और दान किया है, गुरुजनों की सेवा से संतुष्ट
 रक्षा है, जो मैं मत्स्यनिरत और पतिव्रता हूँ, तो एक
 इन्द्र ही मेरे पति रहें; दूसरे पुरुष का मुझ मुझ
 न देखना पड़े। मैं उत्तरायण की इस दिव्य पवित्र
 रात्रि देवी की प्रणाम करती हूँ। हे देवी ! मेरा
 मनोरथ पूर्ण करे। हे राजा पुषिष्ठिर ! शची देवी
 पतिव्रतापूर्वक पतिव्रतय और मत्स्य का आश्रय लेकर
 रात्रि देवी के शरणगत हुईं। फिर वे उपश्रुति देवी
 की मुखात्क उनमें कहने लगीं—हे भगवती ! कृपा
 करके मत्स्य के निदेशों मुझे मत्स्य-रूप पिय इन्द्र के
 पास ले चले ॥२१२०॥

— ० —

उद्योगपर्व का तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

की है ? यह आग्नि की ज्वाला के समान, तपे हुए कुन्दन की सी चमकीली, चिकनी, भारी तलवार किस की है ? और यह सुवर्ण की बूँदों से शोभित, छूने में साँप की खाल के समान चिकनी और ठण्डी, शत्रुओं के शरीर को काट डालनेवाली तलवार किसकी है ? हे बृहन्नला ! इस सामग्री को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है । मुझे इन शस्त्रों का सब हाल बतलाओ । ॥१११८॥

विराटपर्व का बयालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

बृहन्नलोवाच—यन्मां पूर्वमिहाऽपृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गांडीवमेतत्पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥ १ ॥
सर्वायुधमहामात्रं शातकुंभपरिष्कृतम् ।
एतत्तदर्जुनस्याऽऽसीद्गांडीवं परमायुधम् ॥ २ ॥
यत्तच्छतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान्मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ॥ ३ ॥
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगंधर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ४ ॥
एतद्द्वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽन्तरमेवाऽथ प्रजापतिरधारयत् ॥ ५ ॥
त्रीणि पंचशतं चैव शक्रोऽशीतिं च पंच च ।
सोमः पंचशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पंच च पाष्टिं च वर्षाणि श्रेयतवाहनः ॥ ६ ॥

तेतार्त्तसवा अध्याय ॥ ४३ ॥

बृहन्नला (अर्जुन) ने कहा—हे राजकुमार ! तुमने पहले जिस शत्रुसेना को चौपट करनेवाले धनुष के बारे में पूछा है वही सब धनुषों में श्रेष्ठ जगत्प्रसिद्ध अर्जुन का गाण्डीव धनुष है । अर्जुन ने इसी धनुष की सहायता से अकेले ही सभ देवताओं, दैत्यों और मनुष्यों को हराया है । देवताओं, दैत्यों और गन्धर्वों ने इस परम श्रेष्ठ धनुष की सैकड़ों-हजारों वर्ष तक आराधना की है ॥१११॥

इस धनुष को पहले ब्रह्मा ने एक हजार वर्ष तक धारण किया है । उनके बश्चात् प्रजापति ने एक हजार वर्ष तक, फिर इन्द्र ने पचासी हजार वर्ष तक फिर चन्द्रमा ने पाच सौ वर्ष तक इसे धारण किया है । चन्द्रमा से यह धनुष वरुणदेव को मिला । उन्होंने अपने पास सौ वर्ष तक रखकर यह दिव्य धनुष अर्जुन को दिया । अर्जुन के पास यह धनुष पैंसठ वर्ष से है । यह दिव्य धनुष अर्जुन के पास आकर, देवलोक

नहुपस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
 स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥
 भक्त मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
 तव कल्याणि यत्कार्यं तत्कारिण्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥
 न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
 सत्येन वै शपे देवि कारिण्ये वचनं तव ॥ ८ ॥
 इन्द्राण्युवाच—यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकांक्षे जगत्पते ।
 ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥
 कार्यं च हृदि मे यत्तद्देवराजाऽवधारय ।
 वक्ष्यामि यदि मे राजन्प्रियमेतत्कारिण्यसि ॥ १० ॥
 वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।
 इंद्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
 इच्छाम्यहमथाऽपूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
 यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नाऽसुराणां न रक्षताम् ॥ १२ ॥
 वहंतु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
 सर्वे शिविकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥
 नाऽऽसुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।

ने मुमकराकर कहा—दे सुन्दरी ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ, आओ ! कहो, मैं तुम्हारा क्या पिय करूँ ? हे कल्याणी ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो । बताओ, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? तुम राजा न करो । मेरा विश्वास करो । तुम्हारा जो कार्य हो, उसे करने के लिए मैं तैयार हूँ । मैं सत्य की सौगन्द स्वाकर यह बात कहता हूँ ॥५८॥

इन्द्राणी ने कहा—दे महाराज ! पहले तुमसे जो निश्चय कर चुकी हूँ उसी को मैं पूर्ण करना चाहती हूँ । इसलिये अब तुम्हारी मेरी स्वामी होगी; किन्तु दे देवराज ! जो मुझे पसन्द है और जा करने

के लिए मैं तुमसे कहने आई हूँ, सो मुने । मेम के मारे जो कहती हूँ वद मेरा पिय तुमको करना होगा । इन्द्र हाथी, घोड़े, रथ आदि तरह-तरह के वाहनो पर चढ़कर मेरे पास आतये । मैं चाहती हूँ कि तुम भी ऐसे ही अपूर्व वाहन पर बैठकर मेरे पास आओ जिस पर इन्द्र तो क्या, विष्णु और महादेव भी न सवार हुए हो । सब देवताओ और दानवों से अनोखे वाहन पर बैठकर आना स्वीकार करे तो मैं तुम्हें अंगीकार करने को तैयार हूँ ॥११,१२॥

दे राजेन्द्र ! मेरी इच्छा यह है कि आपि लोग मिलकर अपने कर्ण पर तुम्हारी पालकी ले

येनाऽसौ व्यजयत्कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे ।
 कलापो ह्येष तस्याऽऽसीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥
 ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः ।
 एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ॥ १७ ॥
 ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः ।
 हेमपुंखास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ॥ १८ ॥
 यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ।
 अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ॥ १९ ॥
 वैयाघ्रकोशः सुमहान्भीमसेनस्य सायकः ।
 गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ॥ २० ॥
 सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुनुत्तमः ।
 निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ॥ २१ ॥
 यस्तु पांचनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने ।
 नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ॥ २२ ॥
 यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ।
 सहदेवस्य विद्धयेनं सर्वभारसहं दृढम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्त्रे आयुधदर्पणन नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४३ ॥

अर्षचन्द्राकार वाण भीमसेन के हैं । ये पीले रङ्ग के पाच सिंघों के जिह से युक्त वाण नकुल के हैं । बुद्धिमान् नकुल ने इन सुवर्णपुङ्ख वाणों से शर्विष्य दिशा के राजाओं को जीता है ॥१२।१६॥

ये सूर्य के समान चमकीले, परशु क आकार के, वाण वीर सहदेव के हैं । ये तीक्ष्ण, पीले रङ्ग के, सुवर्णपुङ्खशोभित, तीन गाँठोंवाले, दिव्य वाण महाराज युधिष्ठिर के हैं । और, ये बहुत लम्बे और दृढ़ शिलीमुख वाण महावीर अर्जुन के हैं । राज-

कुमार, इस बाध की खाल की म्यान में शत्रुओं को डरवानेवाला भीमसेन का दिव्य खड्ग है ॥१७।२०॥

वह सुवर्ण की मूठवाली, पैनी, नङ्गिया म्यानवाली तलवार महाराज युधिष्ठिर की है । बकरे के चमड़े की म्यान में वह बहुत दृढ़ और तीक्ष्ण तलवार नकुल की है । गोचर्म की म्यान में रखी हुई दिव्य तलवार सहदेव की है और वह शत्रुओं के सिर काटनेवाला खड्ग अर्जुन का है ॥१२।२३॥

—०—

विराटपर्व का तैत्तलीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

त्वया त्यक्ते जगच्चेदं सद्यो नश्येद्भुताशन ॥ २ ॥

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राःस्वकर्मविजितां गतिम् ।

गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ ३ ॥

त्वमेवाऽग्रे हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।

यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।

त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूतिस्त्वमेवाऽग्रे भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ ५ ॥

त्वामग्रे जलदानाद्दुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।

बहन्ति सर्वभूतानि त्वतो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।

न तेऽस्यविदितं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

स्वयोर्नि भजते सर्वो विशस्वाऽपोऽविशंकितः ।

अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मत्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाद् स भगवान्कविरुत्तमः ।

बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान्वाक्यमुत्तमम् ॥ ९ ॥

सोलहवां अध्याय ॥ १६ ॥

बृहस्पति ने कहा—हे अग्नि ! तुम हव्य पहुंचाने-
वाले और सब देवताओं के मुख हो । तुम साक्षी
की तरह गूढ़ रूप से सब प्राणियों के शरीर के
भीतर रहते हो । कवियों ने तुम्हें परकल्प बनाया
है और तुम्हारे तीन रूप भी कहे हैं । हे हुताशन !
तुम न रहो तो यह जगत् वान की बात में नष्ट
हो जाय । ब्राह्मण लोग तुम्हारी वन्दना और आराधना
करके, अग्ने पुत्रों और सियों के माथ, अग्ने कर्मों
से प्राप्त अक्षय गति प्राप्त करते हैं । हे अग्नि ! तुम्हीं
हव्यवाद् और प्रपान द्वि हो । ऋषि लोग छोटे और
बड़े यज्ञों से तुम्हारी ही पूजा किया करते हैं ॥११॥

हे हव्यवाद् ! सृष्टि के आदि काल में तुम्हीं

तीनों लोकों को टल्ल करके हो और फिर प्रलयकाल
में तुम्हीं बरकर संहार करते हो । इस जगत् की
टल्लति, पालन और मंदार तुम्हीं से होता है । हे
अग्नि ! पण्डित लोग बादल और विजडियों को
तुम्हारा ही रूप समझते हैं । ज्वालामुखी तुमसे निकलकर
सब प्राणियों का पालन करती हैं । सब जगत् और
जन्तु तुम्हीं में स्थित है । हे पावक ! तीनों लोकों
में ऐसा कुछ नहीं है जिसे तुम न जानते हो । सभी
लोग अपनी योनि (दल्लस्थान) की मन्त्रे हैं; इसलिये
तुम भी बेशक जन्तु के भीतर चले जाओ । मैं सनातन
वेद के मन्त्रों में तुम्हारे तंत्र को बड़ाऊंगा । इन
प्रकार स्तुति करने पर देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् अग्नि

एकाग्रमनसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः ।

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः ।

वीभत्सुर्विजयः कृष्णोः सव्यसाची धनंजयः ॥ ९ ॥

उत्तर उवाच—केनाऽसि विजयो नाम केनाऽसि श्वेतवाहनः ।

किरीटी नाम केनाऽसि सव्यसाची कथं भवान् ॥ १० ॥

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो वीभत्सुरेव च ।

धनंजयश्च केनाऽसि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः ॥ ११ ॥

श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।

तत्सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच—सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।

मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाऽऽहुर्मा धनंजयम् ॥ १३ ॥

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।

नाऽजित्वा विनिवर्त्तामि तेन मां विजयं विदुः ॥ १४ ॥

श्वेताः काञ्चनसन्नाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः ।

संग्रामे युद्धयमानस्य तेनाऽहं श्वेतवाहनः ॥ १५ ॥

उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।

जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ॥ १६ ॥

तुम्हारे यहाँ रहनेवाली स्त्री द्रौपदी हैं ॥१५६॥

यह सुनकर उत्तर ने कहा—मैंने पहले अर्जुन के दस नाम सुने हैं । आप यदि वे दसों नाम बता सकें तो मुझे आपकी बातों पर विश्वास हो ॥७॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार ! तुमने पहले मेरे जो दस नाम सुने हैं उन्हें मैं कहता हूँ, मन लगाकर सुनो । अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, वीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनञ्जय, यही मेरे दस नाम हैं ॥८१९॥

उत्तर ने कहा—हे अर्जुन ! बताइए, आपने ये विजय आदि दस नाम क्यों धारण किये हैं ? मैंने

सुना है कि अर्जुन के ये दस नाम सार्थक हैं । इसलिये यदि आप इन नामों के पढ़ने का कारण बतला सकें तो मैं आपकी बातों पर विश्वास करूँगा ॥१०॥१२॥

अर्जुन ने कहा—मैं सब जनपदों (नगरों और देशों) को जीतकर, धन लेकर ठकी के बीच रहता हूँ—सम्यक्चिमान् हूँ—इसी से लोग मुझे धनञ्जय कहते हैं । मैं संग्राम में जाता हूँ तो युद्ध कर्त्तव्यवाले वीरों को दराकर विजय प्राप्त किये बिना नहीं लौटता, इसी से मेरा नाम विजय है । युद्ध के समय मेरे रथ में श्वेत रङ्ग के बड़िया घोड़े जोते जाते हैं, इसी से मैं श्वेतवाहन नाम से प्रसिद्ध हूँ । दिमालय पर्वत पर

ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये ।

तमाह शक्रो भविताऽग्रे तत्रापि चेंद्राग्नयोर्वै भाग एको महाक्रतौ ॥ ३२ ॥

शल्य उवाच—एवं संचित्य भगवान्महेंद्रः पाकशासनः ।

कुवेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥

वैवस्वतं पितृणां च वरुणं चाप्यपां तथा ।

आधिपत्यं ददौ शक्रः संचित्य वरदस्तथा ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इन्द्र ने कहा—मैं वरुण, यम, कुबेर आदि तुम सब लोकपालों को तुम्हारे पदों पर स्थापित करता हूँ । सब देवताओं सहित तुम लंग अपने पदों का और यज्ञ-भाग को पाकर अपना-अपना कार्य करो । हम सब मिलकर घोर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुप को जीत लेंगे । तब अग्नि ने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र ! मैं भी तुम्हारी सहायता करूँगा; मुझे भी यज्ञ में भाग

दिलाओ । इन्द्र ने कहा—हे पावक ! महायज्ञ में इन्द्राग्नि के नाम से एक भाग तुम्हारा भी होगा । शल्य कहते हैं—इसके पश्चात् इन्द्र ने सत्कार-पूर्वक कुबेर को सब सम्पत्तियों और यज्ञों का, यमराज को पितरों का और वरुण को जल का स्वामी बना दिया । ॥३२।३४॥

—०—

उद्योगपर्व का सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

शल्य उवाच—अथ संचितयानस्य देवराजस्य धीमतः ।

नहुपस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतेः ॥ १ ॥

तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत ।

सोऽत्रवीदर्यं देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥

विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च ।

दिष्ट्याऽथ नहुपो भ्रष्टो देवराज्यात्पुरंदर ॥ ३ ॥

दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवंतं बलसूदन ।

इन्द्र उवाच—स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात्तव ।

मत्रदशवाँ अध्याय ॥ १७ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! लोकपाल देवताओं के साथ इन्द्र इस प्रकार नहुप के वध का

उपाय मोच ही रहे थे, कि इसी समय महर्षि अगस्त्य ने वहां पहुंचकर इन्द्र की प्रशंसा करके कहा—बही

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षतुमर्हसि तन्मम ।
 यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
 अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ ०५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४४ ॥

मेरा एक नाम भूमिज्जय भी है । मैंने अब तक बिना जाने जो कुछ अनुचित बात आपको कही हो उस अपराध को क्षमा कीजिएगा । आप पहले जिन दुष्कर कामों को कर चुके हैं उन्हें स्मरण करके इस समय

मुझे बड़ा उताह हो रहा है । अब मुझे किंचित्मात्र भी भय नहीं है । मैं आपको देखकर और आपका परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हो रहा हूँ ॥२३।२५॥

—०—

विराटपर्व का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४५ ॥

उत्तर उवाच—आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया ।
 कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ १ ॥
 अर्जुन उवाच—प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
 सर्वान्नुदामि ते शत्रून्रणे रणाविशारद ॥ २ ॥
 स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिःसह ।
 युध्यमानं विमर्देऽस्मिन्कुर्वाणं भैरवं महत् ॥ ३ ॥
 एतान्सर्वानुपासंगान्क्षिप्रं वधीहि मे रथे ।
 एकं चाऽऽहर निखिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥
 वैशम्पायन उवाच—अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
 अर्जुनस्याऽऽयुधान्गृह्य शीघ्रेणाऽवातरत्ततः ॥ ५ ॥

पैंतालीसवा अध्याय ॥ ४५ ॥

उत्तर ने कहा—हे वीर ! मैं आपका सारथी बनता हूँ । आप रथ पर विराजिए । आज्ञा दीजिए, आपका रथ किधर ले चलूँ । मैं बिना मेना के भी आपके साथ समरभूमि में चलूँगा ॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे पुरुषमिंद्र ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ । अब तुम भयभीत मत होओ । मैं अकेला ही तुम्हारे शत्रुओं का नाश करूँगा । तुम

धीरज के साथ देखो, मैं युद्ध के मैदान में कैसा पराक्रम दिखाता हूँ । इस समय तुम शीघ्र मेरे रथ पर ये तरकस रख दो और वट निर्मल दिव्य खड्ग ले लो ॥२।४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! अर्जुन के वाक्य सुनकर सब काम करके [अन्य चारों पाण्डवों के दक्ष उभी वृक्ष पर ररकर] उत्तर नीचे उतर आया ॥५॥ अब अर्जुन ने कहा—हे उत्तर ! मैं युद्ध में

अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाऽधर्मपीडितः ॥ १२ ॥

तेनाऽभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपातिः ।

ततस्तं तमसाऽऽविश्रमवोचं भृशपीडितम् ॥ १३ ॥

यस्मात्पूर्वैः कृतं राजन्ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम् ।

अदृष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा ॥ १४ ॥

यच्चापि त्वमृषीन्मूढ ब्रह्मकल्पान्दुरासदान् ॥ १५ ॥

• ब्राहान्कृत्वा ब्राहयसि तेन स्वर्गाञ्जतप्रभः ।

ध्वंस पापपरिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले ॥ १६ ॥

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान् ।

विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ १७ ॥

एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम ।

दिप्रथा वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकंटकः ॥ १८ ॥

त्रिविप्रपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्शचीपते ।

जितेंद्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १९ ॥

शल्य उवाच—ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः ।

पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा ॥ २० ॥

अगम्य मुनि ऋते हैं कि हे इन्द्र ! इभी बात पर बहस करते-करते नहुष ने, क्रोधान्ध होकर, मेरे सिर में लात मार दी । इस अधर्म के कारण बह तरकाल तेज से हीन और श्रीभ्रष्ट हो गया । तब तमोगुण से व्याकुल नहुष को अत्यन्त पीड़ित देखकर मैंने कहा—रे दुष्ट ! तू पहले के ब्रह्मा आदि के द्वारा ऋद्दे और ब्रह्मर्षियों के द्वारा माने गये प्रमाण-वाक्यों को दोष लगाता है, अपमान उद्दिगता है । मेरे सिर पर तूने लात मारी है और मदा ब्रह्मतुल्य दुर्दपे ऋषियों को अपनी मचायी ले चन्नेनाला वाःन बनाये हुए है । इन कारणों मे हे पापी ! तू तेज से हीन होकर स्वर्ग से पृथ्वी पर गिर । तेग पुत्र क्षीण

हो गया है । पृथ्वी पर तू दस हजार वर्ष तक अज्ञपर के रूप से रहकर फिर स्वर्ग को आवेगा ॥१२।१७॥

हे शत्रुदमन इन्द्र ! इस तरह दुरात्मा नहुष देव-राज्य में भ्रष्ट हो गया है । बड़े ही माय की बात है कि देवताओं और ऋषियों का कण्टक माग गया । अब हम लोगों का अम्बुदय होगा । तुम स्वर्ग में चले । इन्द्रियों और यज्ञों को तुम और ही चुके हो, अब महर्षियों के मुँह में अपनी म्नुति मुनते हुए सब लोगों की रक्षा करो ॥१८।१९॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब देवता, महर्षि, विभूषण, यक्ष, नाग, गणस, गन्धर्व, देवकन्या, अस्सग, मरुत, नदी, पर्वत, मनुद आदि सबने

पपात महती चौल्का दिशो न प्रचकाशिरे ।
 भ्रांतध्वजं खं तदाऽऽसीत्प्रकंपितमहाद्रुमम् ॥ ३१ ॥
 तं शब्दं कुरवोऽजानन्विस्फोटमशनेरिव ।
 यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद्रथे ॥ ३२ ॥
 उत्तर उवाच—एकस्त्वं पांडवश्रेष्ठ वहूनतान्महारथान् ।
 कथं जेष्यासि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ॥ ३३ ॥
 असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः ।
 अत एव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ॥ ३४ ॥
 उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत्तदा ॥ ३५ ॥
 युध्यमानस्य मे वीर गंधर्वैः सुमहाबलैः ।
 सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत्सखा मम ॥ ३६ ॥
 तथा प्रतिभये तस्मिन्देवदानवसंकुले ।
 खांडवे युध्यमानस्य कस्तदाऽऽसीत्सखा मम ॥ ३७ ॥
 निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः ।
 युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाऽभवत् ॥ ३८ ॥
 स्वयंवरं तु पांचाल्या राजभिः सह संयुगे ।
 युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाऽभवत् ॥ ३९ ॥

तेज वायु चलने लगी । चारों दिशाओं में घना अंधारा छा गया । बार-बार वेग से घोर शब्द के साथ उल्कापात होने लगे । रथों के शृण्डे ढिलने और वृक्ष उलट-उलटकर गिरने लगे । वज्रपात के समान बह, गाण्डीव धनुष का, महाभयङ्कर शब्द सुनकर कौरवों ने सगस्र लिया कि यह अर्जुन के गाण्डीव धनुष का ही शब्द है । ॥२९॥३२॥

उत्तर कुमार ने अर्जुन में कहा—हे पाण्डव-श्रेष्ठ ! आप तो असहाय अकेले हैं और महारथी महाकाय कौरव बहुत से हैं । उनके सहायक भी बहुत से हैं । मुझे भिन्ता हो रही है कि ऐसी दशा

में आप किस तरह इन अस्त्र शस्त्र वीरों को परास्त कर सकेंगे । इसी से मय के मारे में आपके आगे खड़ा हूँ ॥३३॥३४॥

यह सुनकर दैमते हुए अर्जुन कहने लगे—
 हे उत्तर ! तुम तनिक भी न भयभीत होओ । देखो, "घोषयात्रा" के समय दुर्योधन को छुड़ाने के लिए जब मैंने महाबली गन्धर्वों से युद्ध किया था तब कौन मेरी सहायता करनेवाला था ? जब साण्डव वन में मैंने देव-मेधा के साथ घोर युद्ध किया था तब कौन मेरा सहायक था ? ॥३५॥३६॥

जब इन्द्र का कार्य सिद्ध करने के लिए पाण्डवी

भवान्कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः ।

तत्र तेजोत्रयः कार्यः कर्णस्याऽर्जुनसंस्तवः ॥ २३ ॥

शल्य उवाच—एवमेतत्करिष्यामि यथा मां संप्रभापसे ।

यच्चाऽन्यदपि शक्यामि तत्करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

वेश्मपायन उवाच—नतस्त्वामंत्रय कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा ।

जगाम सवलः श्रीमान्दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनाद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टत्रयोऽध्यायः ॥ १८ ॥

कहा—आपको कर्ण का सारथी बनना पड़ेगा। उस समय आप अर्जुन की प्रशंसा करके कर्ण का उत्साह घटाते रहिएगा। शल्य ने कहा—मैं यह काम अवश्य कर दूंगा। साथ ही और भी जो कुछ तुम्हारी भलाई

मुझे हो सकती वह मैं करूंगा। हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् पाण्डवों से विद्रा होकर मद्राज शल्य राजा दुर्योधन के पास गये ॥२१२५॥

—०—

उद्योगपर्वे न अठारहवां अध्याय ममाम हुआ ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

वेश्मपायन उवाच—युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः ।

महता चतुरंगेण बलेनाऽगाद्युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः ।

नानाप्रहरणा वीराः शोभयांचक्रिरे बलम् ॥ २ ॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः ।

परिधैर्यप्रिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ॥ ३ ॥

खड्गकार्मुकनिर्व्यूहे शरैश्च विविधैरपि ।

तैलधौतैः प्रकाशाङ्गिः सदाऽशोभत वै बलम् ॥ ४ ॥

तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च ।

वभूव रूपं सैन्यस्य मेघम्येव सविद्युतः ॥ ५ ॥

उन्नीमवा अध्याय ॥ १९ ॥

वेश्मपायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मद्राथी यादववीर सात्यकि बहुत ही चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर राजा युधिष्ठिर के पास आये। उनके देशों से आये हुए वीर योद्धा तट्ट-तट्ट के शस्त्र

लिये उन सेना की शोभा बढ़ा रहे थे। तेलसे घोड़े चमकीले परश्वध, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, पाश, खड्गी, पाण्ड, निर्मल कारवाल, खड्ग, घनुष और विविध बाण उन सेना की सुशोभित कर रहे

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत्तदा ।
 रथमास्थाय वीभत्सुः कौतेयः श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥
 वद्धगोधांगुलित्राणः प्रगृहीतशरांसनः ।
 ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ॥ ७ ॥
 स्वनवंतं महाशंखं बलवानरिर्मर्दनः ।
 प्राधमद्वलमास्थाय द्विपतां लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥
 ततस्ते जवना धुर्यां जानुभ्यामगमन्महीम् ।
 उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ९ ॥
 संस्थाप्य चाऽश्वान्कौतेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः ।
 उत्तरं च परिष्वज्य समाश्रासयदर्जुनः ॥ १० ॥
 अर्जुन उवाच—मा भैस्त्वं राजपुत्राग्न्य क्षत्रियोऽसि परंतप ।
 कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ११ ॥
 श्रुतास्ते शंखशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ।
 कुंजराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १२ ॥
 स त्वं कथमिहाऽनेन शंखशब्देन भीषितः ।
 विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ॥ १३ ॥
 उत्तर उवाच—श्रुता मे शंखशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ।
 कुंजराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १४ ॥

वह विचित्र ध्वजा, और सब युद्ध-सामग्री के साथ,
 आकाश से अर्जुन के रथ पर गिरी। अर्जुन ने उम ध्वजा
 समेत रथ की प्रदक्षिणा की। अब वे बानर-चिह्न-युक्त
 ध्वजा से शोभित रथ पर सवार हुए। अंगुलियों में गोद के
 चमड़े के अंगुलित्राण पहने, गाण्डीव धनुष लिये हुए
 अर्जुन युद्ध करने के लिए तैयार हुए ॥५॥७॥

शत्रुनाशन अर्जुन शत्रुओं के रोंगटे सड़के कर
 देनेवाला शङ्ख बजाने लगे। अर्जुन का दारुण शङ्ख-
 नाद सुनकर वेगशाली घोड़े ऐसे डरे कि मुँह के बल
 पृथ्वी पर गिर पड़े और उत्तर बेहोश सा होकर रथ

के ऊपर बैठ गया। अर्जुन ने स्वय पाइों की, रास
 अपने हाथ में लेकर, उठाया ॥८॥१०॥

फिर उत्तर को गले से लगाकर दिनामा देते
 हुए अर्जुन कटन लगे—हे राजपुत्रार ! डरा नहीं।
 हे पुरुषसिंह, तूम क्षत्रिय होकर किसलिण शत्रुओं के
 बीच में यों खेद कर रहे हो ? तूम बहुत मे शङ्को
 का शब्द, युद्ध के नगाइों वा शब्द और युद्ध के
 टारियों का चिम्पाइना सुन लुके हो; कि, क्यों इस
 समय साधारण मनुष्य की तरह पवरा रहे हो ?
 सुगता। सुन क्यों मलिन देख पड़े राटे ॥११॥१३॥

यः स पांचालराजेन प्रेषितः कौरवान्प्रति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥
समाप्तश्च सेनोद्योगपर्वः ।

वारण, वाटघान, वासुन पर्वत आदि घनघान्यपूर्ण पुरोहित, हस्तिनापुर में आया । राह में उसने उस
प्रदेशों में फैलकर टिक रही । हे राजा जनमेजय ! विशाल सेना के पड़ाव देखे ॥२०॥३३॥
इसी बीच में राजा द्रुपद का भेजा हुआ दूत, वह

उद्योगपर्व का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

अथ संजययानपर्वः ।

अथ विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः ।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥
सर्वकौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ठा चैवमनामयम् ।
सर्वसेनाप्रणेतृणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥
सर्वैर्भवद्भिविदितो राजधर्मः सनातनः ।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्रश्च पांडुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नाऽत्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु ।
पांडुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥
एवं गते पांडवैर्विदितं वः पुरा यथा ।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

वीसवां अध्याय ॥ २० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रुपद
का पुरोहित जब कौरवों की समा में पहुंचा तब
धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुर ने उसका यथोचित सत्कार
किया । पाण्डवों के कुशल-समाचार कहकर और
कौरवों की कुशल पूछकर सप सेना-नायकों के सामने
पुरोहित ने कहा—आप लोग सनातन राजनीति को
अच्छी तरह से जानते हैं । परन्तु आपके जानने पर

भी प्रसन्नवश में कुछ कहता हूं ॥१॥३॥

धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों एक ही पिता की
सन्तान हैं । पिता की सम्पत्ति में दोनों का ही समान
भाग है । धृतराष्ट्र के पुत्रों ने पिता की सम्पत्ति
पाई है, तो फिर पाण्डवों को अपने पिता की सम्पत्ति
क्यों नहीं मिली ? यह बात आप लोगों से छिपी हुई
नहीं है कि पहले जब पाण्डव वन में थे तब धृतराष्ट्र

अज्ञातवासो वीभत्सुरथाऽस्माभिः समागतः ॥ ४ ॥
 अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि वीभत्सुरागतः ।
 पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥
 लोभाद्वा ते न जानीयुरस्मान्वा मोह आविशत् ।
 हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥ ६ ॥
 अर्थानां च पुनर्द्वेषे नित्यं भवति संशयः ।
 अन्यथा चिंतितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ॥ ७ ॥
 उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम ।
 यदि वीभत्सुरायातस्तदा कस्याऽपराध्नुमः ॥ ८ ॥
 त्रिगर्त्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान्योद्भुमिहाऽऽगताः ।
 मत्स्यानां विप्रकारांस्ते वहूनस्मानकीर्त्तयन् ॥ ९ ॥
 तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
 प्रथमं तैर्गृहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
 सप्तम्यामपराह्णे वै तथा तैस्तु समाहितम् ॥ १० ॥
 अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्वस्योदयं प्रति ।
 इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ॥ ११ ॥

करना पड़ेगा । अमी पाण्डवों का वह समय पूरा नहीं हुआ । अज्ञातवास के तेरहवें वर्ष में अभी कुछ दिन शेष हैं । इसलिए अज्ञातवास का समय पूरा होने के पहले ही यदि अर्जुन आप हैं तो पाण्डवों को फिर बारह वर्ष वन में व्यतीत करने पड़ेंगे ॥११५॥

उन्होंने लोम के मारे प्रतिज्ञा को तोड़ा है, या हमी भूलते हैं । ठीक-ठीक क्या बात है, सो पितामह भीष्म को मालूम होगी । किसी विषय में सुविधा होने पर सदैव संशय हुआ करता है । कोई विषय अपनी समझ से निश्चित होने पर भी और का और प्रमाणित हो जाता है । धर्मालोम भी स्वार्थ सोचने के समय भ्रम में पड़ सकते हैं । तात्पर्य यह है

कि पाण्डवों के अज्ञातवास का समय समाप्त हो चुका है या नहीं, इस बारे में मुझे बहुत मन्देह हो रहा है । इस विषय में पितामह भीष्म ही ठीक बता सकते हैं । इस लोप महा मत्स्यदेश की सेना से युद्ध करने के लिए आये हैं । यदि मत्स्यदेश की सेना के साथ हमसे युद्ध करने अर्जुन आये हैं तो इसमें हमारा कोई अपराध नहीं । मत्स्यदेश के राजा ने त्रिगर्त्तदेश को बहुत दानि पहुँचाई है । त्रिगर्त्तराज ने, डर के मोर व्याकुल होकर हमसे महायत्न मागी । हमने उनकी महायत्न देना स्वीकार करके उनसे वादा किया कि पहले वे लोग जाकर सप्तमी को तीसरे पहर राजा विराट की [दक्षिण ओर की] गोशाला पर आक्रमण

दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
 न तत्राऽविदितं ब्रह्मल्लोके भूतेन केनचित् ।
 पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ ९ ॥
 दुर्योधनार्थं शकुनिर्द्यूते निर्जितवान्पुरा ।
 समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
 स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
 वलमाश्रित्य मत्स्यानां पांचालानां च मूर्खवत् ॥ ११ ॥
 दुर्योधनो भयाद्विद्वन्न दद्यात्पादमंततः ।
 धर्मतस्तु मर्हा कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ १२ ॥
 यदि कांक्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
 यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरंतु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥
 ततो दुर्योधनस्यांके वर्ततामकुनोभयाः ।
 अधार्मिकीं तु माबुद्धिं मोर्यारकुर्वंतु केवलात् ॥ १४ ॥
 अय ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पांडवाः ।
 आसाद्येमान्कुरुश्रेष्ठान्स्मारिष्यन्ति वचो मम ॥ १५ ॥
 भीष्म उवाच—किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत्समर्त्तमर्हासि ।

दुर्योधन की ओर देखा और कहा—हे ब्रह्मन्! आपने जिस बारे में ये वचन कहे उसे, ऐसा कोई नहीं है, जो जानता न हो। जानी हुई बात को बार-बार करने से कोई लाभ नहीं है। ममी जानते हैं कि शकुनिने दुर्योधन की ओर से चौसर स्वरूप युधिष्ठिर का राज्य जीत लिया था और अन्त की युधिष्ठिर वनवास की प्रतिज्ञा करके वन को गये थे ॥८।१०॥

युधिष्ठिर उस प्रतिज्ञा को पूर्ण किये बिना ही, मूर्खों की तरह, विराट और द्रुपद के बर पर मूलकर अपने पिता का राज्य लेना चाहते हैं। राजा दुर्योधन धर्म के अनुसार अपने गुरु को भी प्राण पृथ्वी का राज्य दे डालने को तैयार हैं; किन्तु किमी के

दबाव से मयभीत होकर पग भर मी पृथ्वी नहीं दे सकते। जो पाण्डव लोग अपने पिता का राज्य लेना चाहते हैं तो प्रतिज्ञा के अनुसार चारद वर्ष वन में फिर रहें और अज्ञातवाम करें; क्योंकि हमने समय पूर्ण होने के पहले ही दण्ड विगत की नगरी में देव न्द्रिया है। जब वे फिर वनवास काके प्रतिज्ञा पूर्ण करेगा तब दुर्योधनकी शरण में निर्भय होकर रहेंगे। नृन्द्वन्द्व प्रतिज्ञा पूर्ण किये बिना राज्य प्राप्त करने की उच्च बुद्धि करना उनके लिए सर्वथा अनुचित है। यदि पाण्डव लोग धर्म को छोड़कर दण्ड की इच्छा करने लगे तब दुर्योधन को मारना होगा जो उन्हें मरे के लिये तैयार करेगी और शकुनि को मरे के लिये तैयार करेगी।

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद्वचः ।
 आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २० ॥
 जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः ।
 अर्जुने चाऽस्य संप्रीतिमधिकामुपलक्षये ॥ २१ ॥
 तथा हि दृष्ट्वा वीभत्सुमुपायांतं प्रशंसति ।
 यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २२ ॥
 ह्येपितं ह्युपशृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम् ।
 अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशंगताः ।
 यथा न विभ्रमेत्सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २३ ॥
 इष्टा हि पांडवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः ।
 आसयन्नपरार्थाश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ॥ २४ ॥
 अश्वानां ह्येपितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत् ।
 स्थाने वाऽपि व्रजंतो वा सह ह्येपति वाजिनः ॥ २५ ॥
 सदा च त्रायवो वांति नित्यं वर्षति वासवः ।
 स्तनयित्वाश्च निर्घोषः श्रूयते घट्टशस्तदा ॥ २६ ॥

हो जायँ । चाहे इन्द्र-सहित देवता हों और चाहे स्वयं यमराज, उनसे युद्ध अवश्य किया जायगा । कोई हमसे गायें छीनने आँवेंगे तो हम उससे युद्ध करेंगे । बिना युद्ध किये हुए कौन हस्तिनापुर जा सकता है ? [विपक्षी] पैदल हो चाहे घोड़े का सवार, युद्ध-क्षेत्र में सामना होने पर, कोई मेरे बाणों से नहीं बचेगा ॥१५।१९॥

दुर्योधन की सम्मति सुनकर कर्ण ने कहा—
 इस समय द्रोणाचार्य की बातों पर ध्यान न देकर युद्ध की नीति का विधान करना चाहिए । आचार्य पाण्डवों के मत को जानते हैं, इसी से इस तरह की बातें कहकर डरवा रहे हैं । आचार्य को अर्जुन बहुत प्यारे हैं । मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है । इसी

से अर्जुन को आते देखकर ही वे उनकी प्रशंसा कर रहे हैं । अर्जुन के घोड़ों का दिनदिनाना सुनकर ही आचार्य के भयभीत हो जाने से सब गड़बड़ हो जायगा । इससे ऐसा मन्वन्ध करना चाहिए जिसमें इस विदेश में, वन के बीच, विपक्षि में पड़ी हमारी सेना (वसन्त में) आन्त या विपथगामिनी न हो जाय । आचार्य स्वीकार करते हैं कि पाण्डवों पर उन्हें विशेष प्रीति है ॥२०।२४॥

[सम्भव है, अपना तात्पर्य सिद्ध करने के लिए पाण्डव लोग द्रोणाचार्य को तुम्हारे यहाँ छोड़ गये हों] नहीं तो केवल घोड़ों का दिनदिनाना सुनकर कौन मनुष्य शत्रु की प्रशंसा करने लगेगा ! अपने स्थान में रहते समय या खाना हाते समय दिनदिनाना

श्येनौ यथा पक्षिपूगान्कजंतौ माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥ १६ ॥
 एतद्वलं पूर्वमस्माकमेवं यत्सत्यं तान्प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
 तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी धृष्टद्युम्नः पांडवानामिहैकः ॥ १७ ॥
 सहामात्यः सोमकानां प्रवर्हः संत्यक्तात्मा पांडवार्थे श्रुतो मे ।
 अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो येषां स स्यादग्रणीवृष्णिंसिंहः ॥ १८ ॥
 सहोपितश्चरितार्थो वयस्थो मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
 स वै सपुत्रः पांडवार्थे च शश्वद्युधिष्ठिरे भक्त इति श्रुतं मे ॥ १९ ॥
 अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो महेष्वासा भ्रातरः पंच सति ।
 केकयेभ्यो राज्यमाकांक्षमाणा युद्धार्थिनश्चाऽनुवसन्ति पार्थान् ॥ २० ॥
 सर्वांश्च वीरान्पृथिवीपतीनां समागतान्पांडवार्थे निविष्टान् ।
 शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि प्रीत्या युक्तान्संश्रितान्धर्मराजम् ॥ २१ ॥
 गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः ।
 म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवंतः समागताः पांडवार्थे निविष्टाः ॥ २२ ॥
 पांड्वश्च राजा समितींद्रकल्पो योधप्रवीरेर्वहुभिः समेतः ।
 समागतः पांडवार्थे महारत्ना लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥ २३ ॥

तेजस्वी, बली, फुरतीले, अर्जुन के सिन्धो, सुशिक्षित नकुल और सहदेव युद्ध में एक भी शत्रु को जीता नहीं छोड़ेगे और दो बाज़ जैसे पक्षियों पर आक्रमण करते हों वे भी शत्रुमेना पर आक्रमण करेंगे। यह सत्य है कि हमारी ओर से युद्ध करने के लिए अवार सेना एकत्र हुई है, परन्तु पाण्डवों के मुकाबले में वह मुझ कुछ नहीं जचती। तेजस्वी पराक्रमी धृष्टद्युम्न और मन्त्रियों-मदित सोमकश्रेष्ठ राजा द्रुपद पाण्डवों के पक्ष में हैं। मैंने सुना है कि वे पाण्डवों के लिए अपने प्राण तक दे देने को तैयार हैं। वृष्णिमिह अर्हृष्ण निवक नेना और मनाह-कार हैं उन युधिष्ठिर का सामना कौन कर सकता है ? ॥१६।१८॥

राजा विराट के यहाँ पाण्डव लोग एक वर्ष तक

रहे हैं और उन्होंने विराट का उपकार भी किया है। युद्ध मत्स्यराज विराट और उनके पुत्र युधिष्ठिर के बड़े मरु हैं [वे भी पाण्डवों की ओर से युद्ध करेंगे,] यह मैंने सुना चुका हूँ। केकयदेश के मदा-सोदा पाच राजकुमार पहले हमारे पक्ष में थे। हम लोगों ने जब से उन्हें केकयदेश से बाहर निकाल दिया और उनके राज्य छीन लिया, तब से वे हमारे शत्रु हो गये हैं। इस समय वे भी अपना राज्य लेने की इच्छा से पाण्डवों के सहायक हो गये हैं और हमसे युद्ध करने के लिए हम ओर जा मित्रे हैं ॥१९।२०॥

मैंने सुना है कि हमी तरह सब प्रधान शूवीर राजा लोग पाण्डवों पर भक्ति रखते हैं और प्रसन्नतापूर्वक उनका सहायता करने के लिए युधिष्ठिर के पाम पहुच गये हैं। पर्वतों और दुर्गों में रहनेवाले,

शत्रुओं के गुणों का बखान करनेवाले आचार्यों | नाश हो । सेना की नाकेबन्दी करके बीच में सब
और पण्डितों की बात पर ध्यान न देकर इस समय | गाये कर लो । सुरक्षित व्यूह-रचना के बीच में डटकर
उसी नीति का ग्रहण करना चाहिए जिससे शत्रु का | हम शत्रुओं से युद्ध करेंगे ॥३३॥३४॥

विराटपर्व का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

कर्ण उवाच—सर्वानायुष्मतो भीतान्संत्रस्तानिव लक्ष्ये ।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वाश्चैवाऽनवस्थितान् ॥ १ ॥
यद्येष राजा मत्स्यानां यदि वीभत्सुरागतः ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ २ ॥
मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम् ।
नाऽवृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३ ॥
रुक्मपुंखाः सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया ।
छादथंतु शराः पार्थ शलभा इव पादपम् ॥ ४ ॥
शराणां पुंखसक्तानां मौर्व्याऽभिहतया दृढम् ।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ॥ ५ ॥
समाहितो हि वीभत्सुर्वर्पाण्यष्टौ च पंच च ।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन्मयि संप्रहरिष्यति ॥ ६ ॥
पात्रीभूतश्च कौतेयो ब्राह्मणो गुणवानिव ।
शरौघान्प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान्सहस्रशः ॥ ७ ॥

अड़तालीसवा अध्याय ॥ ४८ ॥

कर्ण ने कहा—मुझे सभी वीर जो द्रोहाभयभीत हुए
घबराये और युद्ध से विमुख हुए देख पड़ रहे हैं ।
यह आनेवाला पुरुष विशाट हो चाहे अर्जुन [भयभीत
होने की क्या बात है ?] मैं इसे वैसे ही रोक दूँगा जैसे
तटमूमि समुद्र को रोक रखती है । मेरे धनुष से
छूटे हुए, विपैले साप-सडस, तीक्ष्ण बाण खाली नहीं
लौटेंत । विडियाँ जैसे वृक्ष पर जगह जगह बैठ जाती

हैं, वैसे ही मेरे सुवर्ण-माण्डित बाण अर्जुन के शरीर
में भर जायेंगे ॥१॥४॥

शत्रु लोग इसी घड़ी धनुष से छूटे हुए मेरे
बाणों का और ताल ठोकने का, डंके के शब्द के
समान, गम्भीर शब्द सुनेंगे । तेरह वर्ष व्यतीत होने पर
युद्ध में मुझे परास्त करने के लिए अर्जुन अत्यन्त
उत्सुक है । इसलिए इस युद्ध में वह बड़ी उमङ्ग के

अनामयं पृच्छति त्वाऽम्बिकेयो वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी ।
 कच्चिन्मीमः कुशली पांडवान्यो धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥
 कच्चित्कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा ।
 मनस्विनी यत्र च बांछसि त्वमिष्टान्कामान्भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥
 युधिष्ठिर उवाच—गावल्गणे संजय स्वागतं ते प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन ।
 अनामयं प्रतिजाने त्वाऽहं सहानुजैः कुशली चाऽस्मि विद्वन् ॥ ६ ॥
 चिरादिदं कुशलं भारतस्य श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत ।
 मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं दृष्ट्वैत्र त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥
 पितामहो नः स्थविरो मनस्वी महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः ।
 स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कश्चित् ॥ ८ ॥
 कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो वैचित्रवीर्यः कुशली महारमा ।
 महाराजो बाहिकः प्रातिपेयः कच्चिद्विद्वान्कुशली सूतपुत्र ॥ ९ ॥
 स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
 द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥ १० ॥
 सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
 महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता धनुर्भृतां मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

हैं न ? सत्यवादिनी, वीरपत्नी, श्रेष्ठ पुत्रोंवाली, मनस्विनी
 द्रौपदी तो अच्छी ताहूँ हैं न ? जिनका आप सदा
 भला चेतने रहते हैं और जिनहाथी-घोड़े आदि की
 आपका इच्छा रहती है वे सब अच्छी दशा में
 हैं न ? ॥१॥५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सज्जय ! आओ, मैं प्रसन्न
 होकर तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे आशा है
 कि तुम सब प्रकार से सकुशल होओगे। हे सूत !
 मैं माद्यों के माथ सब प्रकार से सकुशल हूँ। बहुत
 दिनों के पश्चात् कुरु वृद्ध राजा धृतराष्ट्र के कुशल-
 समाचार पाकर और तुमको देखकर मुझे महाराज
 की साक्षात् देखने की सी प्रमत्तता हुई है। हमारे वृद्ध

पितामह, मनस्वी, प्राज्ञ, सब धर्मों के ज्ञाता और
 प्रतिपालक, कुरु-कुन्-तिलक गोमि तो सकुशल हैं
 न ? हमारे ऊपर उनका जो स्नेह पहले या उसमें
 कुछ कमी तो नहीं हुई ? हे सूत ! महात्मा राजा
 धृतराष्ट्र और विद्वान् महात्मा बाहिक तो कुशल से
 हैं ? सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, द्रोणाचार्य
 अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि सब महारथी तो नीरोग
 और सकुशल हैं न ? ॥६॥१०॥

बुद्धिमान्, मन शास्त्रों के प्रसिद्ध ज्ञान, प्रधान
 योद्धा क्षत्रिय लोग तो कौरवों के अनुकूल और अनुगामी
 हैं ? जिनके राज्य में दर्शनीय, मत्तचरित्र, महापनुद्धर
 द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रहते हैं वे योद्धा कौरव तो नीरोग

सुतेजनै रुक्मपुंखैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
 आचितं पश्य कौतेयं कर्णिकारैरिवाऽचलम् ॥ १७ ॥
 जाम्दग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत्प्राप्तमृपिसत्तमात् ।
 तद्दुपाश्रित्य वीर्यं च युद्धेयमपि वासवम् ॥ १८ ॥
 ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन्भस्त्रेण निहतो मया ।
 अथैव पततां भूमौ विनदन्भैरवान् ॥ १९ ॥
 शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
 दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥ २० ॥
 अथ दुर्योधनस्याऽहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
 समूलमुद्धरिष्यामि वीभत्सुं पातयन् रथात् ॥ २१ ॥
 हताश्वं विरथं पार्थ पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
 निःश्वसन्तं यथा नागमद्य पश्यंतु कौरवाः ॥ २२ ॥
 कामं गच्छंतु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
 रथेषु वापि तिष्ठंतो युद्धं पश्यंतु मामकम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोमहे कर्णविकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

सर्व बांबी में घुस जाते हैं वैसे ही आज मेरे बाण अर्जुन के शरीर में घुसेंगे ॥१३१६॥

पर्वत जैसे कनैर के फूलों से शोभित हो वैसे ही आज अर्जुन का शरीर मेरे तीक्ष्ण सुवर्णपुद्ग बाणों से शोभित होगा । मैंने महर्षिश्रेष्ठ ऋष्यभूषण से अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या सीखी है । उन अस्त्रों के बल से और अपने पौरुष के प्रभाव से मैं इन्द्र से भी भिड़ सकता हूँ । आज अर्जुन की ध्वजा के ऊपर स्थित वानर मेरे भस्त्र नामक बाण की चोट से अत्यन्त व्यथित होकर भयानक शब्द करता हुआ पृथ्वी पर

गिर पड़ेगा । अर्जुन के साथी लोग भी मेरे बाणों से पीड़ित होंगे और आकाश को गूँजा देनेवाला घोर शब्द करते हुए इधर-उधर भाग जायेंगे । अर्जुन को रथ से नीचे गिराकर आज मैं दुर्योधन के हृदय में बहुत दिनों से सुझे हुए कौटिकी जड़ से उसका हृदय फेंक दूँगा । घोड़ों के मरने और रथ के टूटने से पुरुपार्थी अर्जुन को कौरव आज क्रोधित मर्प की तरह लम्बी साँसें छोड़ते देखेंगे । कौरव लोग चाड़े गाँव लेकर चले जायें और चाहे अपने रथों पर बैठकर मेरे और अर्जुन के इस घोर युद्ध को देखें ॥२१२३॥

विराटपर्व का अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गर्गीयान् ॥ ४ ॥

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः ।

समुत्कृष्टे दुंदुभिशंखशब्दे गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ॥ ५ ॥

माद्रीसुतो चापि रणाजिमध्ये सर्वा दिशः संपतंतौ स्मरन्ति ।

सेनां वर्षतो शरवर्षरजस्रं महारथौ समरे दुष्प्रकंपौ ॥ ६ ॥

न त्वेवमन्ये पुरुषस्य राजन्ननागतं ज्ञायते यद्भविष्यम् ।

त्वं चेतथा सर्वधर्मोपपन्नः प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम् ।

त्वमेवैतत्कृच्छ्रगतश्च भूयः समीकुर्याः प्रज्ञयाऽजातशत्रो ॥ ७ ॥

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं पांडोः सुताः सर्व एत्रेंद्रकल्पाः ।

त्वमेवैतत्प्रज्ञयाऽजातशत्रो समीकुर्या येन शर्माऽऽप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥

धार्तराष्ट्राः पांडवाः स्त्रैजयाश्च ये चाऽप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः ।

यन्मां ब्रवीद्भृतराष्ट्रो निशायामजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९ ॥

सहामाल्यः सहपुत्रश्च राजन्समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

भागी होगा ॥११३॥

हे अजातशत्रु ! वृद्ध राजा धृतराष्ट्र भी इस बात को जानते हैं और भीतर ही भीतर शोक से व्याकुल रहते हैं। ब्राह्मणों के मुँह से वे यह बात सुनते रहते हैं कि मित्रद्रोह सबसे बड़ा पाप है। हे नरदेव ! बंदक के समय दुर्घोषन और उसके साथी भी सदा महायोद्धा अर्जुन और गदा हाथ में लिये बड़ी भीम-मेन को स्मरण करते हैं। वे गह्व-दुन्दुभि आदि बजने पर युद्धस्थल में सब ओर शत्रु-मेना पर लगातार वाण-वर्षा करनेवाले महारथी और युद्ध में पीठ न दिखानेवाले नकुल और सहदेव की भी स्मरण किया करते हैं ॥११६॥

हे राजेन्द्र ! मैं तो यह मनझटा हूँ कि मनुष्य के भविष्य को कोई नहीं जान सकता; पहले मे कोई नहीं बता सकता कि आगे क्या होगा। जो यह बात

न होती तो परम धर्मात्मा जान क्यों ऐसे घोर क्लेश पाते ? हे युधिष्ठिर ! अपनी बुद्धि और समझदारी से कष्ट को सहना और दुःख-सुख को समान समझना आप ऐसे महात्मा पुरुषों का ही काम है। इसलिए अब आप कौरवों में युद्ध न करके सन्धिही कर लीजिए। इन्द्रतुल्य पांचों पाण्डव किमी इच्छा के बश होकर कभी धर्म को नहीं छोड़ सकते। इसलिए हे युधिष्ठिर ! आप इस युद्ध की सम्भावना की मिटाकर सन्धि का यत्न कीजिए जिनमें कौरवों का मला हो। पाण्डव, नृजयगण, धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और अन्य जो राजा यहाँ और वहाँ युद्ध के लिए एकत्र हुए हैं, सबका मना जिनमें हो, वही इस समय आपका कर्तव्य है। हे युधिष्ठिर ! आपके बाबा धृतराष्ट्र ने आराम करने के लिए जो मुझमें कहा है, सो मैं कहता हूँ। आप मन्त्रियों, पुत्रों और इष्ट-मित्रों के साथ सुनिए ॥११०॥

उद्योगपर्व का चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

सुतेजनै रुक्मपुंखैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
 आचितं पश्य कौतेयं कर्णिकारैरिवाऽचलम् ॥ १७ ॥
 जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत्प्राप्तमृपिसत्तमात् ।
 तदुपाश्रित्य वीर्यं च युद्धेयमपि वासवम् ॥ १८ ॥
 ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन्भस्त्रेण निहतो मया ।
 अद्यैव पततां भूमौ विनदन्भैरवान्रवान् ॥ १९ ॥
 शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
 दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥ २० ॥
 अथ दुर्योधनस्याऽहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
 समूलमुद्धरिष्यामि वीभत्सुं पातयन् रथात् ॥ २१ ॥
 हताश्वं विरथं पार्थ पौरुपे पर्यवस्थितम् ।
 निःश्वसंतं यथा नागमद्य पश्यंतु कौरवाः ॥ २२ ॥
 कामं गच्छंतु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
 रथेषु वापि तिष्ठंतो युद्धं पश्यंतु मामकम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तररोमहे कर्णविक्रथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

सर्प बाबी में घुस जाते हैं वैसे ही आज मेरे बाण अर्जुन के शरीर में पुँधेंगे ॥१३१६॥

पर्वत जैसे कनैर के फूलों से शोभित हो वैसे ही आज अर्जुन का शरीर मेरे तीक्ष्ण सुवर्णपुद्ग वाणों से शोभित होगा। मैंने महर्षिर्षिष्ठ परशुराम से अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या सीखी है। उन अस्त्रों के बल से और अपने पौरुप के प्रभाव से मैं इन्द्र से भी भिड़ सकता हूँ। आज अर्जुन की ध्वजा के ऊपर स्थित वानर मेरे महानामक वाण की चोट से अत्यन्त व्यथित होकर भयानक शब्द करता हुआ धृष्टवी पर

गिर पड़ेगा। अर्जुन के साथी लोग भी मेरे बाणों से पीड़ित होंगे और आकाश को गुँजा देनेवाला घोर शब्द करते हुए इधर-उधर भाग जायेंगे। अर्जुन को रथ से नीचे गिराकर आज मैं दुर्योधन के हृदय में बहुत दिनों से चुभे हुए काँटे को जड़ से उखाड़कर फेंक दूँगा। घोड़ों के मरने और रथ के टूटने से पुरुषार्थी अर्जुन को कौरव आज क्रोधित सपे की तरह लम्बी साँसें छोड़ते देखेंगे। कौरव लोग चाहे गायें लेकर चले जायें और चाहे अपने रथों पर बैठकर मेरे और अर्जुन के इस घोर युद्ध को देखें ॥२१२३॥

विराटपर्व का अष्टतालीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

एकश्च पंच वर्षाणि शक्रादन्नापयशिक्षत ।
 एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद्यशः ॥ ८ ॥
 एको गंधर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः ।
 विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम् ॥ ९ ॥
 तथा निवातकवचाः कालखंजाश्च दानवाः ।
 दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः ॥ १० ॥
 एकेन हि त्वया कर्णं किं नामेह कृतं पुरा ।
 एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः ॥ ११ ॥
 इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति ।
 यस्तेनाऽऽशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम् ॥ १२ ॥
 आशीविपस्य ऋद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
 अवमुच्य प्रदेशिन्या दंप्रामादातुमिच्छसि ॥ १३ ॥
 अथवा कुंजरं मत्तमेकं एव चरन्वने ।
 अनंकुशं समारुह्य नगरं गंतुमिच्छसि ॥ १४ ॥
 समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम् ।
 घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्सर्तुमिच्छसि ॥ १५ ॥

नीचा दिखा सकते हैं। उन्होंने अकेले ही उत्तर-
 कुरुदेश पर विजय प्राप्त की है, अकेले ही खाण्डव
 वन देकर अग्नि को तृप्त किया है और अकेले ही
 पांच वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए उग्र तप किया
 है। अर्जुन ने अकेले ही सुभद्रा को हर लाकर द्वन्द्व-
 युद्ध के लिए बलराम को ललकारा है। महावीर अर्जुन
 ने अकेले ही किरात-रूप-धारी भगवान् शङ्कर से युद्ध
 किया है। धन में जब जयद्रथ द्रौपदी को हर ले
 चला था तब अर्जुन ने अकेले ही उसको हराया
 और द्रौपदी को उसके हाथ से छुड़ाया है। अर्जुन
 ने अकेले ही स्वर्ग में पांच वर्ष तक रहकर इन्द्र से
 सब अस्त्र सीखे हैं। उन्होंने अकेले ही सब शत्रुओं

को जीतकर कुरुवंश का यश बढ़ाया है ॥१५८॥

उन महावीर ने अकेले ही संग्राम में अजेय
 सेना-सहित गन्धर्वराज चित्ररथ को हराया है। स्वयंवर
 में अर्जुन ने अकेले ही सब वीर क्षत्रियों को जीतकर
 द्रौपदी को प्राप्त किया, [उम समय तुम कहा चले
 गये थे ?] अर्जुन ने अकेले ही उन निवातकवच
 और कालकेय नाम के राक्षसों को मारा है, जिन्हें
 देवता भी नहीं मार सकते थे। महावीर अर्जुन ने
 अकेले ही अपने पौरुष में ऐसे बड़े-बड़े अलौकिक
 कार्य किये हैं। किन्तु कर्ण ! तुमने अकेले कब कौन
 सा ऐसा बड़ा और अलौकिक कार्य है ? श्रेष्ठ वीर
 अर्जुन ने सब राजाओं को जिस चतुराई से हराया

न चेद्भागं कुरुवोऽन्यत्र युद्धात्प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ।
 भैक्षचर्यामिधकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥
 अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये महास्त्रावं नित्यदुःखं चलं च ।
 भूयश्च तद्यशसो नाऽनुरूपं तस्मात्पापं पांडव मा कृथास्त्वम् ॥ ३ ॥
 कामा मनुष्यं प्रसजंत एते धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र ।
 पूर्वं नरस्नानमतिमान्प्रणिघ्नन्लोके प्रशंसां लभतेऽनवध्याम् ॥ ४ ॥
 निबंधनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ तामिच्छतां वाध्यते धर्म एव ।
 धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः कामे शृणो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥
 धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं महाप्रतापः सवितेव भाति ।
 हीनो हि धर्मेण महीमपीमां लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥
 वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम् ।
 परं स्थानं मन्यमानेन भूय आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥
 सुखाप्रिये सेवमानोऽतिवेलं योगाभ्यासे यो न करोति कर्म ।
 वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं दुःखं शेते कामवेगप्रणुत्रः ॥ ८ ॥

अपने भाई कौरवों का नाश न कीजिए। हे अजातशत्रु !
 यदि कौरव लोग युद्ध के बिना आपका राज्य आपको
 न देना चाहे तो मैं समझता हूँ कि युद्ध के द्वारा
 राज्य पाने की अपेक्षा आपका अन्धक और वृष्णिवंश
 के राज्य में भिक्षा मांगकर निर्वाह करना भी श्रेष्ठ है;
 किन्तु युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं। हे पण्डित ! मनुष्य
 का जीवन थोड़े दिन का, सदा क्षीण होनवाला, चञ्चल
 और दुःसमय है। इसके सिवा यश के मुकाबले में
 जीवन एक तुच्छ पदार्थ है। इसलिए आप अपने
 यश का विचार करके माइयों की हत्या का पाप अपने
 सिर न लीजिए ॥१।३॥

हे नरेन्द्र ! ये धर्म के आचरण में बिना डालनेवाली
 इच्छाएं मनुष्य को अपनी ओर खींच करती हैं।
 जो बुद्धिमान् पुरुष उनके द्वारा अनर्थ होने के पहले
 ही उन्हें दबा देता है उसी की लोकमें प्रशंसा होती

है। हे पार्थ ! धन की तृष्णा ही इस संसार का बड़ा
 मारी बन्धन है। उसके फेर में पड़ने से मनुष्य का
 धर्म नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य धर्म के अनुसार
 चलता है वही यथार्थ बुद्धिमान् है। लालची पुरुष
 अपने प्रयोजन के अनुपाय से नीच कर्म भी करने
 रूप खाता है। धर्म, अर्थ, काम आदि में धर्म ही
 मुख्य है ॥४।५॥

धर्मात्मा पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी होता है।
 धर्म से हीन पुरुष धर्म-विरुद्ध कार्य करके, यदि सारी
 पृथ्वी का राज्य पा जाय तो भी, सदा कष्ट पाता है।
 आपने परलोक पर विश्वास करके [वहां के सुख के
 लिए] वेद पढ़े हैं, ब्रह्मचर्य का पालन किया है, यज्ञ
 किये हैं, ब्राह्मणों को दान दिये हैं, यहाँ तक कि
 अपने आत्मा की भी उभी के लिए लगा दिया है।
 जो मनुष्य भोग-विनाश आदि सुख और पुत्र आदि

हुई अग्नि के समान यहा एकान्त में ठहरे हुए महा-
वीर अर्जुन के पास आकर हम बड़े भारी भय और
सङ्कट में पड़ गये हैं ॥१७॥१९॥

इसलिए हम लोग मिलकर अर्जुन से युद्ध करें ।
हम लोग अस्त्र शस्त्र धारी सैनिकों की व्यूह रचना
करके युद्ध करें । द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, अश्वत्थामा,
तुम और मैं, ये छहों महारथी मिलकर यदि इन्द्र-

सदृश पराक्रमी अर्जुन के साथ युद्ध करेंगे तभी सामना
कर सकेंगे । हे कर्ण ! तुम अकेले अर्जुन के साथ
भिड़ने का साहस भूलकर भी न करना । पहले देव-
ताओं और असुरों का जैसा समर हुआ था वैसा ही
घोर युद्ध इस समय अर्जुन के साथ हम लोगों का
होगा ॥२०॥२३॥

—०—

विराटपर्व का उनचासवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

अथ पचाशततमोऽध्याय ॥ ५० ॥

अश्वत्थामोवाच—न च तावज्जिता गावो न च सीमांतरं गताः ।

न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकस्यसे ॥ १ ॥

संग्रामांश्च वद्वृञ्जित्वा लब्ध्वा च त्रिपुलं धनम् ।

विजित्य च परां सेनां नाऽऽहुः किंचन पौरुषम् ॥ २ ॥

दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूष्णीं भाति दिवाकरः ।

तूष्णीं धारयते लोकान्वसुधा सचराचरान् ॥ ३ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयंभुवा ।

धनं यैरधिगंतव्यं यच्च कुर्वन्न दुष्यति ॥ ४ ॥

अधीत्य ब्राह्मणो वेदान्याजयेत यजेत वा ।

क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत् ॥ ५ ॥

पचासवा अध्याय ॥ ५० ॥

अब अश्वत्थामा ने [दुर्योधन की ओर, देखकर
कहा—हे कर्ण ! न तो अभी गावों पर हमारा अधिकार
हुआ है और न हम लोग मत्स्यदेश की सीमा के
बाहर जा सकें हैं, इस्तिनपुर जाना तो दूर की बात
है । फिर तुम क्यों इस प्रकार अपनी प्रशंसा कर रहे
हो ? जो पण्डित, महाबली और पराक्रमी पुरुष हैं
वे अनेक युद्धों में जय और बहुत सा धन पाकर तथा
प्रबल सेना को जीतकर भी इस तरह डींग नहीं मारते ।
अग्नि शांत रहकर ही सब वस्तुओं को भस्म कर देती

है, सूर्यदेव शांति से रहकर ही सब लोकों में उजाला
पहुँचाते हैं और पृथ्वी भी शांति से सब लोकों को धारण
किये हुए हैं । विषाताने चागों वर्णों की वृत्ति निश्चित
कर दी है । उन्हें वृत्तियों से उन्हें धनोपार्जन करना
चाहिए । उन्हें काने से वे दोषी नहीं होते ॥१॥४॥

ब्राह्मणों को स्वाध्यायपाठ में लगे रहकर यज्ञ
करना कराना चाहिए । क्षत्रियों को धनुष-बाण धारण
करके यज्ञ करना चाहिए, उन्हें यज्ञ कराने का अधि-
कार नहीं । वैश्यों को महाजनी, गोपालन और खेती

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे ।
 अन्येषामपि सत्वानामपि कीटपिपीलिकैः ।
 द्रौपद्याः संपरिक्लेशं न क्षतुं पांडवोऽर्हति ॥ १४ ॥
 क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः ।
 त्वं पुनः पंडितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ॥ १५ ॥
 वैरांतरकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ॥ १६ ॥
 नैष देवान्न गंधर्वान्न सुरान्न च राक्षसान् ।
 भयादिह न युध्येत कुंतीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥
 यं यमेषोऽतिसंकुद्धः संग्रामे निपतिष्यति ।
 वृक्षं गरुत्मान्वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ॥ १८ ॥
 त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम् ।
 वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ॥ १९ ॥
 देवं देवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम् ।
 अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात्कोऽर्जुनेन समः पुमान् ॥ २० ॥
 पुत्रादनंतरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः ।
 एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पांडवः ॥ २१ ॥
 यथा त्वमकरोद्युतमिंद्रप्रस्थं यथाऽहरः ।
 यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पांडवम् ॥ २२ ॥

दिनाश करी जड़ है। उम बात को स्मरण करो। १०।१३।

मनुष्यों की कौन कहे, यथाशक्ति कीड़े-मकोड़े और चींटियों तक का क्रोध होता है। मनुष्य के भी सहने की एक सीमा होती है। द्रौपदी के उन क्लेशों को अर्जुन कभी नहीं सह सकते। कौरवों के नाश के लिए ही अर्जुन ने जन्म लिया है। तुम ऐसे ज्ञानी और बुद्धिमान् होकर आचार्य (द्रोण) को ऐसी बातें कह रहे हो। अर्जुन हम लोगों का नाश करके अपने वैर का बदला अवश्य चुकावेंगे। देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि किसी के साथ युद्ध करने

से अर्जुन पीछे नहीं हट सकते ॥१५।१७॥

समरभूमि में क्रुद्ध होकर अर्जुन जिस पर आक्रमण करेंगे वड़, गरुड़ के बग से टूटे हुए वृक्ष की तरह मरकर गिर पड़ेगा। हे कर्ण ! बल और पराक्रम में अर्जुन तुमसे कई बानों में श्रेष्ठ हैं। वे धनुर्विद्या में इन्द्र के समान और युद्ध में श्रीकृष्ण के बराबर हैं। उनकी प्रशंसा कौन नहीं करेगा ? ऐसा अर्जुन के समान दूसरा भी पुरुष कौन है जो देवबल के द्वारा देवताओं से और बाहुबल के द्वारा मनुष्यों से युद्ध कर सके और अस्त्रों के द्वारा अस्त्रों को नष्ट कर सके!

कर्मणाऽमी भांति देवाः परत्र कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
 अहोरात्रे विदधत्कर्मणैव अतंद्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥
 मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगानतंद्रितश्चंद्रमाश्चाऽभ्युपैति ।
 अतंद्रितो दहते जातवेदाः समिद्धयमानः कर्म कुर्वन्प्रजाभ्यः ॥ १० ॥
 अतंद्रिता भारमिमं महान्तं विभर्ति देवी पृथिवी वलेन ।
 अतंद्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥
 अतंद्रितो वर्षति भूरितेजाः सन्नादयन्नंतरिक्षं दिशश्च ।
 अतंद्रितो ब्रह्मचर्यं चचार श्रेष्ठत्वमिच्छन्वलभिद्देवतानाम् ॥ १२ ॥
 हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि तेन शक्रः कर्मणा श्रेष्ठयमाप ।
 सत्यं धर्मं पालयन्न प्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
 एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान्प्राप मुख्यम् ।
 बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥ १४ ॥
 हित्वा सुखं प्रतिरुद्धयेंद्रियाणि तेन देवानामगमद्गौरवं सः ।
 तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भांति रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥
 यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो गंधर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।

है उसका वह कथन व्यर्थ है ॥१८॥

कर्म के प्रभाव से ही इस लोक और स्वर्गलोक में देवगण प्रकाशमान होते हैं । कर्म के बल से ही वायु सदा चलती है । कर्म से ही सूर्यदेव आलस्य-हीन होकर, आकाशमण्डल में फिरकर, दिन-रात का विधान करते हैं । चन्द्रमा आलस्य छोड़कर कर्म करते हुए नक्षत्रों के साथ मास-पक्ष आदि का विभाग करते रहते हैं । अग्निदेव को देखो, वे आलस्य छोड़कर कर्म करते हुए प्रज्वलित होकर प्रजा की सहायता करते हैं—उत्ताप पहुंचाते हैं ॥९।१०॥

पृथ्वी देवी कर्म के बल से संसार के भारी बोझ को लादे हुए हैं । नदियां कर्म-बल से ही शीघ्रता के साथ बहती हैं और अपने काम में आलस्य न करके सब प्राणियों को तृप्त करती हैं । इन्द्र कर्म के बल

से आकाश और दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए आलस्य छोड़कर जल वरसाते हैं । इन्द्र ने देवताओं की मण्डली में प्रधान पद पाने के लिए आलस्य छोड़कर बहुत समय तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है । भोग-मुख और प्रिय पदार्थों को त्यागकर कर्म करने से ही इन्द्र को देवराज का पद मिला है । इन्द्रिय-दमन, सहनशीलता, समदृष्टि, सबका प्रिय करना, सत्य और धर्म का पालन, इन्हीं कर्मों के करने से इन्द्र को ऐसा श्रेष्ठ पद मिला है ॥११।१२॥

भगवान् बृहस्पति ने भी एकामना और नियम-पालन के साथ ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया है और भोग-मुख छोड़कर, इन्द्रियों को दबाकर, कर्म करने से ही गौरवमूक देव-गुरु का पद पाया है । ऐसे ही नक्षत्रगण भी कर्म के बल से आकाश में प्रकाश-

देशकालौ तु संप्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ॥ २ ॥
 यस्य सूर्यसमाः पंच सपत्नाः स्युः प्रहारिणः ।
 कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पंडितः ॥ ३ ॥
 स्वार्थे सर्वे विमुह्यंति येऽपि धर्मविदो जनाः ।
 तस्माद्राजन्त्रवीम्येष द्वक्वयं ते यदि रोचते ॥ ४ ॥
 कर्णो हि यद्वोचत्त्वां तेजःसंजननाय तत् ।
 आचार्यपुत्रः क्षमतां महत्कार्यमुपस्थितम् ॥ ५ ॥
 नाऽयं कालो विरोधस्य कौंतेये समुपस्थिते ।
 क्षंतव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ॥ ६ ॥
 भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा ।
 यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नाऽपकृष्यते ॥ ७ ॥
 एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम् ।
 चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ॥ ८ ॥
 नैतत्समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम् ।
 अन्यत्र भारताचार्यात्सपुत्रादिति मे मतिः ॥ ९ ॥

इक्यावनवां अध्याय ॥ ५१ ॥

भीष्म ने कहा—हे दुर्योधन ! अध्वत्यामा और
 कृपाचार्य ठीक कह रहे हैं । और कर्ण केवल क्षत्रिय-
 धर्म का खयाल करके युद्ध करना चाहते हैं । बुद्धि-
 मान् को अपने आचार्य का अपमान न करना चाहिए ।
 मेरी सम्मति यह है कि देश और काल दोनों को
 देखकर युद्ध करना चाहिए । जिसके पांच-पांच शत्रु
 सूर्य के समान तेजस्वी वीर हों और फिर उनका
 अभ्युदय हो रहा हो तो इस दशा में भला किस
 बुद्धिमान् की बुद्धि ठिकाने रह सकती है ? धर्मात्मा
 पुरुष भी स्वार्थ के कारण व्याकुल हो जाते हैं । हे
 दुर्योधन ! तुम ठीक समझो तो मैं इस बारे में अपनी
 सम्मति देता हूँ, सुनो ॥१।४॥

उल्साहित करने के लिए ही कर्ण ने युद्ध की
 इच्छा प्रकट की है । इसलिए द्रोणाचार्य, कृपाचार्य
 और अध्वत्यामा आदि को क्षमा करना चाहिए ।
 इस समय बड़ा भारी कार्य करना है । अर्जुन के
 आ जाने से इस समय आपस में विरोध करना ठीक
 नहीं । जैसे सूर्य में प्रभा नित्य है वैसे ही आप लोग
 अस्त्रविद्या में कुशल हैं । और जैसे चन्द्रमा में चांदनी
 सदा बनी रहती है इसी तरह आप जैसे आचार्यों में
 ब्राह्मणत्व और ब्रह्मास्त्र दोनों स्थित हैं । भरतकुल के
 आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और अध्वत्यामा के सिवा
 और कहीं चारों वेदों तथा क्षत्रिय-तेज का एकत्र समा-
 वेश नहीं देख पड़ता ॥५।९॥

तं चेत्तदा ते सकुमारवृद्धा अवारयिष्यन्कुरवः समेताः ।
 मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्पुत्राणां च कृतमस्याऽभविष्यत् ॥ ३८ ॥
 दुःशासनः प्रातिलीम्यान्निनाय सभामध्ये श्वशुराणां चकृष्णाम् ।
 सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य नाऽयं क्षत्तुर्नाथमवाप किञ्चित् ॥ ३९ ॥
 कार्ष्ण्यादेव सहितास्तत्र भूषा नाऽगक्नुवन्प्रतिवक्तुं सभायाम् ।
 एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं त्रुवाणो धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाऽल्पबुद्धिम् ॥ ४० ॥
 अबुध्वा त्वं धर्ममेतं सभायामथेच्छसे पांडवस्योपदेष्टुम् ।
 कृष्णा त्वेतरकर्म चकार शुद्धं सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
 येन कृच्छ्रात्पांडवानुज्जहार तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात् ।
 यत्राऽत्रवीत्सूनपुत्रः सभायां कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
 न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि प्रपद्य दासी धर्तराष्ट्रस्य वेश्म ।
 पराजितास्ते पतयो न संति पतिं चाऽन्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

तुम कुरुगज की सभा में जाकर कुरुवश के ये प्राचीन
 धर्म सबको सुनाना । दुर्योधन के बुलाने से आकर
 जो राजा लोग युद्ध करने के लिए एकत्र हुए हैं वे
 मदान्मत्त होने के कारण कुछ नहीं देख पाते, उनके
 मिर पर मृत्यु सवार है ॥३१।३८॥

हे मन्त्रजय ! सभा में जुए के समय कौरवों ने
 जो पाप किया उसे देखो । पाण्डवों की प्यारी पत्नी,
 पतिव्रता, यशस्विनी, अच्छे स्वभाववाली द्रौपदी उस
 समय राजस्वला थी । सभा में वे लाई गईं, पर भीष्म
 आदि चहेतूँ ने कुछ नहीं कहा, चुपके चहेतूँ देखते
 रहे । उस समय यदि धृतराष्ट्र आदि सब कुरुवश
 के वृद्ध और बालक मिलकर द्रौपदी का सभा में
 लाया जाना रोक देते, तो अवश्य धृतराष्ट्र मेरा भिय
 करते और पुत्रों के प्रति उनके कर्तव्य का पालन भी
 उचित रीतिमें ही जाना । दुःशासन जिस समय अन्याय
 से सभा में समूहों के आगे द्रौपदी को ले आया था,
 उस समय द्रौपदी ने कर्ण स्वर में विचार करके
 मर्ममें प्रार्थना की, किन्तु विदुर के भिया और किमी

ने द्रौपदी को सहारा नहीं दिया—उस अन्याय को
 नहीं रोका । उस सभा में अनेक राजा और राजकुमार
 बैठे हुए थे, पर कोई उस अत्याचार का प्रतिवाद
 नहीं कर सका । सब लोग अपने हृदय की निर्बलता
 के कारण शांत हो रहे, एक विदुर ने ही धर्मबुद्धि की
 प्रेरणा से मूर्ख दुःशासन से धर्म-सज्जत और अधे-
 साधक वचन कहे थे । उस समय सभा में तुम भी
 बैठे थे । वहा तुमने किमी को धर्म का उपदेश नहीं
 किया, अब यहा युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश करना
 चाहते हो ॥३९।४१॥

उस सभा में द्रौपदी ने सनीत्व धर्म के अनुकूल
 निगूढ़ और दुष्कर काम किया कि—समुद्र से जहाज
 की तरह—पाण्डवों को और अपने को दास-भाव
 के अगार मष्टट मागर से उबार लिया । उस सभा
 में समूहों के पाप स्वर्द्धे हुई द्रौपदी में स्तनपुत्र कर्ण
 ने कहा था कि "हे द्रौपदी ! इस समय तुम्हारे लिए
 दूसरा उपाय नहीं है । दुर्योधन के घर दासी हाकर
 रहे । तुमको हार जाने क कारण ये पाण्डव अब

यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे ।
 साहसाद्यदि वा मोहात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १९ ॥
 वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः ।
 धनं चाऽऽलभमानोऽत्र नाऽय तत्क्षंत्तुमर्हति ॥ २० ॥
 यथा नाऽयं समायुंज्याद्दार्तराप्राङ्कथंचन ।
 न च सेनाः पराजय्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २१ ॥
 उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद्वाक्यमीदृशम् ।
 तदनुस्मृत्य गांगेय यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरमोर्षहे द्रोणवाक्ये एकपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

चाहिए जिससे अर्जुन दुर्योधन पर आक्रमण न कर सके [और महाराज दुर्योधन शत्रु के हाथ में न पड़ जाय] । प्रतिज्ञा के अनुसार तेरहवां वर्ष व्यतीत हुए बिना कभी अर्जुन प्रकट नहीं हो सकते । महावीर अर्जुन आज गायें लौटायें बिना कभी न मानेंगे । इस-

लिए ऐसा कोई उपाय करो कि जिसमें अर्जुन महाराज दुर्योधन को और उनकी सेना को नष्ट न कर सकें । पहले दुर्योधन ने प्रतिज्ञापालन के विषय में जो कुछ कहा था उसे स्मरण करके, आप अपना मत प्रकट कीजिए ॥ १८।२२ ॥

विराटपर्व का इक्यावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

अथ द्विपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

मीमा उवाच—कला काष्ठाश्च युज्यंते मुहूर्त्ताश्च दिनानि च ।

अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ १ ॥

ऋतवश्चापि युज्यंते तथा संवत्सरा अपि ।

एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ २ ॥

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।

पंचमे पंचमे वर्षे द्वौ मासावुपजायत ॥ ३ ॥

एषामभ्याधिका मासाः पंच च द्वादश क्षपाः ।

त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्त्तने मतिः ॥ ४ ॥

वाचनवा अध्याय ॥ ५२ ॥

मीमा ने कहा—काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, दिन, पक्ष, मास, ग्रह, नक्षत्र, ऋतु और वर्ष, ये सब कालचक्र (वर्ष) के छोटे और बड़े अंश हैं । समय के बढ़ने

घटने से और नक्षत्र मण्डल की गति के कुछ व्यतिक्रम से हर पाँचवें वर्ष दो महीने अधिमास (मलमास) के बढ़ते हैं । उन्हीं मलमासों को जोड़कर आज तेरह

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान्ये तदर्हाः ।
 विशुद्धवीर्याश्वरणोपपन्नाः कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः ॥ ७ ॥
 स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च तपस्विनो ये च नित्या वनेषु
 अभिवाद्या वै मद्रचनेन वृद्धास्तथेतरेषां कुशलं वदथाः ॥ ८ ॥
 पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञस्तथा चाऽऽर्यान्वृत्विजो ये च तस्य
 तैश्च त्वं तात सहितैर्यथाहं संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत ॥ ९ ॥
 अश्रोत्रिया ये च वसतिं वृद्धा मनस्विनः शीलवलोपपन्नाः ।
 आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ॥ १० ॥
 श्लाघिस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।
 ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे ये पालयन्तो निवसन्ति राष्ट्रे ॥ ११ ॥
 आचार्यं डप्रो नयगो विधेयो वेदानभीप्सन्ब्रह्मचर्यं चचार
 योऽस्त्रं चतुष्पात्पुनरेव चक्रे द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयाऽसौ ॥ १२ ॥
 अधीतविद्यश्वरणोपपन्नो योऽस्त्रं चतुष्पात्पुनरेव चक्रे ।

हम धर्मार्थ-सङ्गत, और अहिंसा का उद्देश्य रखनेवाली
 बातें समझते हैं । हमारे अत्यन्त प्रिय दूत एक तुम्हीं
 हो, या दूतों में विदुरजी हैं, जो हमें समझाने के लिए
 यद्वा आ सकते हैं और नीतियुक्त वचन सुना सकते
 हैं । तुम पुगने नीकर और अजुन के, आत्मा के
 समान, प्रिय मित्र हो । हम तुम पूर्वप्राचित हैं ।
 हे सञ्जय ! यद्वा से शीघ्र जाकर तुम पूजा के योग्य
 विशुद्धवीर्य, कठ-कौशुमी आदि वेद की शास्त्राओं
 को पढ़नेवाले, सरकुल में उत्पन्न, सब धर्मों का पालन
 करनेवाले, स्वाध्यायपाठी, भिक्षा से अपनी जीविका
 चलानेवाले, नित्य तपोवन में रहनेवाले, तपस्वी, वृद्ध
 ब्राह्मणों से मिलना । उन्हें मेरी ओर से प्रणाम करके
 उनमें उनकी कुशल पूटना । तुम राजा धृतराष्ट्र के
 पुरोहित, आचार्य, ऋत्विक् आदि में मिलकर उनकी
 कुशल पूटना ॥६।९॥

दस्तिनापुर में जो शूद्र जाति के सुशील, मध्व,

वृद्ध, उदारहृदय पुरुष रहते हैं और यथाशक्ति अपने
 अधिकार के अनुसार धर्म का आचरण करते हुए
 हमें स्मरण करके हमारी कुशल सदा चाहते हैं
 उनसे मेरे कुशल-समाचार कहना । इसके पश्चात् मेरी
 ओर से उनकी प्रशंसा करते हुए उनकी क्षेम-कुशल
 पूटना । हे सञ्जय ! कौरवों के राज्य में जो लोग
 व्यापार, पशु-पालन आदि से अपनी जीविका चलाते
 हैं और जो लोग भिन्न-भिन्न पदों पर रहकर राज्य
 की रक्षा और पालन का प्रबन्ध करते हैं, उन व्यापारी
 वैश्यों और राज कर्मचारियों की भी मेरी ओर से
 कुशल पूटना । उनसे मेरे कुशल-समाचार कह देना ।
 हमारे आचार्य, प्रिय, नीतिज्ञ, वेद-प्राप्ति के लिए
 विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले, अस्त्र-विद्या के
 मन्त्र-उपचार-प्रयोग-मंशार इन चारों विभागों के पूर्ण
 ज्ञाता, प्रसन्नमुख द्रोणाचार्य से हमारा प्रणाम कहना ।
 उनका पुत्र अध्यामा भी विद्वान्, वेदशास्त्रपाठी,

संप्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
 अवश्यमेकं स्पृशतो हृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥
 तस्माद्युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
 क्रियतामाशु राजेंद्र संग्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥

दुर्योधन उवाच—नाऽहं राज्यं प्रदास्यामि पांडवानां पितामह ।
 युद्धोपचारिकं यत्तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच—अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
 सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनंदन ॥ १६ ॥
 क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।

ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥

वयं चाऽर्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पांडवम् ।

अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।
 प्रतियोत्स्याम वीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥

मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।
 अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच—तद्वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
 तथा हि कृतवान्राजा कौरवाणामनंतरम् ॥ २० ॥

दूसरा द्वारता है। इसमें चिन्ता की बात ही क्या है ?
 अर्जुन सिर पर आ गये हैं, इसलिए इस समय जी
 चाहे तो युद्ध करो, नहीं तो धर्म के अनुसार राज्य
 देकर सन्धि कर लो ॥१०।१४॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! मैं पाण्डवों
 को राज्य कभी न दूँगा। आपतुरन्त युद्ध की तैयारी
 कीजिए ॥१५॥

भीष्म ने कहा—हे दुर्योधन ! मैं जो कहता
 हूँ उसे सुनो और जी चाहे तो उस पर ध्यान दो।
 तुम इस सारी सेना के शीघ्र चार विभाग कर डालो।
 एक दल के साथ तुम अपनी राजधानी को चले जाओ।

सेना का दूसरा दल सब गायों को लेकर जाय। उसके
 पश्चात् बची हुई आधी सेना साथ लेकर कृपाचार्य,
 कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा और मैं, हम सब—अपनी
 प्रतिज्ञा पर स्थिर—अर्जुन के साथ युद्ध करेंगे। राजा
 विराट या स्वयं इन्द्र भी आ जायें तो मैं [अर्जुन को]
 बैसे ही गेक रक्खूँगा जैसे तटस्मि समुद्र के वेग
 को रोक रहती है ॥१६।१९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सब
 लोगों ने महात्मा भीष्म की इस सम्मति का अनुमोदन
 किया। कुरुपति दुर्योधन ने भीष्म की आज्ञा से ही
 सब काम किया। पितामह ने पहले दुर्योधन को

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः।
 प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत्प्रसन्नः ॥ ३६ ॥
 कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय अनामयं मद्बचनेन पृष्ट्वा ।
 कल्याणा वः संतु पतयोऽनुकूला यूयं पतीनां भवताऽनुकूलाः ॥ ३७ ॥
 अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगंधा अत्रीभरसाः सुखिता भोगवत्यः ।
 लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वीवेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥
 दास्यः स्युर्या ये च दाप्ताः कुरूणां तदाश्रया बहवः कुञ्जखंजाः ।
 आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्योऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥
 कच्चिद्भृत्तिं वर्तते वै पुगर्णां कच्चिद्भोगान्धार्तराप्नो ददाति ।
 अंगहीनान्कृपणान्वासनान्वा यानानृशंस्यो धृतराप्नो विभर्ति ॥ ४० ॥
 अंधांश्च सर्वान्स्थविरांस्तथैव हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र संति ।
 आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्योऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥
 मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन नूनं कृतं परलोकेषु पापम् ।
 निगृह्य शत्रून्सुहृदोऽनुगृह्य वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥
 मंत्वेव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि भावीन्यथो नो वत वर्त्तयति ।
 तानपश्यामि युक्तरूपांस्तथैव तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपंतम् ॥ ४३ ॥

व्यवहार करती हैं या नहीं ? उनमें मेरी ओर मे कष्ट देना कि जिस तरह उनके पति उनके अनुकूल और प्रसन्न रहें, वैसे ही काम वे करनी रहें ॥३२।३५॥

हे स्नु । मत्कुरु में उलान, गुणों में अलंकृत, बाल-बच्चोंवाली जो बिया मेरी बहुत लगती हैं उनमें कहना कि युधिष्ठिर सकुशल और प्रसन्न हैं, और उन्होंने तुम्हारी कुशल के समाचार पूछे हैं । हे सन्जय । तुम घर में जाकर उन बालिकाओं को जो मेरी कन्या लगनी हैं, छाती से लगाकर खंड के साथ कुशल पूछना और कहना कि तुम्हें कल्याणरूप अनुकूल पति मिले और तुम मदा उनके अनुकूल रहो । हे स्नु ! आभूषण और मूल्यावान् वस्त्र पहन,

मुग्न्य लगाये, मुन्दरी मुख और भोगविनास के साथ रहनेवाली, मनोहर रूप और मगुर बाणी से मनोऽन्जन करनेवाली, नगरनिवासिनी बेट्याओं से मैं भी कुशल पूछना ॥३६।३८॥

कौरवों के दाम, दामों उनके आश्रय में रहने-वाले कुवड़े-खले-लंगड़े-अपाटियों से भी पड़ेले भरे सकुशल होने का हाथ कटकर उनसे उनकी कुशल पूछना । उन अजडिन, दीन, बान्ने, अन्धे और बहरे लोगों को, जिन्हें दुर्योधन दया के कारण आश्रय दिये हुए हैं, आशामन देना और उनमें मेरी ओर में पूछना कि दुर्योधन ने उनकी मदा में मित्नेवाली वृत्ति तो नहीं बन्द कर दी ? उन्हें भोजन-न्य आदि

संप्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
 अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥
 तस्माद्युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
 क्रियतामाशु राजेंद्र संप्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥

दुर्योधन उवाच—नाऽहं राज्यं प्रदास्यामि पांडवानां पितामह ।
 युद्धोपचारिकं यत्तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच—अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
 सर्वथा हि मया श्रेयो वंक्तव्यं कुरुनंदन ॥ १६ ॥

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।
 ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥

वयं चाऽर्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पांडवम् ।
 अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।

प्रतियोत्स्याम वीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥
 मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।

अहमावारयिष्यामि बेल्लेव मकरालयम् ॥ १९ ॥

वेशम्पायन उवाच—तद्वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
 तथा हि कृतवान्राजा कौरवाणामनंतरम् ॥ २० ॥

दूसरा हारता है। इसमें चिन्ता की बात ही क्या है ?
 अर्जुन सिर पर आ गये हैं, इसलिए इस समय जी
 चाहे तो युद्ध करो, नहीं तो धर्म के अनुसार राज्य
 देकर सन्धि कर लो ॥ १०।१४॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! मैं पाण्डवों
 को राज्य कभी न दूँगा। आप तुरन्त युद्ध की तैयारी
 कीजिए ॥ १५॥

भीष्म ने कहा—हे दुर्योधन ! मैं जो कहता
 हूँ उसे सुनो और जी चाहे तो उस पर ध्यान दो।
 तुम इस सारी सेना के शीघ्र चार विभाग कर डालो।
 एक दल के साथ तुम अपनी राजधानी को चले जाओ।

सेना का दूसरा दल सब गायों को लेकर जाय। उसके
 पश्चात् बची हुई आधी सेना साथ लेकर कृपाचार्य,
 कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा और मैं, हम सब—अपनी
 प्रतिज्ञा पर स्थिर—अर्जुन के साथ युद्ध करेंगे। राजा
 विराट या स्वय इन्द्र भी आ जायें तो मैं [अर्जुन को]
 बैसे ही गेरु भूलूँगा जैसे तटभूमि समुद्र के वेग
 को रोके रहती है ॥ १६।१९॥

वेशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सब
 लोगों ने महारना भीष्म की इस सम्मति का अनुमोदन
 किया। कुरुगति दुर्योधन ने भीष्म की आज्ञा से ही
 सब काम किया। पितामह ने पहले दुर्योधन को

यत्कुंतीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
 दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चाऽस्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥
 अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप
 निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं शृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥
 शांतिरेवं भवेद्वाजन्प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
 राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥
 अविस्थलं वृकस्थलं माकंदीं वारणावतम् ।
 अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पंचमम् ॥ १९ ॥
 भ्रातृणां देहि पंचानां पंच ग्रामान्सुयोधन ।
 शांतिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥
 भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
 स्मयमानाः समायांतु पांचालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
 अक्षतान्कुरुपांचालान्पश्येमिति कामये ।
 सर्वे सुमनसस्तात शान्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥
 अलमेव शमायाऽस्मि यथा युद्धाय संजय ।
 धर्मार्थयोरलं चाऽहं नृद्वे दारुणाय च ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते न्योगपर्वणि संजयवचनपर्वणि युधिष्ठिरसद्वेगे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

बलवान् और समर्थ होकर भी पाण्डवों ने इसी घोर
 कर्म से बचने के लिए पहले के और पश्चात् के सब
 क्लेशों को सह लिया है। हे सौम्य ! तुमने भृगु-
 छाला पहनाकर हमें वनवासी कर दिया और देश
 से निकाल दिया, उसे भी हमने इसी से सह लिया
 कि हमें कौरवों की हत्या न करनी पड़े ॥१२॥१५॥

तुम्हारी अनुमति से दुःशासन ने कुन्ती माता
 का कहा न मानकर द्रौपदी के बाल पकड़ लिये,
 उसे भी हमने इसी विचार से मुला दिया और उस
 समय भी हम शांति से बैठे देखते रहे। हे शत्रुदमन !
 इसलिए अब हमें हमारा न्याय से प्राप्य भाग तुमसे
 मिलना चाहिए। हे नरश्रेष्ठ ! पराये द्रव्य को ले

लेने की बुरी बुद्धि छोड़ दो। हे राजेन्द्र ! इसी तरह
 शांति और परस्पर प्रीति हो सकती है। हम शांति
 और सन्धि ही चाहते हैं, इसलिए जो तुम हमें राज्य
 का एक छोटा सा अंश ही दे दोगे तो हम प्रसन्न हो
 जायेंगे। तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी,
 वारणावल और एक काँई और गाव, केवल ये
 पांच गाव दे दो। वन, हमारा-तुम्हारा अंग मिट
 जायगा ॥१६॥१९॥

हे सुयोधन ! हम पांच भाइयों के लिए केवल
 पांच गाव दे दो, जिसमें हम सब भाइयों में सन्धि
 और शांति हो जाय। माई भाइयों में मिलें, बाप-
 बेटों में मेल बना रहे—और प्रसन्नचित्त पाषाण डोग

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः ।

उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥ ५ ॥

इमौ च वाणौ सहितौ पादयोर्मै व्यवस्थितौ ।

अपरौ चाप्यतिक्रांतौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥ ६ ॥

निरुप्य हि वने वासं कृत्वा कर्माऽतिमानुपम् ।

अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ७ ॥

चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान्वान्धवप्रियः ।

अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ८ ॥

रथी शरी चारुतली निपंगी शंखी पताकी कवची किरीटी ।

खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः शिखी वृतः स्रुग्भिर्वाऽऽज्यसिक्तः ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच—इपुपाते च सेनाया हयान्संयच्छ सारथे ।

यावत्समीक्षे सैन्येऽस्मिन्काऽसौ कुरुकुलाधमः ॥ १० ॥

सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम् ।

तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत् एते पराजिताः ॥ ११ ॥

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनंतरम् ।

भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥ १२ ॥

राजानं नाऽत्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति ।

दक्षिणं मार्गमास्थाय शंके जीवपरायणः ॥ १३ ॥

डोरी बजा रहे हैं । देखो, ये दो वाण एक साथ आकर मेरे पाँओं के पास गिरे, और दो वाण मेरे कान के पास से होकर चले गये । पहले दो वाणों से अर्जुन ने मुझे प्रणाम किया है । दुबारा के दोनों वाणों द्वारा उन्होंने मुझसे युद्ध के लिए अनुमति माँगी है ॥३६॥

उन्होंने वनवास के समय कठिन साधना की है; जो हो, बहुत दिनों के पश्चात् [प्रिय शिष्य] अर्जुन को आज देखा है । वाण, मनोहर तल-त्राण, तरकस, शङ्ख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण

किये रथ पर स्थित अर्जुन इस समय प्रज्वलित अग्नि के समान जान पड़ते हैं ॥३९॥

अर्जुन ने [कौरवों को युद्धभूमि में स्थित देखकर उत्तर में] कहा—हे कुमार ! जितनी दूरी पर वाण जाकर गिरता है उतनी ही दूरी पर ले चलकर मेरा रथ खड़ा कर दो । मैं देखना चाहता हूँ कि इस सेना में कुरुकुलाधम दुर्योधन कहा है । इस समय अन्य योद्धाओं के साथ युद्ध करने की आवश्यकता नहीं । एक उस अभिमानी दुर्योधन के हारने से ही सब हार जायेंगे । वह देखो आचार्य द्रोण हैं, उनके

कथं हि मंत्राग्न्यधरो मनीषी धर्मार्थयोरापदि संप्रणेता ।
 एवमुक्तः सर्वमंत्रैरहीनो नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ॥ २० ॥
 तत्र ह्यमी मंत्रविदः समेत्य समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः ।
 तेषामयं बलवान्निश्चयश्च कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥ २१ ॥
 अकालिकं कुरवो नाऽभविष्यन्पापे न चेत्पापमजातशत्रुः ।
 इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य निंदा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥
 किमन्यत्र विपयादीश्वराणां यत्र पार्थः परलोकं स्म द्रष्टुम् ।
 अत्यक्रामत्स तथा संमतः स्यान्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ॥ २३ ॥
 एतान्गुणान्कर्मकृतानवेक्ष्य भावाभावो वर्तमानावानित्यौ ।
 बलिर्हि राजा पारमर्विदमानो नाऽन्यत्कालात्कारणं तत्र मेने ॥ २४ ॥
 चक्षुः श्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा ज्ञानस्येतान्यायतनानि जंतोः ।
 तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयांते तान्यव्ययो दुःखहीनः प्रणुद्यात् ॥ २५ ॥
 न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत् ।
 मातुः पितुः कर्मणाऽभिप्रसूनः संवर्धने विधिवद्भोजनेन ॥ २६ ॥

वैभे दुःख नहीं मोगने पढ़ते—बह सहज में आपत्ति से छुटकारा पा जाता है। आप मत्कुरु में तो टलते हैं किन्तु मन्तोप आदि अन्य गुण आपमें नहीं हैं। मन्त्रणा-चतुर् भीष्म आदि आपके पास रहते हैं; उन्होंने उम मनय मना भी किया था कि पाण्डवों में अनुचित व्यवहार न किया जाय। आप स्वर्ग भी मलाई-बुराई को अच्छी तरह समझते थे। आपत्ति के समय धर्म और अर्थ के अगुवा होने का गौरव भी आप को प्राप्त है। यदि आप पुत्र के मोह में नूढ़ न होते तो ऐसे छोटे काम का अनुमोदन कभी न करते। हे गजेन्द्र ! ये कर्ण आदि सब आपके मन्त्री, जो सदा आपके कानों में लगे रहते हैं, मिलकर यह दृढ़ निश्चय कर चुके हैं कि पाण्डवों को आपा राज्य कभी न देना चाहिए। इसका अवश्य होने वाला फल कुरु-कुरु का नाश ही है ॥१८२२॥

जो महागज बुधिष्ठिर आपके पार-कर्म का बदला पाप-पूर्व उपाय में सुकाना चाहते तो अब तक कब का कौरवों का नाश हो चुका होता। हममें शत्रु गोत्र-वध का पाप भी न लगता; क्योंकि गोत्र-वध का मूल कारण आपका ही कर्म है। इस प्रकार बुधिष्ठिर तो, चींग की दण्ड देनेवाले राजा के समान अधर्म करनेवाले आप पर पार का भार छोड़कर हमें बच जाते; और संसार में आपकी ही निन्दा होती। हे राजेन्द्र ! सब जीव देव के ही वधोन्ने हैं। जो यह बात न होनी तो इन्हीं शरीर से स्वर्ग को जा मरनेवाले प्रतापी अर्जुन को ऐसे (दृष्टान्त) बचने आदि के) कष्ट न मोगने पढ़ते। देव के आगे पैरिय कुछ नहीं है। राजा बलि ने भी जब देखा कि दूरता आदि गुण कर्मानुसार घटते-बढ़ते रहते हैं, और इन्हीं भाव (पृथ्वी) और अनाव (कमी) मदा गिरा नहीं रहते

कीर्यमाणाः शरौधैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः ।
 नाऽपश्यन्नावृतां भूमिं नाऽतरिक्षं च पत्रिभिः ॥ २१ ॥
 तेषामापततां युद्धे नाऽपयानेऽभवन्मतिः ।
 शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ॥ २२ ॥
 ततः शंखं प्रदध्मौ स द्विपतां लोमहर्षणम् ।
 विस्फार्य च धनुः श्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ॥ २३ ॥
 तस्य शंखस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
 गांडीवस्य च घोषेण पृथिवी समकंपत ॥ २४ ॥
 अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम् ।
 ऊर्ध्वं पुच्छान्विधुन्वाना रेभमाणाः समंततः ।
 गावः प्रतिन्यवर्तत दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमहं गोनिवर्तने त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इधर अर्जुन ने वहां पहुँचकर ज़ोर से सबको अपना नाम सुना दिया । इसके पश्चात् वे कौरव-सेना पर टीङ्गीदल के समान असंख्य तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगे । अर्जुन के बाणों से सारी पृथ्वी और आकाशमण्डल हटा गया । कौरवों की सेना अत्यन्त व्याकुल हो गई; किन्तु कोई भागा नहीं, बल्कि वे सब मन ही मन अर्जुन के लगातार बाण बरसाने की प्रशंसा करने लगे ॥२०॥२२॥

इसी अवसर पर अर्जुन ने शत्रुओं के रोंगटे खड़े कर देनेवाला शङ्ख बजाया और गाण्डीव धनुष

की डोरी का शब्द किया । ध्वजा के ऊपर स्थित भूतगण भी भयङ्कर शब्द करने लगे । शङ्खनाद, रथ के पहियों की घरघराहट, गाण्डीव धनुष की टङ्कार और ध्वजा पर स्थित अलौकिक मूर्तों की कराल किलकारियों से पृथ्वीमण्डल कांप उठा । गायें डरकर पूँछ उठाकर दक्षिण दिशा [अपने नगर] की ओर लौट पड़ीं । [अर्जुन ने गोपालों से कहा—गायें लेकर तुम नगर को जाओ । तब वे लोग गायें लेकर नगर की ओर लौट पड़े ।] ॥२३॥२५॥

—०—

विराटपर्व का तिरपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

अथ चतुःपचाशततमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच—स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य गास्ता विजित्याऽथ धनुर्धराग्न्यः ।

दुर्योधनायाऽभिमुखं प्रयातो भूयो रणं सोऽभिचिकीर्यमाणः ॥ १ ॥

चीवनवां अध्याय ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! धनुष हराकर, गायों को लुढ़ाकर, युद्ध करने के लिए फिर धारण करनेवाले वीरों में प्रधान अर्जुन शत्रुओं को दुर्योधन की ओर बढ़े । कौरवों की सेना के लोगों

प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः	॥ १६ ॥
त्रिपरीततरश्च त्वं भागधेये न संमतः	।
अर्चिषां प्रक्षयाञ्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः	॥ १७ ॥
आनृशंस्यादनुकोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात्	।
गुरुत्वात्त्वयि संप्रक्षय वदून् क्लेशांस्तितिक्षते	॥ १८ ॥
दुर्योधने सौवले च कर्णे दुःशासने तथा	।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि	॥ १९ ॥
आत्मज्ञानं समारंभस्तितिक्षा धर्मनित्यता	।
यमर्थान्नापकर्षति स वै पंडित उच्यते	॥ २० ॥
निषेवते प्रशस्तानि निंदितानि न सेवते	।
अनास्तिकः श्रद्धधान एतत्पंडितलक्षणम्	॥ २१ ॥
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च न्हीस्तंभो मान्यमानिता	।
यमर्थान्नापकर्षति स वै पंडित उच्यते	॥ २२ ॥
यस्य कृत्यं न जानंति मंत्रं वा मंत्रितं परे	।
कृतमेवास्य जानंति स वै पंडित उच्यते	॥ २३ ॥

के बंश में एक तुम्हीं को विद्वान् और बुद्धिमान् लोग मान देते हैं ॥१५॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! धर्मात्मा युधिष्ठिर में राजा के सब लक्षण हैं और उनमें त्रिभुवन के स्वामी होने की योग्यता है । इसके विपरीत आपमें राजा के लक्षण नहीं हैं और धर्मात्मा धर्मज्ञ होने पर भी आप अन्ये होने के कारण राज्य पाने के उपयुक्त भी नहीं हैं । तो भी आपने राज्यसोम से स्नेह के योग्य धर्मात्मा को वन में रहने के लिए भेज दिया । राजा युधिष्ठिर उदार, दयलु, धर्मात्मा, शान्त, सत्यवादी और पराक्रमी होने पर भी आपको अपना बड़ा और बड़ा मनप्रकर अनेक क्लेश सह रहे हैं । हे राजेन्द्र ! आप दुर्योधन, कर्ण, दुश्मानन और शकुनि के ऊपर राज्य के काम छोड़कर कर्मे

अपने भले या अशुभ की इच्छा करते हैं ? जो मनुष्य शास्त्र के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करता है, शास्त्र के देखकर कार्य का आरम्भ करता है, वैराग्य का आश्रय ले करके सहनशील बनता है और श्रद्धा से साथ सदा धर्म करता है वही पण्डित है । इस प्रकार उक्त गुणों की सहायता से जो पुरुष पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं होता, वही पण्डित है । जो परलोक आदि पर विधात रखनेवाला आत्मिक है, गुरु और वेद आदि के वचनों पर श्रद्धा रखनेवाला है, प्रशंसनीय काम करता और निन्दित कामों से बचना है, वही पण्डित है ॥१६-२३॥

क्रोध, हर्ष, दर्प (दुर्मर्षों का अपमान करना), लज्जा, नम्रता का अभाव और अपने को मान के योग्य मानना, ये भाव जिसके कार्यों का नष्ट नहीं

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृत्य जांबूनदाग्न्योपचितं दृढज्यम् ।
 आपातयत्तं ध्वजमस्य मथ्यच्छिन्नध्वजः सोऽत्यपयाज्जवेन ॥ १० ॥
 तं शात्रवाणां गणवाधितारं कर्माणि कुर्वतममानुपाणि ।
 शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः समार्दयच्छरवर्षेण पार्थ ॥ ११ ॥
 स तेन राज्ञाऽतिरथेन विद्धो विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
 शत्रुंतपं पंचभिराशु विध्वा ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ॥ १२ ॥
 ततः स विद्धो भरतर्षभेण वाणेन गात्रावरणातिगेन ।
 गतासुराजौ निपपात भूमौ नगो नगाग्रादिव वातरुणः ॥ १३ ॥
 नरर्षभास्तेन नरर्षभेण वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
 चकंपिरे वातवशेन काले प्रकंपितानीव महावनानि ॥ १४ ॥
 हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा गतासवोऽन्या सुपुपुः सुवेपाः ।
 वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः पराजिता वासवजेन संख्ये ॥ १५ ॥
 सुवर्णकापर्णायसवर्मनद्धा नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः ।
 तथा स शत्रून्समरे विनिघ्नन्गांडीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ॥ १६ ॥
 चचार संख्ये विदिशो दिशश्च दहास्त्रिवाऽग्निर्वनमातपांते ।
 प्रकीर्णपर्णानि यथा वसंते विशातयित्वा पवनांऽद्युदांश्च ॥ १७ ॥

वाण चलाने लगा । तब शत्रुनाशन अर्जुन ने भी दृढ़
 होरीवाले सुनहरे धनुष को चढ़ाकर ऐसे वाण मार
 कि विकर्ण बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा; उसके
 रथ की ध्वजा भी कटकर गिर पड़ी। द्रोण आने पर
 विकर्ण प्राण लेकर फूटी के साथ युद्ध-भूमि से भाग
 गया । [विकर्ण के भाग जाने पर महावीर अर्जुन
 के इस अलौकिक काम को देखकर] अत्यन्त क्रोधित
 हो शत्रुन्तप नाम का वीर सामने आया, और अर्जुन
 पर वाणों की वर्षा करने लगा ॥१९।११॥

उसके वाणों के प्रहार से अर्जुन को बड़ा क्रोध
 चढ़ आया । उन्होंने उसी समय उसके पांच और
 सारथी को दस वाण मारे । अर्जुन के वाणों से

घायल शत्रुन्तप, पर्वत के शिखर पर से आधी से
 टूटकर गिरे हुए वृक्ष की तरह, युद्धभूमि में गिर पड़ा ।
 महावीर अर्जुन के वाणों से पीड़ित और वीर भी, आधी
 से कापते हुए महावन की तरह, कापने लगे । १२।१४।

जो वीर इन्द्र के समान पराक्रमी, लोह-रुक्म-
 घागी हिमालय पर उत्पल गजराजों के समान डील-
 डौलवाले थे वे अर्जुन के वाणों से मरकर पृथ्वी पर
 गिरे लगे । गर्मियों में घूट के समय प्रचण्ड अग्नि
 जैसे इपर-उपर वन को जलाती फिरती है जैसे ही
 पुरवधेष्ट अर्जुन शत्रुओं को चोपट करते हुए इधर-
 उधर विचरने लगे । यमन्त ऋतु में वायु जैसे वृष्टी
 के पत्तों को गिरानी दे और बादलों को इधर-उधर

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
 भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४७ ॥
 एकं हन्यान्न वा हन्यादिपुर्मुक्तो धनुष्मता ।
 बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४८ ॥
 एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
 पंच जित्वा विदित्वा पटू सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४९ ॥
 एकं विपरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च बध्यते ।
 सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मंत्रविप्लवः ॥ ५० ॥
 एकः स्वादु न भुंजीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।
 एको न गच्छेद्ध्वानं नैकः सुसेषु जाययात् ॥ ५१ ॥
 एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे ।
 सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ५२ ॥
 एकः क्षमावतां दोषो द्वितियो नोपपद्यते ।
 यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ५३ ॥
 सोऽस्य दोषो न मंतव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
 क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ५४ ॥

एक मनुष्य पाप करता है, उसका फल [सब लोगों को और] श्रेष्ठ पुरुषों को भी भोगना पड़ता है। भोग करनेवाले छूट जाते हैं, पाप करनेवाला दोष से लिप्त होता है। अर्थात् तुमने अन्याय किया, उससे होनेवाले युद्ध का फल सबको भोगना पड़ेगा। ऐश्वर्य का भोग सब करेंगे, पाप के भागी तुम्हीं होगे। धनुषधारी के बाण का निशाना लग भी जाता है, और कमी खाली भी जाता है; किन्तु बुद्धिमान् की चतुराई से राजा और राज्य दोनों का नाश होता है। एक बुद्धि से दो (कार्य और अकार्य) का निश्चय करके तीन (मित्र, शत्रु, उदासीन) को चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से बच में कीजिए। फिर पांच

(इन्द्रियों) को जीतकर, छः (सन्धि, विशद, मान आदि) को जानकर और सात (विद्या, जुआ, शिकार, शराव, कठोर वचन, दण्ड को कठोरता, अन्याय से घनोपासन) छोड़कर सुखी हूजिए ॥४७॥४९॥

विष में एक मरता है, शत्रु में एक की हत्या होती है, किन्तु सम्पत्ति की गड़बड़ से राजा, राज्य और प्रजा, सबका नाश होता है। हे राजेन्द्र ! अकेले स्वादिष्ट वस्तु न खानी चाहिए; अकेले किसी कार्य के बारे में न सोचना चाहिए; अकेले राह न चलना चाहिए और मोने हुए लोगों में अकेले न जागना चाहिए। हे महाराज ! जैसे मधुद के पार जाने का उपाय एक मात्र नाव (जहाज़) है, वैसे ही सत्य

ततस्त्वभूद्वै तलतालशब्दः सशंखभेरीपणवप्रणादः ।
 प्रक्ष्वेडितज्यातलानिः स्वनं तं वैकर्तनं पूजयतां कुरुणाम् ॥ २६ ॥
 उद्धृतलांगूलमहापताकध्वजोत्तमांसाकुलभीषणांतम् ।
 गांडीवनिर्हादकृतप्रणादं किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ॥ २७ ॥
 स चापि वैकर्तनमर्दयित्वा साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः ।
 तमाववर्ष प्रसभं किरीटी पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ॥ २८ ॥
 स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कैर्वैकर्तनो मेघ इवाऽभ्यवर्षत् ।
 तथैव कर्णं च किरीटमाली संछादयामास शितैः पृषत्कैः ॥ २९ ॥
 तयोः सुतीक्ष्णान्स्त्रजतोः शरौघान्महाशरौघास्त्रविवर्द्धने रणे ।
 रथे विलग्नाविव चंद्रसूर्यौ घनांतरेणाऽनुददर्श लोकः ॥ ३० ॥
 अथाऽऽशुकारी चतुरो हयांश्च विव्याध कर्णो निशिनैः किरीटिनः ।
 त्रिभिश्च यंतारममृष्यमाणो विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ॥ ३१ ॥
 ततोऽभिविद्धः समरावमर्दी प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः ।
 गांडीवधन्वा ऋषभः कुरुणामजिह्वगैः कर्णामियाय जिष्णुः ॥ ३२ ॥
 शरास्त्रवृष्ट्या निहतो महात्मा प्रादुश्चकाराऽतिमनुष्यकर्म ।
 प्राच्छादयत्कर्णरथं पृषत्कैर्लोकानिमान्सूर्य इवांऽशुजालैः ॥ ३३ ॥
 स हस्तिनेवाऽभिहतो गजेंद्रः प्रष्टुं भ्रष्टान्निशितान्निपंगात् ।
 आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ॥ ३४ ॥

किये हुए कर्ण प्रज्वलित अग्नि के समान शोभित
 हुआ । उसको इस प्रकार अद्भुत कर्म करके निर्मय
 खड़े देखकर कौरव लोग अत्यंत आनन्दके मारे तालियों
 पीटकर, शङ्ख-नगाड़े आदि बाजे बजाकर, प्रशंसा
 करने लगे । फिर कर्ण ने गाण्डीव धनुष धारण करने-
 वाले अर्जुन की ओर देखकर सिंहनाद किया । तब
 अर्जुन ने कर्ण को उसके रथ, सारथी और घोड़ों
 समेत बाणों से पीड़ित किया । इसके सिवा भीष्म,
 द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा पर भी अर्जुन बाणों
 की विकट वर्षा करने लगे । कर्ण ने भी बाणों की

वर्षा करके अर्जुन को छा लिया किन्तु अर्जुन ने शीघ्र
 ही उन बाणों को काट डाला । तब रथ पर सवार वे
 दोनों वीर भेद्य के भीतर से निकले हुए चन्द्रमा और
 सूर्य के समान जान पड़ने लगे ॥२५१३०॥

जब कर्ण ने फुटी के साथ अर्जुन के घोड़ों को
 बाणों से घायल करके उनके सारथी पर और ध्वजा
 पर तीन-तीन बाण मारे । सूर्यनारायण जैसे एकदम
 अपनी किरणें जगत् में फैला देते हैं वैसे ही मुद्द
 धीर अर्जुन ने, सोकर ठठे सिंह की तरह गरजकर,
 बाणों की वर्षा से कर्ण के रथ को छिपा दिया । फिर

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्यथक्कृतानि ।
 मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७८ ॥
 पंचाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।
 पिता माताऽधिरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७९ ॥
 पंचैव पूजयन्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
 देवान्पितृन्मनुष्यांश्च भिक्षूनातिथिपंचमान् ॥ ८० ॥
 पंच त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
 मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ८१ ॥
 पंचेंद्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकछिद्रियम् ।
 ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ८२ ॥
 पद् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
 निद्रा तन्द्री भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ८३ ॥
 पडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवाण्वे ।
 अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विवजम् ॥ ८४ ॥
 अरक्षितारं राजानं भार्या चाप्रियवादिनीम् ।
 ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८५ ॥

आग्निहोत्र, मौनव्रत, पढ़ना और यज्ञ करना, ये चार बातें
 अभय देती हैं; किन्तु यथाविधि न करने से ये ही भय
 का कारण बन जाती हैं । हे महाराज ! पिता, माता,
 अग्नि, आत्मा और गुरु, ये पाँच अग्नि हैं । यज्ञ के
 साथ इनकी सेवा करनी चाहिए । देवता, पितर (स्वर्गीय
 अग्निष्वात्ता आदि), मनुष्य (जीवित पिता-माता
 आदि), भिक्षुक और अतिथि, इन पाँच की पूजा करने
 से मनुष्य यशस्वी होता है ॥७६।८०॥

हे महाराज ! आप अहाँ-जहाँ जाँयगे वहाँ-वहाँ
 मित्र, शत्रु, उदासीन, उपमंड्य (गुरुजन) और
 उपजीवी (आश्रित अनुचर) ये पाँच आपके साथ
 जाँयेंगे । हे राजेन्द्र ! मनुष्य के पाँच इन्द्रियों हैं;

उनमें यदि एक भी इन्द्रिय कुपथगामिनी होकर
 दोषों को अवसर दे देती है तो उस मनुष्य की
 प्रज्ञा (तनज्ञदारी), कटी हुई मशक से जल की तरह
 निकलकर, नष्ट हो जाती है । हे राजेन्द्र ! ऐश्वर्य
 की इच्छा रखनेवाले पुरुष को निद्रा, तन्द्रा, भय,
 क्रोध, आलस्य और दीर्घ-सूत्रता अर्थात् शीघ्र के
 कार्य में देर लगाने का स्वभाव, ये छः दोष छोड़
 देने चाहिए । ज्ञान और दित का उपदेश न करने-
 वाले आचार्य को, अरइ पुण्डित को, रक्षा न करनेवाले
 राजा को, अप्रिय वचन बोझनेवाली भार्या को,
 गोवाहन के शिर वन में न रहकर बस्ती में रहनेवाले
 अहीर को और बस्ती में अपना कार्य न करके वन में

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च ।
 शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात् ।
 वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्न्यं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ॥ ६ ॥
 कालाग्निमिव धीभत्सुं निर्दहंतमिव प्रजाः ।
 नाऽरयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलंतमिव पावकम् ॥ ७ ॥
 तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः ।
 शैलं प्रतिवलाभ्राणि व्याप्तानीवाऽर्करश्मिभिः ॥ ८ ॥
 अशोकानां वनानीव च्छन्नानि बहुशः शुभैः ।
 रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ॥ ९ ॥
 स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम् ।
 छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ॥ १० ॥
 स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश ।
 रथांगदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ॥ ११ ॥
 कर्णकक्षविपाणेषु अंतरोष्ठेषु चैव ह ।
 मर्मस्वंगेषु चाऽऽहृत्य पातयत्समरे गजान् ॥ १२ ॥
 कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम् ।
 क्षणेन संवृता भूमिर्मघैरिव नभस्तलम् ॥ १३ ॥

करने लगे। रथ चलाने की विद्या में उत्तर की निपुणता, घोड़ों की चाल, अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का कौशल और अर्जुन की अत्यन्त विचित्र शक्ति देखकर कौरव उनका बहुत-बहुत प्रशंसा करने लगे। उस समय उन्हें जान पड़ने लगा कि प्रलयकाल की मयानक अग्नि सारी प्रजा को भस्म कर रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय अर्जुन का रूप ऐमा था कि शत्रु लोग उन्हें आंख भरकर देख भी नहीं सकते थे ॥१३॥

हे राजा जनमेजय ! पर्वत पर उठरे हुए बादलों पर सूर्य की किरणें पड़ने से जैसी शोभा होती है, फूले

हुए अशोक के फूलों से वनभूमि जैसी मनोहर शोभा धारण करती है, वैसे ही अर्जुन के बाणों से घायल कौरवों की सेना शोभा दे रही थी। अर्जुन के बाण शत्रुओं की सोन-चम्पे की माला, छत्र, पताका आदि को काटकर आकाश में ले जाते थे और वे वायु के कारण आकाश-मार्ग में कुछ देर तक उड़ते रहते थे। अर्जुन के बाणों से 'जोत' कट जाने पर, 'जोड़ी' से अलग होकर, भय से विचककर, घोड़े रथों को दृघर-उघर घसीटते फिरते थे। अर्जुन ने हाथियों को, बाणों से अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन-मिल करके, युद्ध-भूमि में गिरा दिया था। उन हाथियों की लोथों से

यः काममन्यु प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
 विशेषविच्छ्रुतवान्निक्षप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०९ ॥
 जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्विज्ञातदोषेषु दधाति दंडम् ।
 जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुपते समग्रा ॥ ११० ॥
 सुदुर्वलं नावजानाति कंचिद्युश्रुतो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
 न विग्रहं रंचयते बलस्थैः काले च यो विक्रमते स धीरः ॥ १११ ॥
 प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिद्दुयोगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
 दुःखं च काले सहते महात्मा धुरंधरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥ ११२ ॥
 अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः संधिं परदारामिभर्षाम् ।
 दंभं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥ ११३ ॥
 न संरंभेणारभते त्रिवर्गमाकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
 न मित्रार्थे रोचयते विवादं नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥ ११४ ॥
 न योऽभ्यसूयत्यनुकंपते च न दुर्वलः प्रातिभाष्यं करोति ।
 नात्याह किंचित्क्षमते विवादं सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥ ११५ ॥
 यो नोद्धतं कुरुते जातु वेपं न पौरुषेणापि विकरथतेऽन्यान् ।

डालता है, उसे सब लोग अपने लिए प्रमाण मानते हैं। जो राजा दण्ड की मात्रा को जानता है, अवसर पर क्षमा भी करता है, जिनका दोष प्रतीत हो गया है उन्हें दण्ड देता है और मनुष्यों के मन में अपना विश्वास जमाना जानता है, उसे सब प्रकार से सम्पन्न राजसूय भजता है ॥१०६।११०॥

जो राजा किसी दुर्बल को अपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता, बुद्धि लड़ाकर शत्रु के दोष देखता हुआ अवसर की खोज में रहता है, सहायसम्पन्न प्रबल पुरुषों से नहीं मिड़ता है और समय पर पराक्रम प्रकट करता है वही धीर है। जो राजा आपत्ति आ पड़ने पर व्यथित नहीं होता, सावधान होकर तर्कांग के साथ उसका सामना करने को सदा हो जाता है

और समय पर दुःख को सहता है, वह कार्य के बोझ को उठाने की शक्ति रखनेवाले महात्मा शत्रुओं को अवश्य जीत सकता है। जो राजा व्यर्थ विदेश नहीं जाता, पापियों से मेल नहीं रखता, पराई स्त्री को नहीं छीनता और दम्भ, मिथ्या व्यवहार, दुष्टता, मद्यपान आदि दुर्गुणों से बचा रहता है वह सदा सुखी है। जो क्रोध से बचकर परम अर्थ-काम का आरम्भ करता है, पूछने पर तत्त्व की सत्य बात कहता है, मित्रों से और स्वजनों से झगड़ा करना पसन्द नहीं करना तथा किसी के अपनी पूजा न करने पर अपमन्न नहीं होता, वही पण्डित है। जो ईर्ष्या नहीं करता बलिह दया करता है, दुर्बल होकर प्रबल से विशेष नहीं करता, बड़कर कोई बात नहीं

अनंतभोगो भुजगः क्रीडन्निवे महार्णवे	॥ २२ ॥
अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवाऽतिगस्तथा	।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः	॥ २३ ॥
संततास्तत्र मातंगा वाणैरल्पांतरान्तरे	।
संवृतास्तेन दृश्यन्ते मेघा इव गभस्तिभिः	॥ २४ ॥
दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदाक्षिणमस्यतः	।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमंडलम्	॥ २५ ॥
पतंत्यरूपेषु यथा चक्षूपि न कदाचन	।
नाऽलक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः	॥ २६ ॥
मार्गो गजसहस्रस्य युगपद्गच्छतो वने	।
यथा भवेत्तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः	॥ २७ ॥
नूनं पार्थजयैपित्वाच्छक्रः सर्वाभरैः सह	।
हंत्यस्मानित्यमन्यंत पार्थेन निहताः परे	॥ २८ ॥
घ्नंतमत्यर्थमहितान्विजयं तत्र मेनिरे	।
कालमर्जुनरूपेण संहरंतमिव प्रजाः	॥ २९ ॥
कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाऽहतान्यपि	।

जैसे अनन्त फनोंवाला नागराज महासमुद्र के भीतर क्रीड़ा करे वैसे ही महावीर अर्जुन शत्रुसेना को विचलित कर रहे थे । [उन्होंने इतने वाणों की वर्षा की कि वाणों से शत्रुओं के अन्न भर गये— शून्य जगह नहीं रही, और मुद्रों तथा घायलों के ढेर से युद्धभूमि में रथ का आगे बढ़ना कठिन हो गया ।] सब लोग गाण्डीव धनुष का अद्भुत शब्द सुनकर बहुत ही विस्मित हुए । वाणों से ढके हुए हाथी ऐसे देख पड़ते थे जैसे किरणों के पड़ने से काले-काले बादल देख पड़े । चारों ओर फिरकर दाहने, बायें और बीच में लगातार अर्जुन के वाणों की वर्षा करते रहने से उनके धनुष का एक मण्डल

सा देख पड़ रहा था । आखिं जैसे रूपहानि पदार्थ पर कभी नहीं पड़ती वैसे ही अर्जुन के वाण निशाने को छोड़कर अन्यत्र नहीं गिरते थे ॥२२।२६॥

जैसे हजार हाथी एक साथ चलें और चौड़ी राह साफ होती जाय वैसे ही युद्धभूमि में अर्जुन के रथ का मार्ग भी, उनकी वाण वर्षा से, साफ होता जाता था । घायल शत्रुओं ने समझा कि अर्जुन को जय दिलाने के लिए सब देवताओं सहित साक्षात् इन्द्र आकर यह युद्ध कर रहे हैं । कोई कहने लगा, साक्षात् यमराज ही अर्जुन का रूप रत्नकर प्रजा का नाश कर रहे हैं । जो कौरवों सेना अर्जुन के वाणों से घायल नहीं हुई थी वह भी, अर्जुन का अलौकिक

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
 कोशे जनपदे दंडे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥
 यस्त्येवतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
 युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥
 न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
 श्रियं ह्यविनयो हंति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥
 भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मस्त्यो वडिशमायसम् ।
 लोभाभिपाती ग्रसते नानुबंधमवेक्षते ॥ १३ ॥
 यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
 हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥
 वनस्पतेरपकानि फलानि प्रचिनोति यः ।
 स नामोति रसं तेभ्यो वीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥
 यस्तु पकमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
 फलाद्रसं स लभते वीजाञ्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥
 यथा मधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि पदपदः ।
 तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविर्हिसया ॥ १७ ॥

है । प्रत्येक कार्य के प्रयोजन और फल को निवार
 कर, फिर अपने दयोग को देखकर धैर्य के साथ
 चाहे उसे करे और चाहे न करे । जो राजा म्यान,
 वृद्धि, क्षय, कोप, जनपद और दण्ड के प्रमाण को नहीं
 जानता, वह राज्यासन पर नहीं उठर सकता॥१०॥

जो राजा इन बातों के शास्त्रोक्त प्रमाण को
 जानता और धर्म-अर्थ का ज्ञान रखता है, वह
 [बहुत दिन तक म्भिर भाग में] राज्य करता है ।
 राज्य या जाने पर उसे म्भिर जानकर स्वेच्छाचार
 का बरताव न करना चाहिए । नर को जैसे बुझाता
 बिगाड़ देता है वैसे ही राजदण्डनी को अनियमिटा
 देता है । स्थाने की अच्छी मानमीमें छिपे हुए लोहे

के कौंटे को मउली, अन्न की इच्छा से, निगल जाती
 है, पीछे से अपने फँस जाने को नहीं देखती ।
 इसलिए जो स्थान के अनुकूल ही और स्था लेने पर जो
 पच सके तथा जो अन्न को शितकारी हो वही स्थाना
 चाहिए; कल्याण और ऐश्वर्य चाहनेवाले को सदा
 इस बात पर ध्यान रखना चाहिए । जो कोई वृक्ष
 के कच्चे फल तोड़ लेता है उसे रस तो मिन्ता
 ही नहीं, वह बीज से भी हाथ धो बैठता है; वैसे
 ही जो कोई ममय पर पके हुए फल को लेता है
 वह रस भी पाता है और बीज भी बने रहते हैं,
 जिनमें फिर फल की आशा होती है ॥११॥१६॥
 जैसे माँस दूनों को बनाये रखकर उनमें रस

तत्प्रभञ्जं वलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः ।
 अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
 आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया ।
 कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ ४० ॥
 अर्जुन उवाच—लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि ।
 नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठंतमुत्तर ॥ ४१ ॥
 कृपस्वैतदनीकान्यं प्रापयस्वैतदेव माम् ।
 एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्वं दृढधन्विनः ॥ ४२ ॥
 ध्वजे कमंडलुर्यस्य शातकौभमयः शुभः ।
 आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ४३ ॥
 सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
 सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वेनं प्रदक्षिणाम् ॥ ४४ ॥
 अत्रैवाऽवाऽवरोहैनमेव धर्मः सनातनः ।
 यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति ।
 ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नाऽस्य कोपो भवेदिति ॥ ४५ ॥
 अस्याऽविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते ।
 आचार्यस्यैव पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ॥ ४६ ॥

रथ काट डाला । कर्ण के घोड़ों को और सारथी को नष्ट होते देखकर सैनिक लोग मयभीत होकर चारों ओर भागने लगे ॥३५॥३८॥

इसी समय अर्जुन के अभिप्राय को जानकर विराट के पुत्र उत्तर ने कहा—हे पाण्डव ! आप किस सेना की ओर जाना चाहते हैं ? आज्ञा दीजिए, मैं उधर ही रथ ले चलूँ ॥३९॥४०॥

अर्जुन ने कहा—वह जो लाल घोड़ों और नीली पताकावाले रथ पर सवार है उनका नाम कृपा-चार्य है । मैं उनके पास चलकर अपना युद्ध-कौशल और कुर्ती दिखाना चाहता हूँ ॥४१॥४२॥

और, जिनकी ध्वजा के दण्ड में सुवर्ण का कमण्डलु शोभा पा रहा है वही धनुर्दार पुरुषों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य हैं । वे मेरे और अन्य सब योद्धाओं के मान्य तथा पूजनीय हैं । मैं इस समय विधिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा करूँगा, दाहनी ओर से उनके चारों ओर रथ घुमा दों । आचार्य पहले प्रहार करेंगे तभी मैं उन पर चोट करूँगा । ऐसा करने से वे मुझ पर कुपित नहीं होंगे ॥४३॥४५॥

और, वह जो धनुष के निह से युक्त ध्वजावाले रथ पर आचार्य के पास ही उपस्थित हैं, वही महा-रथी अश्वत्थामा हैं । वे भी हम सबके पूज्य हैं ।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
 अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥
 य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्यं कुलान्वये ।
 सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनंतकः ॥ ४२ ॥
 अकार्यकरणाङ्गीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
 अकाले मंत्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥ ४३ ॥
 विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
 मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥
 असंतोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन ।
 तावन्न तस्य सुकृतं किञ्चित्कार्यं कदाचन ।
 मन्यन्ते संतमात्मानमसंतमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥
 गतिरात्मवतां संतः संत एव सतां गतिः ।
 असनां च गतिः संतो न त्वसंतः सतां गतिः ॥ ४६ ॥
 जिता सभा वस्त्रवतामिष्टाशा गोमता जिता ।
 अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

मेरी समझ में जो आचार से हीन हैं उनकी
 श्रेष्ठता का कारण कुल नहीं माना जा सकता ।
 नीच कुल में उत्पन्न पुरुष भी अच्छे चरित्र के कारण
 प्रशंसा पा सकते हैं । तात्पर्य यह है कि सदाचार
 से हीन पुरुष अच्छे कुल में उत्पन्न होने पर भी
 निन्दनीय है, और सदाचारी पुरुष नीच कुल में
 उत्पन्न होने पर भी प्रशमनीय है । जो पुरुष पराये
 धन, स्त्र, पराक्रम, कुल, सुख, सौभाग्य और
 सत्कार-प्रतिष्ठा को देखकर ईर्ष्या करता है उसे चिन्ता
 की अन्ततः व्याधि सदा मताया करती है । अकार्य करने
 से, कार्य न करने से और इष्टमिद्धि से पड़ले सम्मति
 के घूट जाने से जो उरता है उसे चादिप किमतवाला
 सा बना देनेवाले—हृदय से कर्त्तव्य-कार्य का विचार
 हटा देनेवाले—लोग आदि को आश्रय न दे । जो

लोग घमड़ी हैं उन्हें विद्या, धन और सहायक परि-
 वार का मद होता है । किन्तु साधुपुत्र इन्हीं वीर्यों
 को पाकर नम्रतापूर्वक शान माध से रहने दें । यदि
 सज्जन लोग कभी किसी कार्य के लिए दुर्जनों से
 पार्थव्य करते हैं तो वे सर्वत्र असाधु कहलाने पर भी
 अंगन को साधु मानते हैं ॥४१।४५॥

आत्मज्ञानियों की, सज्जनों की और दुर्जनों की
 भी गति सज्जन ही हैं । दुर्जन कभी सज्जनों की
 गति नहीं दे । सुन्दर वस्त्रवाला पुरुष समा को, गाय
 पालनेवाला पुत्र मीठे (और गौरव) की इच्छा को
 और मवारी जिमके पाम है वह गड़ को जीन लेना
 है, किन्तु जो अच्छे चरित्रवाला है वह सर्वत्र जय
 पाता है—सबको जीत लेता है । बात यह है कि
 शीन ही पुत्र का प्रधान गुण है । जिमका शीन

वलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ॥ ५६ ॥
 हैमं चंद्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते ।
 जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ॥ ५७ ॥
 एष शांतनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः ।
 राजश्रियाऽभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ॥ ५८ ॥
 पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत् ।
 एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ॥ ५९ ॥
 ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम् ।
 यत्राऽतिष्ठत्कृपो राजन्योत्स्यमानो धनंजयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीनन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोपदे अर्जुनकृपसंभामे पंचपंचाशततमोऽध्यायः ॥५५॥

दुर्योधन के वश में हैं, यह देखकर हमारा जी कुड़ता है । सबसे पीछे हम उनके पास चलेंगे । पितामह भीष्म हमारे काम में विघ्न नहीं डालेंगे । मैं जब पितामह से युद्ध करूंगा तब तुम सावधान होकर घोड़ों की

रास संभाले रहना । अर्जुन के ये वाक्य सुनकर उत्तर कुमार उनके रथ को उस जगह पर ले गया जहाँ पर कृपाचार्यजी, अर्जुन से युद्ध करने के लिए, खड़े थे । ॥५२॥६०॥

विराटपर्व का पंचपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

अथ पट्टपचाशततमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तान्यनीकान्यदृश्यंत कुरूणामग्रधान्विनाम् ।
 संसर्पते यथा मेघा घर्माते मंदमारुताः ॥ १ ॥
 अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः ।
 भीमरूपाश्च मातंगास्तोमरांकुशनोदिताः ।
 महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः ॥ २ ॥
 ततः शक्रः सुरगणैः समारूढ्य सुदर्शनम् ।

छठपनवा अध्याय ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज जनमेजय ! धनुर्द्धर पुरुषों में श्रेष्ठ कौरव-सेना के वीर, आगे बढ़ने से, उस समय मन्द वायु के द्वारा सञ्चालित वर्षाकाल की मेघमाला के समान देख पड़ने लगे । उनके समीप उत्तम घोड़ों पर सवार योद्धा लोग आगे बढ़ने लगे ।

कतार की कतार हाथियों पर विचित्र कवच पहने हुए वीर बैठे थे । उन हाथियों पर सुन्दर मूल्यवान् झूले और रक्षा के लिए सुवर्ण के जाल पड़े थे । महावत लोग तोमर और अंकुश आदि के प्रहार से उन हाथियों को आगे बढ़ा रहे थे । इसी समय कृपाचार्य

यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद्ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥
 अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
 दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥
 आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
 वाक्चैव गुप्ता दानं च नैतान्यंस्वेषु भारत ॥ ७३ ॥
 आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसंस्त्वबुधा बुधान् ।
 वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो त्रिमुच्यते । ॥ ७४ ॥
 हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दंडविधिर्बलम् ।
 शूश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥
 वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो नतः ।
 अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ ७६ ॥
 अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक्सुभाषिता ।
 सैव दुर्भाषिता राजन्नर्थयोपपद्यते ॥ ७७ ॥
 रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुनाहतम् ।
 वाचा दुरुक्तं वीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥
 कर्णिनालीकनाराचाग्निर्हरन्ति शरीरतः ।

दण्ड भोगना पड़ता है । इसलिए पाप करनेवालों का साथ छोड़ देना चाहिए ॥६६।७०॥

जो मनुष्य मोह में पड़कर शरीर में रहनेवाले पांच इन्द्रियरूपी शत्रुओं को कुमार्थ में जाने में नहीं रोकता, ठमे चारों ओर से विरथियां घेर लेती हैं । दुःख, पुरुष ईर्ष्याहीनता, सरलता, पवित्रता, सन्तोष, प्रिय वचन बोलना, जितेन्द्रियता, मत्य और शान्ति से सदा दूर रहते हैं । नीच पुरुषों में आत्मज्ञान, शान्तपट्टति, नदनशीलता, धर्मनिष्ठा, टीक और थोड़ी बात कहना और दान की प्रवृत्ति, ये वचम गुण नहीं होते । मूर्ख दुःखचारी लोग, निन्दा और ग्लानि वचनों से, पण्डितों को दानि पहुंचाते हैं । निन्दा

और विरस्कार के वचन कहनेवाला पापमागी होता है और क्षमा करनेवाला पाप से छूट जाता है । दुष्टों का बल हिंसा है, राजाओं का बल दण्ड का विधान है, स्त्रियों का बल सेवा करना है और गुणवानों का बल क्षमा है ॥७१।७५॥

हे राजेन्द्र ! वाणी का संयम बहुत ही कठिन है । अर्थयुक्त, चमत्कारयुक्त बहुत बोलना भी महज नहीं है । हे राजेन्द्र ! मधुर और अच्छे वचन बोलने से कल्याण प्राप्त होता है । वणी कठिन और कड़वी हो तो घोर अनर्थ हो जाते हैं । वाणी का घाव भर जाता और कुन्शङ्गी का काटा हुआ किर पनर आता है, किन्तु विभिन्न दुर्वचन-वाणों का घाव नहीं मरना ।

यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे ॥ १२ ॥
 सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः ।
 अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः ॥ १३ ॥
 दिव्यानां सर्वमाल्यानां गंधः पुण्योऽथ सर्वशः ।
 प्रससार वसंताये वनानामिव भारत ॥ १४ ॥
 तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यंत तिष्ठताम् ।
 आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥
 उपाशाम्यद्रजो भौमं सर्वं व्यातं मरीचिभिः ।
 दिव्यगंधानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥
 प्रभासितमिवाऽऽकाशं चित्ररूपमलंकृतम् ।
 संपतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नावभासितैः ॥ १७ ॥
 विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपार्णितैः सुरोत्तमैः ।
 वज्रभृच्छुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्धृतः ॥ १८ ॥
 विभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम् ।
 विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नाऽतृप्यत्सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमूढे देवागमने पदपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

आदि दिवपालों तथा गन्धर्वों के विमान भी आकाश में अपनी-अपनी जगह पर स्थित हुए । तालर्यं यह है कि उस समय कौरवों के साथ अर्जुन का युद्ध कौरवों के हित के लिए देवता, सिद्ध और महर्षि, सभी आ गये । वसन्त के प्रारम्भ में फूले हुए वृक्षों की सुगन्धि से जैसे दिशाएं महक उठती हैं वैसे ही देवताओं की दिव्य मालाओं की बढ़िया सुगन्ध चारों ओर फैल गई ॥११११॥

आकाश में देवताओं के वस्त्र, ध्वजा, छत्र, चक्र और जड़ाक गहने इधर-उधर शोभा देने लगे ।

उस समय पृथ्वी पर की सब घूल बैठ गई; चारों ओर तेज और प्रकाश की किरणें फैल गईं । मनोहर सुगन्धयुक्त पवन चलकर योद्धाओं की सेवा करने लगा । देवताओं के उज्ज्वल रत्नों और विमानों से विभूषित आकाशमण्डल की बढ़ी शोभा हुई । देव-गणयुक्त, विमान पर बैठे, कमलों की माला पहने, इन्द्र युद्धभूमि में बारम्बार अपने पुत्र अर्जुन को सेह की दृष्टि से देखने लगे । बार-बार देखकर भी मानों उनका जी नहीं भरता था ॥१५११॥

— ० —

विराटपर्व का उपनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः ।

बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किञ्चन बुध्यसे ॥ १७ ॥

विरोचन उवाच—हिरण्यं च गवाश्वं च यद्विचमसुरेषु नः ।

सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्रं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच—हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।

प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्रं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच—आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।

न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच—पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।

पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रहादौ नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

विदुर उवाच—एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।

विरोचनसुधन्वानौ प्रहादौ यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

प्रहाद उवाच—इमौ तौ संप्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।

आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।

विरोचनेतत् पृच्छामि किं ते सत्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

पुत्र एक साथ बैठ सकते हैं । दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वैश्य, दो शूद्र, और दो वृद्ध बराबर एक साथ बैठ सकते हैं, अन्य अर्थात् उच्च नीच नहीं बैठ सकते । तुम्हारे पिता प्रहाद मुझे नीचे आमन पर बैठने हैं । तुम अभी बालक हो और पर में सुख से पले हो, इसी से इन बातों के बारे में कुछ नहीं समझते ॥१६।१७॥

विरोचन ने कहा—हे सुधन्वा ! मैं दैत्यों के सब सुवर्ण, गोधन, घोड़े आदि संपत्ति का दांव लगाता हूँ । हम-तुम दोनों चलकर हम बारे में जानकारों से पूछें ॥१८॥

सुधन्वा ने कहा—सुवर्ण, गाय, घोड़े आदि सब संपत्ति तुम्हारी ही बनी रहे, मुझे न चाहिए ।

आओ, हम तुम प्राणों का दांव लगाकर जानकारों से हम बारे में पूछें ॥१९॥

विरोचन ने कहा—हे ब्रह्मन् ! प्राण-पण करके हम दोनों किससे यह प्रश्न पूछेंगे ? मुझे देवताओं और मनुष्यों पर विश्वास या श्रद्धा नहीं है ॥२०॥

सुधन्वा ने कहा—हम तुम दोनों ही, प्राणों का दांव लगाकर, तुम्हारे पिता प्रहाद के पास चलेंगे । मुझे विश्वास है, परमात्मा प्रहाद पुत्र के लिए भी अमत्य न बोलेंगे ॥२१॥

विदुर कहते हैं—हम प्रकार कोषपरिपूर्ण ब्राह्मण और दैत्य दोनों, प्राणों का दांव लगाकर, प्रहाद के पास गए । उन्हें देखकर प्रहाद ने सोचा

तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः	॥ ९ ॥
पूजयांचकिरे शंखं कुरवः सहसैनिकाः	।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते	॥ १० ॥
दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः	।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते	॥ ११ ॥
एतस्मिन्नंतरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः	।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः	।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा	॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः	।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान्	॥ १३ ॥
स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः	।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत्तदा	॥ १४ ॥
तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ	।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ	॥ १५ ॥
ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः	।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः	॥ १६ ॥
पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गांडीवं परमायुधम्	।
विकृष्य चिक्षेप बहून्नाराचान्मर्मभेदिनः	॥ १७ ॥
तानप्राप्ताञ्जितैर्वाणैर्नाराचान् रक्तभोजनान्	।
कृपाञ्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः	॥ १८ ॥

शङ्खनाद मानों आकाश में भर गया और बड़ा से लौटकर शत्रुओं के कानों में गूँज उठा। सब कौरव और उनके सैनिक यह कहकर शङ्ख की प्रशंसा करने लगे कि अहो बड़ा आश्चर्य है ! यह शङ्ख अर्जुन के ज्ञार से बजाने पर भी फट नहीं गया। अर्जुन का शङ्खनाद सुनकर कृपाचार्य क्रुपित हो उठे ॥७॥१०॥

अर्जुन से युद्ध करने का विचार करके उन्होंने

भी अपना शङ्ख बड़े ज़ोर से बजाया। फिर वे धनुष-बाण लेकर मयानक भिदनाद करने लगे। सूर्य के समान तेजस्वी दोनों वीर जसद्व द्रष्टु की पनपटा के समान शोभित हुए। अब महाबली कृपाचार्य ने धनु-दमन अर्जुन को मर्मभेदी होने दम बाण मारे ॥११॥१६॥

महावीर अर्जुन भी जगत्प्रसिद्ध गाण्डीव धनुष मीनकर कृपाचार्य के ऊपर मर्मभेदी नाराच बाण

पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
 नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
 पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥
 वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
 पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति ।
 तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुप्तमाहितः ॥ ६३ ॥
 असूयको दंशूको निष्टुरो वैरकृच्छटः ।
 स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन् ॥ ६४ ॥
 अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा ।
 न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥
 प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पंडितः ।
 प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थो शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥
 दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
 अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥
 पूर्वं वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
 यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

अनिष्ट फल भोगता है। ऐसे ही पुण्य करनेवाला प्रयत्न का पात्र बनकर शुभ फल प्राप्त करता है ॥५६१६०॥

बार-बार पाप करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, इसलिए पाप नहीं करना चाहिए। जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है वह एक के पदचात दूसरा पापकर्म ही करता है। ऐसे ही पुण्यकर्म बार-बार करने से बुद्धि निर्मल होती है। बुद्धि तीव्र होने से मनुष्य एक के पदचात दूसरा पुण्यकर्म ही करता है। पुण्यात्मा पुरुष पवित्र कीर्ति का भागी होकर पवित्र लोक को जाता है। इसलिए एकत्र ही एक पुण्यकार्य करना चाहिए। ईर्ष्या करनेवाला, नमस्कार पर चोट

पहुँचानेवाला, अप्रिय वचन बोझनेवाला, बर करनेवाला और छोट पुरुष पाप करने के कारण शीघ्र ही किर्मी घोर संकट में पड़ जाता है। जो ईर्ष्या नहीं करता, बुद्धिमान है, वह मदा अच्छे कर्म करने के कारण सद्दत्त और कष्ट में बचा रहता है, सुखी रहता है, और सब उभे प्यार करते हैं ॥६१६५॥

जो पुरुष बुद्धिमानों से समझदारी की बातें सीखता है वही पण्डित है। मात्र पुरुष धर्म और अर्थ पाकर अपने सुख को बढ़ा सकता है। दिन को वह काम करना चाहिए जिससे रात्रि को सुप्त से सोने और वर्ष के आठ महीने में वह काम करना चाहिए जिससे वर्ष के चार महीने अच्छी तरह

व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥
 तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात्काय आवभौ ।
 समये मुच्यमानस्य सर्वस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥
 छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।
 चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ २९ ॥
 स तदप्यस्य कौतेयश्चिच्छेद नतपर्वणा ।
 एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत् ।
 शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ॥ ३० ॥
 स छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान् ।
 प्राहिणोत्पांडुपुत्राय भ्रदीतामशनीमिव ॥ ३१ ॥
 तामर्जुनस्तदाऽऽयांतीं शक्तिं हेमविभूषिताम् ।
 वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
 साऽपतद्दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥
 युगपच्चैव भङ्गस्तु ततः सज्यधनुः कृपः ।
 तमाशु निशितैः पार्थ वि भेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥
 ततः पार्थो महातेजा विशिखानग््नितेजसः ।
 चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥
 अथाऽस्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
 पथेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ॥ ३६ ॥

कृपाचार्य का धनुष काट डाला और दूसरा तीक्ष्ण वाण मारकर उनके कवच को काट डाला, पर शरीर में कोई घाव नहीं किया। अर्जुन के वाण से कवच कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब कृपाचार्य की शोभा केचुल छोड़नेवाले नागराज की तरह हुई ॥२१२८॥

उन्होंने दूसरा धनुष लेकर उस पर डोरी चढ़ाई; अर्जुन ने और एक तीक्ष्ण वाण से उसे भी काट डाला। इसी तरह अर्जुन ने कृपाचार्य के कई धनुष कुर्ती के साथ काट डाले। बार-बार धनुष कट जाने

से कुपित कृपाचार्य ने अर्जुन के ऊपर एक वज्र-सदृश सुवर्ण-भूषित शक्ति चलाई। आकाशमार्ग में आती हुई, सुवर्ण-भूषित, महा उल्का ऐसी चमकदार उस शक्ति को अपनी ओर आते देख अर्जुन ने दस वाण मारकर उसके दस टुकड़े कर डाले। वह शक्ति टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥२१३३॥

तब कृपाचार्य ने फिर और धनुष लेकर अर्जुन को तीक्ष्ण दस वाण मारे। महातेजस्वी अर्जुन ने बहुत ही कुपित होकर कृपाचार्य को अग्नि के समान

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।

निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःस्वमण्वपि ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीयतेऽन्यान् वैरकृञ्चाप्रतिघातकश्च ।

निंदा प्रशंसा सुसमस्वभावो न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।

सत्यवादी मृदुर्दातो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

नानर्थकं सांत्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।

रंभं परस्य जानानि यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशास्तो नावर्तते मन्युवशात्कृतघ्नः ।

न कस्यचिन्मित्रमथो दुरारता कलाश्रेता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

न श्रद्धाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशंकितः ।

निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।

अधमांस्तु न सेवेत ये इच्छेद्भ्रातृमात्मनः ॥ २० ॥

बेटता है, जमी का मझ करता है और जमा होता चाहता है वैसा ही होता है । मनुष्य त्रिम-त्रिम विषय में बचता जाता है उस-उसमें होनेवाले दुःख से भी डुटकरा पा जाता है । इस प्रकार सबसे निवृत्त अर्थात् विरक्त होने पर किञ्चित् मात्र भी दुःख नहीं रह जाता ॥११११॥

एव अवस्था में न कोई उसे जान सकता है और न वह किसी को जानना चाहता है । न वह किसी में वैर करता है और न किसी को मारना चाहता है । वह निन्दा और मरना को समान समझता है । न ममत्त्व होता है और न मोह करता है । जो मक्का कल्पना चाहता है, किसी का दुःख नहीं चाहता, मध्य बेचना है, कोमलमृदु है और त्रिभेन्द्रिय है, उसे उत्तम पुण्य जानना चाहिए । जो स्वर्ण किसी को भ्रष्टा दिखाना नहीं देता, वह

वस्तु दे देता है त्रिमके देने का बचन करता है और शत्रु के ऊपर चोट करने के अवसरों को जानता है, वह मध्यम पुण्य है ॥१५१७॥

दुरागमन पोषयात्रा में गन्धर्वों की गदा में नाग भी गया, वे शत्रुओं से विदेशी भी हुआ तथापि क्रीषवरा होनेसे अभी भीषा नहीं हुआ, वह हृत्तन भी है उपकार किसी का मानना ही नहीं पाण्डवों ने उसे गन्धर्वों में छुड़ाया भी परन्तु उनके उपकार का नाश ही करता है वह उनका ही क्या किसी का भी नित्र वह दुष्टता नहीं है, वय ये सब कृतात्मने अधन पुण्य की है ॥१२॥

जो पुण्य नष्ट करने परदार्य में श्रद्धा और गुण-जन पर विश्वास नहीं रखता; जो मित्रों को दूर कर देता है; त्रिमको वश में रखता कहिन है; मार मार भी जो क्रीष के मारे भीषा नहीं होता; जो

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम् ।
 अप्राप्तांश्चैव तान्पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥
 ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
 अवाकिरत्ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥
 हयांश्च रजत्प्रख्यान्कंकपत्रैः शिलाशितैः ।
 अवाकिरदमेयात्मा पार्थ संकोपयन्निव ॥ २२ ॥
 एवं प्रवृत्ते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः ।
 समं विमुंचतोः संख्ये विशिखान्दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥
 तावुभौ ख्यातकर्माणौ वायुसमौ जवे ।
 उभौ दिव्यास्त्रत्रिदुपावुभावुत्तमतेजसौ ।
 क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥
 व्यस्मयंत ततो योधा ये तत्राऽऽसन्समागताः ।
 शरान्विसृजतोस्तूर्णं सांधु साधिवत्यपूजयन् ॥ २५ ॥
 द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात् ।
 रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत ।
 इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥
 वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिच्छ्रौ महाभुजौ ।
 छादयेतां शरव्रातरैन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

आप पहले प्रहार न करेंगे तब तक मैं आप पर बार नहीं करूंगा। इसलिए आप पहले प्रहार कीजिए ॥११८१९॥

तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन के ऊपर बहुत से वाण चलाये। अर्जुन ने फुर्ती के साथ बीच में ही उन वाणों को काट डाला। फिर द्रोणाचार्य ने मानों वीरवर अर्जुन के क्रोध को प्रज्वलित करने के लिए ही हज़ारों वाणों से उनके घोड़ों को और रथ को ढक दिया। इस प्रकार महावीर द्रोणाचार्य और अर्जुन का संग्राम होने लगा। दोनों वीर प्रसिद्ध कर्म करने-वाले, वायु के समान वेगवाले, युद्धचतुर और महा-

तेजस्वी थे। दोनों के ही वाणों की वर्षा से अन्यान्य नरपति और योद्धा मोहित से हो गये। सब लोग महावीर अर्जुन को शाबाश देने लगे। ये कहने लगे—अर्जुन के सिवा द्रोणाचार्य से और कौन युद्ध कर सकता है। हाय, क्षत्रिय-धर्म कैसा भयानक है। अर्जुन अपने ही गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध कर रहे हैं। ॥२०।२६॥

उपर महावीर द्रोण और अर्जुन दोनों परस्पर पास जाकर, कुपित होकर, तीक्ष्ण वाणों की वर्षा से एक दूसरे को ढक देने की चेष्टा करने लगे। क्रोधित द्रोणाचार्य अपना विकट घनुप चढ़ाकर वाणों से

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद् भ्रश्यते बलम् ।

सन्तापाद् भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्भ्रयाधिमृच्छति ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपनप्यते ।

अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मास्मशोकेमनःकृथाः ॥ ४५ ॥

पुनर्नरो प्रियते जायते च पुनर्नरो हीयते वर्द्धते च ।

पुनर्नरो याचति याच्यते च पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।

पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥

चलानि हीमानि पडिंद्रियाणि तेषां यद्यद्वर्द्धते यत्र यत्र ।

ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य च्छिद्रोदकं भादिव नित्यमंभः ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—ननुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरिनो मया ।

मदानां मम पुत्राणां युद्धेनांतं करिष्यति ॥ ४९ ॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।

यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

विदुर उवाच—नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।

नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ ॥ ५१ ॥

जाता है। विन्ता से रूप, बल और ज्ञान नष्ट होता है; व्याधि उत्पन्न होती है। जो नहीं मिल सकता वह केवल उसके लिए शोक करने में नहीं पाया जा सकता; व्यर्थ ही शोक में शरीर मूखता है और शत्रुओं को पतनता होती है। इसलिए आप शोक न कीजिए ॥४१॥४५॥

हे राजेन्द्र ! मनुष्य जन्म लेने हैं और फिर मरते भी हैं, पढ़ते हैं और फिर बढ़ते भी हैं, आर दूधों में मांगते हैं और फिर दूधों में उनमें मांगते हैं, स्वयं शोक करते हैं और फिर दूधों में उनके आगे शोक करते हैं। सुख और दुःख, अय और शक्ति, लाभ और हानि, जीवन और मरण, ये आते-

जाते रहते हैं। इसलिए धीर पुरुष को इनके लिए दर्प या शोक न करना चाहिए। मन सहित चक्षु आदि छः ज्ञानेन्द्रियों चञ्चल हैं। इनमें से जो प्रबल होती है उसी के द्वारा मनुष्य-बुद्धि वैधे ही नष्ट होती है जैसे फूटे घड़े से जल बहता है। धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! शरीर में रुंधी हुई अग्नि के समान धर्म से विदुर राजा युधिष्ठिर के हाथ में मिथ्याव्यवहार किया है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वे युद्ध ठानकर मेरे मन्त्रबुद्धि पुत्रों का नाश कर डालेंगे। मर्मी बाने व्याकुलता उत्पन्न करनेवाणी हैं। मेरा मन भी सदा व्याकुल हुआ करता है। इसलिए तुम मुझे वद उपदेश करो, जिसमें यह

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम्।
 अप्राप्तांश्चैव तान्पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥
 ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
 अवाकिरत्ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥
 हयांश्च रजतप्रख्यानकंपत्रैः शिलाशितैः ।
 अवाकिरदमेयात्मा पार्थ संकोपयन्निव ॥ २२ ॥
 एवं प्रवृत्ते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः ।
 समं विमुंचतोः संख्ये विशिखान्दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥
 तावुभौ ख्यातकर्माणवुभौ वायुसमौ जवे ।
 उभौ दिव्यास्त्रविदुवावुभावुत्तमतेजसौ ।
 क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥
 व्यस्मयंत ततो योधा ये तत्राऽऽसन्समागताः ।
 शरान्विसृजतस्तूर्णं सांधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥
 द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात् ।
 रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत ।
 इत्यनुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥
 वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ ।
 छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

आप पहले प्रहार न करेगे तब तक मैं आप पर वार नहीं करूंगा। इसलिए आप पहले प्रहार काजिए ॥१८११॥

तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन के ऊपर बहुत से वाण चलाये। अर्जुन ने फुर्ती के साथ बीच में ही उन वाणों को काट डाला। फिर द्रोणाचार्य ने मानों वीरवर अर्जुन के क्रोध को प्रज्वलित करने के लिए ही हज़ारों वाणों से उनके घोड़ों को और रथ को टक दिया। इस प्रकार महावीर द्रोणाचार्य और अर्जुन का संग्राम होने लगा। दोनों वीर प्रसिद्ध कर्म करने-वाले, वायु के समान वेगवाले, युद्धचतुर और महा-

तेजस्वी थे। दोनों के ही वाणों की वर्षा से अन्यान्य नरपति और योद्धा मोहित से हो गये। सब लोग महावीर अर्जुन को शाबाश देने लगे। वे कदने लगे—अर्जुन के सिवा द्रोणाचार्य से और कौन युद्ध कर सकता है। हाय, क्षत्रिय-धर्म कैसा भयानक है। अर्जुन अपने ही गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध कर रहे हैं। ॥२०१२६॥

उपर महावीर द्रोण और अर्जुन दोनों परस्पर पास जाकर, कुपित होकर, तीक्ष्ण वाणों की वर्षा से एक दूसरे को टक देने की चेष्टा करने लगे। क्रोधित द्रोणाचार्य अपना विकट धनुष चढ़ाकर वाणों से

संधत्स्व त्वं कौरव पांडुपुत्रैर्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयंतु ।

सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेंद्र ॥ ७४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुराहितवाक्ये पद्मत्रिशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

दूरे के शत्रु और मित्र का अपना शत्रु और मित्र समझें और हिलमिलकर सब काम करें। इस ढङ्ग पर चलकर, सुखी और समृद्धिशाली होकर, आपके पुत्र जीवित रहें। हे महाराज! आप कौरवों के मुखिया हैं। कुरुवंश के सब लोग आपके अधीन हैं। हमलिये आप वनवास के कष्टों से पीड़ित बालक पाण्डवों को

आश्रय देकर अपने यशकी रक्षा कीजिए। हे कौरव! आप पाण्डवों से मित्रि कर लीजिए, शत्रुओं को अवसर न दीजिए। हे नरदेव! पाण्डव सत्य का आश्रय लिये हुए हैं। अब आप दुर्योधन को भी युद्ध से रोक करके शान्ति के मार्ग में लगाइए ॥७१॥७४॥

—०—

उद्योगपर्व का उत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

विदुर उवाच—सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।

त्रैचित्र्वीर्यं पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥

दानवेंद्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।

अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्यश्चातिवेलं भजते द्विपंतम् ।

स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते यश्चायाच्यं याचने कथ्यते वा । ३ ॥

यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं यश्चावलो बलिना नित्यवैरी ।

अश्रद्धानाय च यो ब्रवीति यश्चाकाम्यं कामयते नरेंद्र ॥ ४ ॥

वध्वाऽवहामं श्वशुरो मन्यते यो वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।

परक्षेत्रे निर्वपति यश्च वीजं स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥

संतीसवा अध्याय ॥ ३७ ॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र! स्वायंभुव मनु ने नीचे निम्ने मंत्रद सूत्रों का नमस्कार किया है; जो शासन न माननेवाले को या शासन के अयोग्य को उपदेश करना है, जो थोड़े लाभ में मनुष्टुट हो जाना है, जो अपनी कल्पना-कामना में मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले शत्रु को भजना है, जो स्त्रियों की रक्षा करता है (अर्थात् जो अपने मुझ के लिए शत्रु की सेवा करता है), जो अच्छे कुत्र में उत्स

होए अनुविन कार्य करता है, जो अयाच्य (जियमें याचना न करनी चाहिए ठम) में याचना करता है, जो अपनी प्रशंसा आप करता है, जो अश्रद्धा करनेवाले से अपना हाथ कटता है, जो दुर्वच होकर बलवान् में बर करता है, जो मयूर होकर बहू में दिव्यगी करता है, जो बहू और ममयी आदि की सहायता में मष्ट्ट में सूटकर फिर उदरी में अरता मान चाहता है, जो न चाहने

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशांपते ।
 शोणिताक्ता व्यदृश्यंत पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ५५ ॥
 वाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः ।
 सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
 योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थवाणप्रपीडितैः ।
 बलमासीत्ससुभ्रांतं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥
 विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने ।
 आच्छादयेतामन्योन्यं ततक्षतुरथेषुभिः ॥ ५८ ॥
 तयोः समभवद्युद्धं तुमुलं भरतर्षभ ।
 द्रोणकौंतेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥
 अथ पूर्णायतोऽस्तुष्टैः शरैः सन्नतपर्वाभिः ।
 व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणधूते प्रवर्तते ॥ ६० ॥
 अथाऽतारिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम् ।
 दुष्करं कृतवान्द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥
 प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम् ।
 जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥
 अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम् ।
 पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याऽभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

लह से तर होकर फूले हुए ढाक के पेड़ों के समान
 देख पड़े । द्रोण और अर्जुन के उस युद्ध में वीरों
 के विजायठ आदि गहनों से युक्त हाथ और अन्य
 अस्त्र, विचित्र रथ, सुवर्णमय कवच तथा ध्वजाएँ कट-
 कटकर गिर रही थीं । अर्जुन के वाणों से पीड़ित योद्धा
 लोग प्राणहीन होकर गिर रहे थे । यह देखकर सभ
 सेना के लोग घबराकर व्याकुल हो उठे ॥५३-५७॥

उस समय दोनों महावीर अपने-अपने धनुष
 को मण्डलाकार खींचकर वाणों के द्वारा प्राणपण से

एक दूसरे को घायल करने की, छा देने की, चेष्टा
 कर रहे थे । हे भारतश्रेष्ठ ! इस प्रकार राजा बलि
 और इन्द्र का सा वह द्रोण और अर्जुन का भयानक
 युद्ध हो रहा था । तब आकाशमार्ग में स्थित देवता
 द्रोण और अर्जुन की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—
 देवताओं और दानवों को परास्त करनेवाले, महावीर,
 दृढ़मुष्टि, दुर्द्धर्ष अर्जुन से युद्ध करके महावीर द्रोणा-
 चार्य बड़ा दुष्कर कर्म कर रहे हैं । वीरवर द्रोणाचार्य
 भी अर्जुन की सावधानी, अस्त्रविद्या की जानकारी,

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः प्रत्याह यथापि नियुज्यमानः ।

प्रज्ञाभिमाना प्रतिकूलवादी त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीवमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।

अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदंत्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।

न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥ २८ ॥

न निह्वं मंत्रगतस्य गच्छेत्संस्पृष्टमंत्रस्य कुसंगतस्य ।

न च त्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥ २९ ॥

वृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः पुत्रो भ्राता विधवा वालपुत्रा ।

सेनाजीवी चोद्भूतभूतिरेव व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्थुरेते ॥ ३० ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषे दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।

पराक्रमश्चावहुभाषिता च दानं यथा शक्तिकूनज्ञता च ॥ ३१ ॥

पतान्गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।

राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान्गुणानेष गुणो विभर्ति ॥ ३२ ॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।

स्पर्शश्च गंधश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥

सेवक आज्ञा देने पर ठम प्रभु की चान पर निरादर का भाव दिखाता है, या लचर देता है, अरने बुद्धिमान होने का आभिमान स्वता और प्रतिकूल वचन कहता है, ऐसे कर्मवारी को बहुत नापि अलग कर देना चाहिए ॥२५२६॥

अभिमान-अन्य, मर्दाना, शीघ्र काम करनेवाला, दयालु, दर्शनीय आकाशवाणी, लोगों के उभारने से न घुटनेवाला, आगेपि और उदा। पिय वचन बोलेवाला, इन आठ गुणों में मुक्त दूत प्रशंसनीय समझा जाता है । चतुर पुरुष को चाहिए कि विधाय करके माददान को अन्य के घर न जाय, शपि को छिन्न कर चपूने पर न रहे, राजा की

चहेती सी को न चाहे । बुरे मनुष्यों के साथ मित्रकर सम्मति करनेवाले की सम्मति में शरीक न हो । ऐसे मनुष्य से दूर ही न रहे कि में तुम पर विश्वास नहीं करता; बल्कि मुझे कुछ फान दे, मैं नशाना करके वहाँ से हट जाय । लज्जागीक, राजा, व्यभिचारिणी, रात्रगृह्य, पुत्र, माई, बंधवाही विधवा, सैनिक और त्रिमका ऐश्वर्य नष्ट हो गया है वह मनुष्य, इतनों में यन का व्यवहार न करना चाहिए ॥२७३३॥

प्रज्ञा, कुशलता, शास्त्र का ज्ञान, त्रिवेन्द्रियता, पराक्रम, मोहा शोचना, यथाशक्ति दान और शतज्ञता, इन आठ गुणों में मनुष्य का नेम और

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद्रणे ।
 किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ७४ ॥
 आवृत्य तु महाबाहुर्हतो द्रौणिस्ततो हयान् ।
 अंतरं प्रददौ-पार्थो द्रोणस्य व्यवसर्पितुम् ॥ ७५ ॥
 स तु लब्ध्वाऽंतरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः ।
 छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ॥ ७६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोत्रे द्रोणापयाने अष्टपंचाशततमोऽध्यायः ॥५८॥

बहुत प्रशंसा करने लगे । रथों के अधिपति आचार्य-
 पुत्र अश्वत्थामा भी अर्जुन के इस काम की मन ही
 मन प्रशंसा करने लगे । अब कुपित होकर वे अर्जुन
 के सामने आ गये । बहुत से रथों से अर्जुन की
 गति को रोककर वे बरसनेवाले मेघ की तरह अर्जुन

पर वाणों की वर्षा करने लगे । तब अर्जुन अश्वत्थामा
 की ओर फिर । उनकी गति रोकने में प्रवृत्त होकर
 अर्जुन ने द्रोणाचार्य को जाने का अवसर दे दिया ।
 ध्वजा और कवच फट जाने पर द्रोणाचार्य बड़े वेग
 से वहाँ से हट गये ॥७१॥७६॥

विराटपर्व का अष्टावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

अथ एकोनपष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे ।
 तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम् ।
 शरजालेन महता वर्षमाणामिवाऽबुदम ॥ १ ॥
 तयोर्देवासुरसमः सन्निपातो महानभूत् ।
 किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ॥ २ ॥
 न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वातिसमीरणः ।
 शरजालावृते व्योम्नि च्छायाभूते समंततः ॥ ३ ॥
 महान्श्चटचटाशब्दो योषयोर्हन्यमानयोः ।
 दह्यतामिव वेणूनामासीत्परपुरंजय ॥ ४ ॥

उनसठवां अध्याय ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके
 पश्चात् महावीर अश्वत्थामा वायु के समान वेग से
 अर्जुन की ओर चले । उनको प्रबल आंधी की तरह
 अपनी ओर आते देखकर अर्जुन भी उन पर लगा-

तार बाण चलाने लगे । अब इन्द्र और वृत्रासुर की
 तरह दोनों वीरों का घोर युद्ध होने लगा । उस समय
 सूर्य का तेज फौका पड़ गया । वायु का चलना एक-
 दम बन्द हो गया । आकाश में बाण ही बाण व्याप्त

स्त्रीषु राजसु सुर्षेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु	।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति	॥ ५७ ॥
प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जंतोश्चिकित्सकाः संति न चोपधानि	।
न होममंत्रा न च मंगलानि नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः	॥ ५८ ॥
सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत	।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः	॥ ५९ ॥
अग्निस्तेजो महल्लोके गूढास्तिष्ठति दारुषु	।
न चोपयुंक्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः	॥ ६० ॥
न एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते	।
तद्दारु च वनं चान्यग्निर्दहत्याशु तेजसा	॥ ६१ ॥
एवमेव कुले जाताः पात्रकोपमतेजसः	।
क्षमावंतो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शंरते	॥ ६२ ॥
लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पांडुसुता मताः	।
न लता वर्धते जालु महाद्रुममनाश्रिता	॥ ६३ ॥
वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय सिंहान्वने पांडवांस्तात विद्धि	।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत् सिंहा विनश्येयुर्ह ऋते वनेन	॥ ६४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते द्रव्योपर्वणि प्रजागरुपर्वणि विदुरवाक्यं सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

है उसमें वैर करके यह न मूल जाना चाहिए कि हम तो सबसे बहुत दूर पर हैं। कौन बुद्धिमान पुरुष स्त्री, राजा, सर्प, स्वाध्यायपाठ, प्रभु, शत्रु, भोग और जीवन पर विश्वास करेगा ॥५६॥५७॥

हे राजेन्द्र ! जिसको बुद्धि के वाणों की चोट लगी है उसे वैद्य, ओषधि, होम, मन्त्र, मन्त्रकार्य अथवा अथर्वणवेद में कहीं गई रोगनाशक जड़ी-बूटियाँ या सुमिद्ध प्रयोग, कोई भी अच्छा नहीं कर सकता। मनुष्य को सर्प, अग्नि, सिंह और जालि मारुई का अन्यादर नहीं करना चाहिए। ये चर्चे तेजस्वी होते हैं; पल भर में विनाश कर सकते हैं। जगत्

में अग्नि महातेजस्वी है और वह काठ के भीतर छिपी रहती है। जब तक कोई रगड़ता नहीं है तब तक वह शान्त रहती है ॥५८॥६०॥

किन्तु जब कोई मथकर हम अग्नि को प्रज्वलित करता है तब वह अपने तेज से हम लकड़ी को और साथ ही मोर वन को मर्म कर डालती है। हे राजेन्द्र ! लकड़ी में छिपी हुई अग्नि की तरह संकुल में उत्पन्न तेजस्वी पाण्डव भी इस समय शांत भाव से स्थित हैं। उन्हें छेड़कर प्रज्वलित करना ठीक नहीं। आप और आपके पुत्र लता के तुल्य हैं और पाण्डव लोग साखू के पेड़ के समान हैं।

शौररापीविपाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ॥ १३ ॥
 अक्षयाविपुधी दिव्यौ पांडवस्य महात्मनः ।
 तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १४ ॥
 अश्वत्थाम्नः पुनर्वाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे ।
 जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत्तेनाऽधिकोऽर्जुनः ॥ १५ ॥
 ततः कर्णो महाचापं विकृष्याऽभ्यधिकं तथा ।
 अवाक्षिपत्ततः शब्दो हाहाकारो महानभूर्त् ॥ १६ ॥
 ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः ।
 ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत ॥ १७ ॥
 स रोपवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया ।
 तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुंगवः ॥ १८ ॥
 तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकात् ।
 त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजन्हुः सहस्रशः ॥ १९ ॥
 उत्सृज्य च महाबाहुद्रोणपुत्रं धनंजयः ।
 अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित् ॥ २० ॥
 तत्तमभिदुत्य कौंतेयः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
 कामयन्द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे अर्जुनाश्वत्थामेयुद्धे एकोनपक्षितमोऽध्यायः ॥५९॥

को कौरव लोग आश्चर्य के साथ देखने लगे । अध-
 त्थामा अर्जुन को ताककर लगातार बाण बरसा रहे
 थे; इसलिए उनके तरकस शून्य हो गये; परन्तु
 महावीर अर्जुन के तरकस अक्षय थे, इसलिए वे शून्य
 नहीं हुए । इसी कारण युद्धचतुर अर्जुन पर्वत की
 तरह अटल भाव से युद्ध-भूमि में डटे रहे किन्तु
 अधत्थामा को हट जाना पड़ा ॥५९॥

अब अपने धनुष को चढ़ाकर वीर कर्ण फिर
 अर्जुन के सामने आया और लगातार भयङ्कर बाण
 बरसाने लगा । उस समय युद्ध-भूमि में घोर कोलाहल
 और हाहाकार सुन पड़ने लगा । वीर अर्जुन अपना

गाण्डीव धनुष चढ़ाकर इधर-उधर देख रहे थे; इसी
 समय कर्ण को युद्ध-भूमि में अपने आगे आते देख
 उनके हृदय में क्रोध की अग्नि प्रचण्ड रूप से भड़क
 उठी । क्रोध और बदला लेने की वृत्ति के वशीभूत
 अर्जुन आखें तोरेकर कर्ण की ओर देखने लगे ।
 इसी अवसर में कौरव-सेना के बहुत से सिपाही अध-
 त्थामा के हजारों बाणों को युद्ध भूमि से उठाकर
 उनके पास ले गये । इधर शत्रुदमन अर्जुन लाल-
 लाल आँखें करके द्वन्द्वयुद्ध की इच्छा से कर्ण की
 ओर बढ़े ॥१६।२१॥

स तेषां विपरिभ्रंशाद्भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥
 कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
 तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥
 अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
 एवमश्रुतपाद्गुणयो न मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥
 स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य पाद्गुण्यविदितात्मनः ।
 अनवजातशीलस्य स्वार्थीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥
 अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्वाऽन्ववेक्षिणः ।
 आत्मप्रत्ययकोशस्य स्वार्थीनेयं वसुंधरा ॥ २६ ॥
 नाममात्रेण तुष्येत च्छत्रेण च महीपतिः ।
 भृत्येभ्यो विसृजेदर्थानैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥
 ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
 अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥
 न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
 न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्वले सती ।
 अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥ २९ ॥

चाहता है । वह उन कामों के विगड़ने पर अपने
 जीवन से भी हाथ धो बैठता है । गले काम करने
 से ही सुख मिलता है । ऐसे काम न करने से मनुष्य
 को पछताना पड़ता है । जैसे वेद पढ़े बिना ब्राह्मण
 श्राद्ध का अधिकारी नहीं होता वैसे ही जो राजा
 सन्धि विप्रद-यान आसन द्वैधीभाव समावस्थान नाम
 के छ गुणों को नहीं जानता वह मन्त्र सुनने का
 अधिकारी नहीं होता । समता, वदती और क्षीणता
 को जाननेवाला, ऊपर निसे छ गुणों के प्रयोग में
 प्रवीण, और जिनके शीलम्बमान का पता शत्रुओं
 को नहीं लगता वह, राजा स्वार्थीन भाव से शासन
 करता है ॥२२।२५॥

जिसका क्रोध या प्रसन्नता निष्फल नहीं जाती,
 जो आप सन कामों को जानना और करता है, जो
 आत्मविश्वास रखता और कोप को अपने हाथ में
 लेता है उसे पृथ्वी अपार पेश्वर्य देती है । राजा को
 छत्र और कीर्ति से प्रसन्न रहना चाहिए । सेवकों
 को भोग घन-दान आदि से प्रसन्न करते रहना ही
 उचित है । अकेले ही सब हड़प करने की प्रवृत्ति
 अच्छी नहीं ॥२६।२७॥

ब्राह्मण को ब्राह्मण, स्त्री को पति, मन्त्री को
 राजा और राजा को भी राजा ही जानता है । वश
 में किये गये वध-योग्य शत्रु को कभी न छोड़ना
 चाहिए । जब तक आप निर्बल रहे तब तक प्रबल

कर्ण उवाच—ब्रवीषि वाचा यत्पार्थ कर्मणा तत्समाचर ।
 अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत्प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥
 यत्त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
 इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥
 धर्मपाशनिबद्धेन यत्त्वया मर्षितं पुरा ।
 तथैव बद्धमात्मानमवद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥
 यदि तावद्वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
 तत्त्वं धर्मार्थविक्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि ॥ १२ ॥
 यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात् ।
 तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद्विक्रमिष्यतः ॥ १३ ॥
 अयं कौंतेय कामस्ते न चिरात्समुपस्थितः ।
 योत्स्यसे हि मया सार्द्धमथ द्रक्ष्यसि मेवलम् ॥ १४ ॥
 अर्जुन उवाच—इदानीमेव तावत्त्वमपयातो रणान्मम ।
 तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव ॥ १५ ॥
 भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः ।
 त्वदन्यः कः पुमान्सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

बदला तुझे आज मिलेगा । हे दुराचारी ! कौरवपक्ष के योद्धा लोग आज तुम्हारे पराक्रम को देखें । आओ मुझसे युद्ध करो ॥१५८॥

कर्ण ने कहा—हे अर्जुन ! जो तुम मुँह से कह रहे हो उसे कर दिखाओ । तभी तुम्हारी बढा-दुरी है । सभी जानते हैं कि तुम ढोंग बहुत मारत हो । तुम्हारे इस जवानी पराक्रम को देखकर जान पड़ता है कि तुम जो पहले बैठे-बैठे द्रौपदी की दुर्दशा देखते रहे थे—कुछ कर नहीं सके थे—उसका कारण तुम्हारी असमर्थता ही थी । धर्मपाश में बंधे रहने के कारण पहले तुम जैसे अपनी शक्ति नहीं दिखा सके थे वैसे ही इस समय भी तुम मेरे सामने बंधे

हुए हो; मेरे आगे कुछ शक्ति नहीं प्रकट कर सकते । इस समय जो तुम अपने को बन्धन से मुक्त समझ रहे हो, सो यह तुम्हारी अल्पज्ञता है । प्रतिज्ञा के बन्धन में बन्धे रहने के कारण तुमने वनवास में जो बहुत से क्लेश सहें हैं उन्हीं का स्मरण करके तुम इस समय मुझसे युद्ध करने को तैयार हो । जो हो, हे अर्जुन ! इस समय स्वयं इन्द्र भी आकर तुम्हारी ओर से युद्ध करें तो भी मेरा बाण बांका नहीं कर सकते । हे अर्जुन ! शत्रु ही तुम्हारी युद्ध की साथ मिट जायगी । तुम आज युद्ध में मेरे बल और पराक्रम को देख लोगे ॥१५१४॥

अर्जुन ने कहा—हे सूतपुत्र ! तुम अभी-अभी

तस्य त्यागात्पुत्रशतस्य वृद्धिरस्यात्यागात्पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्वहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।

क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।

क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥ ७ ॥

समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे ।

धनवृद्धान्युणोर्हीनान्धृतराप्सू विवर्जय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—सर्वं त्वमायतीयुक्तं भापसे प्राप्तसम्मतम् ।

न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्तो जयः ॥ ९ ॥

विदुर उवाच—अतीवगुणसंपन्नो न जातु विनयान्वितः ।

सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।

परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥

सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।

अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥ १२ ॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।

कह दिया था कि आप एक दुर्योधन को त्याग दीजिए । उसके त्याग से अन्य सौ पुत्रों की वढ़ती होगी और उसका त्याग न करने से उन सौ पुत्रों का भी नाश हो जायगा । जिससे नाश की आशङ्का हो उस वृद्धि को अच्छा नहीं समझना चाहिए । जिस क्षय से वृद्धि की सम्भावना हो उस क्षय को अच्छा ही समझना चाहिए ॥५५६॥

क्योंकि जिसमें वृद्धि हो वड़ क्षय नहीं है, बल्कि जिस थोड़ी सी वृद्धि से बहुत का नाश हो वड़ वृद्धि ही क्षय है । कुछ लोगों में गुणों की अभिज्ञान होती है और कुछ लोग धन में मग्न होते हैं । हे राजेन्द्र ! जो धन में मग्न किन्तु

गुणों से हीन हैं उन्हें आप छोड़ दीजिए ॥७८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! तुम ये सब मेरे भले की, युक्तियुक्त बातें कह रहे हो; किन्तु मैं अपने पुत्र दुर्योधन का त्याग नहीं कर सकता । यह तो निश्चय है कि जिस पक्ष में धर्म होगा उसी की जय होगी ॥९॥

विदुर ने कहा—सब गुणों से अलङ्कृत विनयी पुरुष प्राणियों की थोड़ी भी भी हानि या कष्ट को नहीं देख सकता । दूसरों की निन्दा करने की प्रकृतिवाले लोग मदा औरों में विरोध उत्पन्न कराने और दूसरों को दुःख पहुँचाने का उद्योग किया करते हैं । पापियों का मुँह देखना दोष की बात

अथाऽपरेण वाणेन ज्वलितेन महौजसा ।
 विव्याध कर्णं कौंतेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान् ॥ २५ ॥
 तस्य भित्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः ।
 ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किञ्चित्प्रजज्ञिवान् ॥ २६ ॥
 स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायाद्दुदङ्मुखः ।
 ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः ॥ २७ ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमूढे कर्णापयाने पठित्तमोऽध्याय ॥ ६० ॥

वाणों से बहुतों को मार गिराया ॥२१२३॥

फिर कान तक धनुष खींचकर वाण चलाकर उन्हें नि कर्ण के घोड़ों को भायल कर डाला । घोड़े उसी समय मरकर गिर पड़े । अब महातिजस्वी अर्जुन ने एक अभि के समान प्रज्वलित तीक्ष्ण वाण कर्ण की छाती में ताककर मारा । वह वाण कवच को

तोड़कर कर्ण के हृदय में छिद गया । इससे मूर्च्छित होकर कर्ण पृथ्वी पर गिर पड़ा । वह एकदम बेहोश हो गया । कुछ देर के पश्चात् कर्ण को होश आया । बड़े दर्द के मोरे वह युद्ध-भूमि छोड़कर उत्तर की ओर भागा । यह देखकर महावीर अर्जुन और उत्तर, दोनों जोर से हँसने लगे ॥२४२७॥

विराटपर्व का साठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

अथ एकपठित्तमोऽध्याय ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो वैकर्त्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
 एतन्मां प्रापयाऽनीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥
 अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः ।
 कांक्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥
 अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम् ।
 अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥

इकसठवा अध्याय ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब कर्ण को हराकर अर्जुन ने उत्तर से कहा—हे राज कुमार ! वह देखो जिस जगह पर सुवर्णमय तालवृक्ष के चिह्न से युक्त ध्वजावाले रथ पर हमारे पितामह, देवतुल्य, भीष्मजी मुझसे युद्ध करने के लिए खड़े हैं उस जगह तुम मुझे ले चलो । वाणों की चोट से

उत्तर कुमार घायल हो रहा था । हाथी घोड़े-रथ आदि से भरी हुई उस सेना को देखकर वह भयभीत होकर कहने लगा—हे वीर ! मैं इस समय आपके रथ के घोड़ों की रास सँभालने में असमर्थ हो रहा हूँ । मेरा शरीर सुस्त और चित्त विह्वलसा हो रहा है । आपके और कौरव पक्ष के वीरों के अक्षशस्त्रों के

अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः	।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसंभवम्	॥ ३८ ॥
दुष्टामात्येषु विश्रंभं दूताच्चाकुशलादपि	।
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप	॥ ३९ ॥
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति	।
न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा	॥ ४० ॥
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ वृहस्पतिसमैरपि	।
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति	॥ ४१ ॥
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनाग्निकम्	।
मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या संपाद्य चासकृत्	॥ ४२ ॥
श्रुत्वा दृष्ट्वाऽथ विज्ञाय प्राज्ञैर्भैत्रीं समाचरेत्	।
अकीर्तिं विनयो हंति हंत्यनर्थं पराक्रमः	॥ ४३ ॥
हंति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हंत्यलक्षणम्	।
परिच्छेदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया	॥ ४४ ॥
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च	।
उपास्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न गिद्यते	॥ ४५ ॥
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः	।
प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम्	॥ ४६ ॥

नरक में गिरता है। चित्त का विकार, शत्रु के गुप्त-चर आदि से बेलवरी, सुवर्ण, अपने हृदय के भाव को न छिपा सकना, दुष्ट मंत्रियों पर विश्वास और मूर्ख दूत पर विश्वास, ये छ' बातें मंत्र फूटने के द्वार हैं जो पुरुष मन्त्रभेद के इन द्वारों को जानकर और बन्द रखकर धर्म-अर्थ-काम के कर्म करता है, वही शत्रुओं को हरा सकता है। वृहस्पति के समान मनुष्य भी बिना शास्त्र पढ़े और बिना श्रद्धा की सेवा किये धर्मार्थ के तत्व को नहीं जान सकता ॥३६॥४०॥

समुद्र में गिरी हुई वस्तु, न सुननेवाले से कही

गई बात, अज्ञितेन्द्रिय का शास्त्र पढ़ना और रास्ते में डाली गई आहुति व्यर्थ है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि विचार से जाँचकर, बुद्धि से निश्चय कर, देख-सुनकर और जानकर फिर बुद्धिमान् ज्ञानियों से मित्रता करे। विनय से अकीर्ति, पराक्रम से अनर्थ, क्षमा से क्रोध और सदाचार से अलक्षण दूर होते हैं। हे राजेन्द्र! पढ़नासे और खान-पान से, जन्मस्थान से, निवामगृह से और आचार से मनुष्य का कुल बना जाता है। कामासक्त पुरुष की कौन कहे, अविमुक्त पुरुष भी कामना को रोकने

अवसीदंति मे प्राणा भूरियं चलतीव च ।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयंतुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच—मा भैषीः स्तंभयाऽऽत्मानं त्वयाऽपि नरपुंगव ।

अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते ।

जातस्त्वं शत्रुदमने नाऽवसीदितुमर्हसि ॥ १४ ॥

धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम ।

युध्यमानस्य समरे हयान्संयच्छ शत्रुहन् ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः ।

अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

सेनायमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम् ।

आच्छेत्स्याभ्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाऽऽहवे ॥ १७ ॥

अस्यंतं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमथ निशामय ।

शतहृदामिवाऽऽद्यांतीं स्तनयित्त्नोरिवांऽवरे ॥ १८ ॥

सुवर्णपृष्ठं गांडीवं द्रक्ष्यंति कुरवो मम ।

दक्षिणेनाऽथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ॥ १९ ॥

इति मां संगताः सर्वे तर्कयिष्यंति शत्रवः ।

शोणितोदां रथावत्तां नागनकां दुरत्ययाम् ।

सारी पृथ्वी कोपती सौ जान पड़ती है । इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं घोड़ों की रास सँभालूँ, और चाबुक मारकर उन्हें हाँकूँ ॥१११२॥

अर्जुन ने कहा—हे नरश्रेष्ठ । तुम भयभीत होओ नहीं । तुम सुप्रसिद्ध मत्स्यराज के वंश में उत्पन्न हुए हो । तुमने युद्ध-भूमि में बड़े-बड़े अद्भुत कार्य किये हैं । इस समय क्यों तुम इस तरह सुस्त होकर जी छोड़े देते हो ? हिम्मत बांधकर घोड़ों की रास पकड़ो और तुम्हारे रथ को पितामह भीष्म के पास ले चलो । मैं युद्ध में कौशल और कुतर्क के साथ

उन्के धनुष की डोरी काट डालूँगा । जैसे मेघमण्डल से बिजली निकलती है वैसे ही आज समर में मेरे धनुष से दिव्य अस्त्र प्रकट होंगे । मेरे इस सुवर्णमण्डित गाण्डीव धनुष को देखकर और इसके दक्षिण पार्श्व से बाण चरस रहे हों या वाम पार्श्व से, यह जानने में असमर्थ होकर आज कौरव लोग मन ही मन अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करेंगे । आज मैं शत्रु-सेना-रूपी भगवानक नदी में घुसकर उसे मथ डालूँगा । वह नदी परलोक को जाती है । शत्रुओं के रथ उसमें आवर्त (भयर) के समान हैं । हाथी उसमें प्राद के

तपोबलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
 हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७० ॥
 अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि अपो मूलं फलं पयः ॥ ७१ ॥
 हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौपधम् ।
 न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ॥ ७२ ॥
 संग्रहेणैव धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्धते ।
 अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ॥ ७३ ॥
 जयेत्क्रुदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम् ।
 स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चंडे पुरुषमानिनि ॥ ७४ ॥
 चौरै कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ।
 आभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ॥ ७५ ॥
 चत्वारि संप्रवर्धते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ।
 अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ॥ ७६ ॥
 अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ।
 अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ॥ ७७ ॥
 निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राज्यमराजकम् ।

उन कर्मों का फल नहीं मिलता । घन के अन्याय से उपार्जित होने के कारण वे कर्म निष्फल होते हैं । जो लोग अस्वच्छ और धीरे हैं उन्हें जल्लों में, दुर्गम स्थानों में, कठिन आपत्तियों में, व्याकुलता के अवसरों पर और तंत्र हुए शत्रुओं के बीच, कहीं भी भय नहीं है । उद्योग, मेध, निपुणता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और देख-भालकर काम करना, ये बातें अशुभकर्मों का जड़ हैं ॥६६।७०॥

तपस्वियों का बल तप है, ब्रह्मज्ञानियों का बल ब्रह्मज्ञान है, दुर्गमों का बल हिमा है और गुणी लोगों का बल क्षमा है । जल, बन्द-मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मण की इच्छा, गुरु के वचन और

औपध, इन आठ से व्रतभङ्ग नहीं होता । जो अपने लिए अच्छा न जान पड़े वह दूसरे के साथ भी न करना चाहिए । लोगों के अनुकूल रहना ही परम धर्म है । और धर्म भी प्रयोजन के अनुसार किये जाते हैं पर मुख्य धर्म लोकसंग्रह ही है । शान्ति के क्रोध को, अच्छे व्यवहार से दुष्ट को, दान से कृपण को और सत्य में मिथ्या को जीतना चाहिये । स्त्री, धूर्त, आत्मी, कायर, क्रोधी, पुरुषाभिमानी, चौर, हनन और नाशिक के ऊपर विद्वान न करना चाहिए ॥७१।७५॥

जो मर्कों नम्रता के साथ प्रणाम करता है और मदा वृद्धों के पास रहता है उसकी कीर्ति,

वनमादीपयिष्यामि कुरूणामद्वतेजसा ॥ २९ ॥
 तानहं रथनीडेभ्यः शरैः सन्नतपर्वाभिः ।
 यत्तान्सर्वानतिवलान्योत्स्यमानानवास्थितान् ।
 एकः संकलयिष्यामि वज्रपाणिरिवाऽसुरान् ॥ ३० ॥
 रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि ।
 अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः ।
 वज्रादीनि तथाऽस्त्राणि शकादहमवासवान् ॥ ३१ ॥
 धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम् ।
 अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना ।
 व्यवगाहद्रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥
 तमायांतं महाबाहुं जिगीषंतं रणे कुरून् ।
 अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥
 तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत् ।
 विकृष्य कलधौताग्नेः स विद्धः प्रापतद्भुवि ॥ ३५ ॥
 तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः ।
 आगच्छन्भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
 दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः ।
 आगत्य भीमधन्वानं वीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

समुद्र पार के रहनेवाले साठ हजार हिरण्यपुरवासियों को जीतने में समर्थ हूँ। आज देख लेना कि मैं कुरुकुल का नाश कर दूँगा। मैं अकेला ही अस्त्ररूप अग्नि से उस कौरव-वन को जला दूँगा जिसमें ध्वजाएं ही वृक्ष हैं, पैदल योद्धा ही घास-फूस है और रथ ही सिंह हैं। हे उत्तर! तुम तनिक भी न भयभीत होओ। आज मैं पुरुपसिंह महाराथियों से रक्षित कौरव-वन को जड़ से उखाड़ डालूँगा ॥२५॥३२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महा-

धीर अर्जुन के यों सान्त्वना देने पर राजकुमार उत्तर, संभलकर, भीष्म पितामह के बाहु-बल से सुरक्षित कौरव-सेना के भीतर अर्जुन के रथ को ले चला। विकट युद्ध करनेवाले भीष्म ने जब देखा कि महाबाहु अर्जुन कौरवों को जीतने के लिए उन्हीं की ओर आ रहे हैं। तब वे उनकी राह रोककर सामने खड़े हो गये। अर्जुन ने उनकी ओर फिरकर वही समय उनके रथ की ध्वजा का दण्ड काट डाला ॥३३॥३५॥

इसी बीच में दुःशासन, विकर्ण, दुःमद और

महाबलान्पश्य महानुभावान् प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णां ।
 राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान् गतान्नरेन्द्रान् वशमंतकस्य ॥ १४ ॥
 मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उरिक्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरंति ।
 तं मुक्तकेशाः करुणं रुदंति चित्तामध्ये काष्ठमिव क्षिपंति ॥ १५ ॥
 अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
 द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥
 उत्सृज्य विनिवर्तते ज्ञातयो सुहृदः सुताः ।
 अपुष्पान्फलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥
 अशौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम् ।
 तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥
 अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो महत्तमस्तिष्ठति ह्यंधकारम् ।
 तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां बुद्ध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥
 इदं वचः शक्यसि चेद्यथावन्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
 यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

यहाँ तक कि प्राण देकर भी धर्म का पालन करना
 चाहिए । धर्म नित्य है, सुख और दुःख अनित्य
 है । ऐसे ही जीव नित्य है, शरीर अनित्य है ।
 आप अनित्य को छोड़कर नित्य की रक्षा कीजिए ।
 सन्तोष कीजिए; सन्तोष ही सज्जनों का लक्षण है
 ॥१९२१२३॥

देखिए, बड़े-बड़े महानुभाव बली राजा इस
 पृथ्वी पर हो गये हैं । वे धन-धान्य-पूर्ण पृथ्वी पर
 राज्य करके अन्त को राज्य और भोग यहाँ छोड़ मृत्यु
 के मुँह में चले गये । हे राजेन्द्र ! बड़े बड़े दुःख
 सहकर पाला गया पुत्र जब मर जाता है तब मनुष्य
 उसे घर से बाहर निकालकर दग्धान्न भूमि में पहुँचा देते
 हैं, यही भर घर में नहीं रहने देते । उसके पश्चात्
 बाल बिल्वे, करुण स्वर से विन्यास करते हुए लोग
 चिता के ऊपर उसी भिय पुत्र का शरीर लकड़ी की

तरह रखकर जला देते हैं । मेरे हुए मनुष्य के धन
 को दूसरा ही भोगता है । उसके शरीर की धातुओं
 (मांस आदि) को या तो पक्षी खा जाते हैं या
 अग्नि जला देती है । उसके साथ परलोक तक केवल
 पाप या पुण्य जाता है । हे महाराज ! बिना फूल-फल
 के वृक्ष को जैसे पक्षी छोड़ जाते हैं वैसे ही मृत्यु को
 उसके जातिवाले, पुत्र और मित्र दग्धान्न भूमि में
 छोड़कर लौट जाते हैं । चिता पर चढ़ाकर अग्नि में
 जलाये गये पुरुष के साथ उसका किया हुआ कर्म
 ही जाता है । इसलिए मनुष्य को यत्न के साथ
 धीरे-धीरे धर्म का उपार्जन करना चाहिए । इस
 लोक से ऊपर स्वर्ग में और इस लोक के नीचे
 इन्द्रियों को महामोह में डालनेवाला अंधेरा है ।
 आप उससे बचे रहिए । वह आप को छू न सके ।
 मेरी इस बात को सुनकर यदि आप इसी के अनुसार

उसी समय उन्हें दूसरे रथों पर बिठाकर वहां से दटा ले गये । अब विजयी, अचूक निशानेबाज़ अर्जुन [शत्रुओं के हृदयों में भय का सञ्चार उत्पन्न करते हुए] युद्ध-भूमि में विचरने लगे ॥४१॥४६॥
विराटपर्व का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

अथ द्विपण्डितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १ ॥
स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान्महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥
नदङ्गिश्च महानागैर्ह्येपमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशंखनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥
नराश्वकायान्निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥
स्वरमाणः शरानस्यन्पांडवः प्रवभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्मान्शरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥
उपप्लवंति चित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाऽश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥
शरैः संल्लिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

बासठवा अध्याय ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब कौरवपक्ष के सब महारथी मिलकर अर्जुन पर वाणों की वर्षा करने लगे । महावीर अर्जुन ने भी, कुड़े से ढके हुए पर्वत की तरह, अपने वाणों से उन महारथियों को छा दिया । हाथियों की चिंगमाड़, घोड़ों का दिनदिनाना, नगाड़ों और शहूँ का शब्द, इन सब शब्दों के एकत्र होने से युद्ध-भूमि में विकट कोलाहल होने लगा । अर्जुन के विकट वाण हाथियों, घोड़ों और वीरों के कवचों को काटते हुए नज

आते थे । जैसे शरद् ऋतु के स्वच्छ नीले आकाश में दोपहर के समय सूर्यदेव अपनी तीक्ष्ण किरणों फैलाते देख पड़ते हैं, वैसे ही महातेजस्वी वीर अर्जुन युद्ध-भूमि में लगातार असंख्य वाण बरसा रहे थे । १।५। तब रथी रथों पर से और सवार घोड़ों पर से कूट-कूटकर भय के मारे जान लेकर भागने लगे । पैदल योद्धा भी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे । अर्जुन के तीक्ष्ण वाणों से वीरों के ताने, चादी और लोहे के कवच कट-कटकर पृथ्वी पर गिर रहे थे ।

यं श्रुत्वाऽयं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
 लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरांतकौ ॥ ११ ॥
 विपहेरन्भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ ।
 अरतिश्चैव तंद्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातीयपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

महाराज घृतराष्ट्र के मन में एक ऐसा संशय है जिसका समाधान मैं नहीं कर सकता । कृपा कर आप उसका समाधान कर दीजिए । जिसे सुनकर ये महाराज लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-

असहिष्णुता, मूल-प्यास, मोह-मद से उत्पन्न अरुचि-आलस्य, काम-क्रोध, क्षय-अभ्युदय आदि के हाथ से और सब दुःखों से छुटकारा पा जायँ वही इन्हें सुनाइए ॥ ८१२ ॥

उद्योगपर्व का इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो राजा घृतराष्ट्रो मनीषी संपूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
 सनत्सुजातं रहिते महात्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां वुभूषन् ॥ १ ॥
 घृतराष्ट्र उवाच—सनत्सुजात यदिदं शृणोमि न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम् ।
 देवासुरा ह्याचरन्ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत्कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥
 सनत्सुजात उवाच—अपृच्छः कर्मणा यच्च मृत्युर्नास्तीति चापरम् ।
 शृणु मे द्रुवतो राजन्यथैतन्माऽविशंकिथाः ॥ ३ ॥
 उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि सोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम् ।
 प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

बयालीसवाँ अध्याय ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब राजा घृतराष्ट्र ने विदुर के कथन का समर्थन करके, श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से, एकान्त में सनत्सुजात से, कहा—हे भगवन् ! आपका उपदेश है कि मृत्यु तो कोई वस्तु ही नहीं । किन्तु देवताओं और असुरों ने मृत्यु का भय मिटाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का आश्रय लिया है । इन दोनों बातों में कौन सी बात ठीक है ? आप कृपा करके मेरा

यह संदेह मिटाइए ॥ ११२ ॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु तो है, पर कर्म से उसका भय मिटाया जा सकता है । पर कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु है ही नहीं । ये दोनों पक्ष सत्य हैं । इस बारे में आप शक्य न कीजिए । मैं यह मृत्यु का रहस्य कहता हूँ, सुनिए । हे राजेन्द्र ! पण्डितों ने मोह को ही मृत्यु माना है । मैं प्रमाद को मृत्यु

अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्त्तत भारत ॥ १६ ॥
 प्रावर्त्तयन्नर्दीं घोरां शोणितोदां तरंगिणीम् ।
 अस्थिशैवालसंवाधां युगांते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥
 शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम् ।
 तनुत्रोष्णीपसंवाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥
 भेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम् ।
 रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥
 तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम् ।
 मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥
 शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
 महारथमहाद्वीपां शंखदुटुंभिनिःस्वनाम् ।
 चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥
 आददानस्य हि शरान्संधाय च विमुंचतः ।
 विकर्षतश्च गांडीवं न कश्चिद्दृष्टो जनः ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विपटितमोऽध्यायः ॥६२॥

लगे ॥११।१४॥

अर्जुन के क्रोध की अग्नि शत्रुपक्ष की सेना को मस्म कर रही थी। धनुष धारण करनेवाले योद्धा लोग अर्जुन के बाणों की अग्नि में अपने सिपाहियों को स्वाहा होते देख दुर्योधन के सामने ही सुस्त हो गये। विजयी महावीर अर्जुन ने युद्ध-भूमि में कौरवपक्ष की सेना को व्याकुल करके महारथियों को युद्ध से भगा दिया। शत्रुसेना का संहार करके अर्जुन ने युद्ध-भूमि में रक्त की दुस्तर नदी बहा दी। कवच-पगड़ी आदि सामान उसमें बहा जा रहा था। कुचे, गिदड़, गिद्ध, कौए आदि मांसमोजी पशु-पक्षी शब्द करते हुए उस नदी के पास घूम रहे थे। ऐसा अन

पड़ता था कि [बृह प्रलयकाल की नदी है।] उसमें हाडियां सेवार की जगह, धनुष डोंगियों की जगह, मोतियों की मालाएँ भयङ्कर लहरों की जगह, केश घास की जगह, गहने बुलबुलों की जगह, हाथी कछुओं तथा पड़ियालों की जगह, तीक्ष्ण धारवाले शस्त्र माटों की जगह, बाण भेदकों की जगह और रथ टापुओं की जगह हैं। शस्त्र और नगादों का शब्द ही इस नदी का शब्द था। उस समय किसी को यह न जान पड़ता था कि महावीर अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब धनुष पर चढ़ाते हैं, कब गण्डीय धनुष खींचते और कब बाण छोड़ते हैं ॥१५।२२॥

विराटपर्व का वासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

गत्वोभयं कर्मणा युज्यते स्थिरं शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणः ।

धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो वलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान्।

तेषां क्रमान्कथय ततोऽपि चान्यत्रैतद्विद्वन्वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

सनत्सुज्ञान उवाच—येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव ।

ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोक प्रकाशकाः ॥ २७ ॥

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।

ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यांति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः ।

नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २९ ॥

यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोलपम् ।

अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।

अतिरिक्तमिवाकुर्वन्स श्रेयान्नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

दोनों तरह के कर्मों से, मोक्ष प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष सन्यास के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करता है और देहाभिमानी पुरुष उपासना के प्रभाव से पुण्य को प्राप्त होता है। कर्मासक्त पुरुष कर्म करने के कारण पाप और पुण्य दोनों के अस्थायी फल को पाकर फिर कर्म में ही प्रवृत्त होता है। किन्तु विद्वान् पुरुष धर्म के बल से पाप को परास्त करके सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥२३।२५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन् ! वेद के कथन के अनुसार द्विज लोग पुण्य करके जिन सनातन लोकों को पाते हैं उनकी उचरोत्तर श्रेष्ठता का वर्णन कीजिए। निर्मल आनन्दस्वरूप मोक्ष-सुख का भी ठीक-ठीक रूप बताने की कृपा कीजिए ॥२६॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! जो लोग यम-नियम आदि को विशेष स्पर्धा के साथ पालते

हैं वे निर्गुण ब्रह्मवादी पुरुष शरीर त्यागने पर ब्रह्मलोक में जाते हैं। जो लोग यज्ञ आदि कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं वे उसी के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके अन्त को देवलोक में विराजमान होते हैं। अपने को वैदिक माननेवाले मनुष्य यद्यपि इस प्रकार के धर्मानुष्ठान से किसी फल की इच्छा नहीं करते तथापि वे उसकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध करते हैं। किन्तु जैसे अन्तर्दृष्टि से रहित बहिर्मुख लोगों की बात पर सोलहों गाने विश्वास करना ठीक नहीं। जो स्थान, वर्षाकाल में निकले हुए घास-फूस आदि की तरह, सन्यासियों के उपयुक्त खाने पीने की सामग्री से परिपूर्ण हो बर्बाद कर जीवन व्यतीत करना चाहिए। धृतिहीन व्यक्ति को सताना या आत्मा को मूल-प्यास का क्लेश देना उचित नहीं ॥२७।३०॥

जहां अपनी महिमा प्रकट न करने से अनिष्ट

यथा बलाहके विद्युत्पावको वा शिलोच्चये ।
 तथा गांडीवमभवदिन्द्रायुधमिवाऽऽनतम् ॥ १० ॥
 यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद्विभ्राजते दिवि ।
 द्योतयंती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समंततः ॥ ११ ॥
 तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गांडीवमावृणोत् ।
 नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥
 सर्वे शांतिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरै ।
 संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ॥ १३ ॥
 एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ ।
 व्यद्रवंति दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिपटितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैसा ही लगता था जैसे मेघों में बिजली, पर्वत पर
 जग्गि अथवा आकाश में इन्द्रधनुष हो ॥४१०॥
 वर्षा ऋतु में जैसे मेघों में प्रकट होकर बिजली
 सब दिशाओं को और पृथ्वी को प्रकाशित कर देती
 है, वैसे ही अर्जुन के हाथ में शोभित गाण्डीव धनुष
 ने युद्ध-भूमि को प्रकाशित कर दिया । यह दृश्य

देखकर कौरवपक्ष के हाथी-घोड़े आदि बाहन और
 रथों पर बैठे हुए वीर मोहित से हो गये । योद्धा
 लोग विह्वल हो उठे । उनके हाथों से धनुष गिर पड़े ।
 अनेक सैनिक किङ्कर्तव्यविमूढ़ से होकर युद्ध से भाग
 गये । तब जीवन से निराश योद्धा लोग भय के मारे
 युद्ध-भूमि छोड़कर इधर-उधर भागने लगे ॥१११४॥

विराटपर्व का त्रेसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

अथ चतुःपटितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शांतनवो भीष्मो भारतानां पितामहः ।
 वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत् ॥ १ ॥
 प्रशुह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिकृतम् ।
 शरानादाय तीक्ष्णाग्रान्मर्मभेदान्प्रमाथिनः ॥ २ ॥

चौसठवां अध्याय ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अपने
 पक्ष के वीरों को विनिष्ट और युद्ध से भागते देखकर
 भरतकुल के पितामह महावीर भीष्म बड़े वेग से

अर्जुन का सामना करने को उनके आगे आये ।
 पितामह का धनुष टूट और लज्जल था । उनके
 बाण भी मर्मस्थल पर चोट पहुंचानेवाले और पने थे ।

घृतराष्ट्र उवाच—न चेद्वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।

अथ कस्मात्प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

सनत्सुजात उवाच—तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ।

निर्दिश्य सम्यक्प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्वैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।

पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चाऽऽत्मानमुपैति विद्वानथाऽन्यथा वर्गफलानुकांक्षी ।

अस्मिन्कृतं तत्परिग्रहं सर्वममुत्र भुंक्ते पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।

ब्राह्मणानामिमे लोका धात्वे तपसि तिष्ठताम् । १० ॥

घृतराष्ट्र उवाच—कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।

सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद्वयम् ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच—निष्कलमयं तपस्त्वेतत्केवलं परिचक्षते ।

एतत्समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

घृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! यदि स्वाभाविक धर्म (शम, दम इत्यादि) का पालन किये बिना वेद विदों की सहायता से होनेवाले यज्ञ आदि) मूढ़ पुरुष को पापों से बचा नहीं सकते तो फिर ब्राह्मणों के माहात्म्य को सूचित करनेवाले “सर्व देवता वेदज्ञ ब्राह्मण के शरीर में रहते हैं; इत्यादि” वाक्य क्या प्रलापमात्र हैं? ॥६॥

सनत्सुजात ने कहा—हे घृतराष्ट्र ! यह जगत् उसी परमात्मा के नाम आदि विशेष रूपों से प्रकाशमान हो रहा है। वेद में भी कहा गया है कि यह विश्व ब्रह्म से मिल है। ब्रह्म की प्राप्ति का साधन तप और यज्ञ का अनुष्ठान कहा गया है। विद्वान् व्यक्ति इन दोनों साधनों की सहायता से पुण्य प्राप्त करते हैं। पीछे उस पुण्य के बल से सब पाप मिट जाने पर विद्वानों का आत्मा ज्ञान के प्रभाव से प्रकाशित

हो जाता है। इसके पश्चात् उन्हें ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हुए बिना मनुष्य विषयवासना के बश होकर इस लोक में किये गये पाप-पुण्य का फल परलोक में भोगता है और फिर उसे इसी लोक में आना पड़ता है। इस लोक में जो तप किया जाता है उसका फल परलोक में भोगने को मिलता है। किन्तु अवश्य-कर्तव्य तप करनेवाले ब्राह्मण इसी लोक में उसका फल भोगते हैं ॥७१०॥

घृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! एक ही तप ‘समृद्ध’ और ‘असमृद्ध’ भेद से दो प्रकार का कैसे होता है ? यह आप मुझसे कहिए, जिससे मुझे इस विषय का ज्ञान प्राप्त हो ॥१२॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! फल-प्राप्ति की इच्छा और अश्रद्धा आदि दोषों से रहित तप

तयोस्तदभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
 भीष्मेण सह पार्थेन वलिवासवयोरिव ॥ १२ ॥
 प्रैक्षंत कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः ।
 भह्लैर्भह्लाः समागम्य भीष्मपांडवयोर्युधि ।
 अंतरिक्षे व्यराजंत खद्योताः प्रावृषीव हि ॥ १३ ॥
 अग्निचक्रमिवाऽविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः ।
 गांडीवमभवद्राजन्पार्थस्य सृजत शरान् ॥ १४ ॥
 ततः सञ्छादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः ।
 पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ १५ ॥
 तां स वेलामिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
 व्यधमत्सायकैर्भीष्मः पांडवं समवारयत् ॥ १६ ॥
 ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः ।
 समरे च व्यशीर्यत फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥ १७ ॥
 ततः कनकपुंखानां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
 पांडवस्य रथानूर्णं शलभानामिवाऽऽयतिम् ।
 व्यधमत्तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ॥ १८ ॥
 ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाऽब्रुवन् ।
 दुष्करं कृतवान्भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ॥ १९ ॥
 वलवांस्तस्मिन् दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः ।

या बैसा ही घोर युद्ध अर्जुन और भीष्म से होने
 लगा । कौरवपक्ष के योद्धा और भैरव, चक्रित से
 होकर, दोनों श्रेष्ठ वीरों का सप्राम देखने लगे। दोनों
 वीरों के चलाये हुए मल वाण आकाश में जाकर,
 वर्षाकाल में जुगनुओं के समान, मालूम होते थे ।
 महावीर अर्जुन वाण चढ़ाते समय फुर्ती के साथ
 कभी बायें हाथ में कभी दाहिने हाथ में गाण्डीव धनुष
 ले लेते थे, इससे वह धनुष अग्निचक्र के समान जान
 पड़ता था । बादल जैसे वूँदों से पर्वत को पाट देते

हैं जैसे ही महावीर अर्जुन ने असह्य वाणों से भीष्म
 को छिपा दिया। युद्धचतुर भीष्म ने दम भर में अर्जुन
 के असह्य वाणों के जाल को काट डाला। ११।१६।
 कट जाने से उन वाणों का, उनके रथ के पास,
 डेर लग गया। अपने रथ पर बैठे हुए अर्जुन फिर
 भीष्म पर वाण बरसाने लगे। अर्जुन के सुवर्णपुद्ग
 शोभित असह्य वाण टीढ़ीदल की तरह भीष्म पिता-
 मह की ओर चल पड़े। महाबाहु भीष्म ने फिर भी
 अपने पैने वाणों से उन वाणों को व्यर्थ कर दिया।

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान्दोषान्परिवर्जयेत् ।
 तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाऽप्यप्रगुणो मतः ॥ ३५ ॥
 अग्नौ दोषाः प्रमादस्य तान्दोषान्परिवर्जयेत् ।
 इंद्रियेभ्यश्च पंचभ्यो मनसश्चैव भारत ।
 अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥
 सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
 तांस्तु सत्यसुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥
 निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाऽऽचरेत् ।
 एतद्वातुकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
 दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः ।
 एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
 यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संश्लेषात्प्रब्रवीमि ते ।
 एतत्पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥
 घृतराष्ट्र उवाच—आख्यानपंचमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
 तथा चाऽन्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥
 द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाऽप्यनृचश्च तथा परे ।
 तेषां तु कतरः स स्याद्यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

सञ्चयन कराना ये अप्रमाद से रक्षण हैं ॥३१॥३४॥

हे घृतराष्ट्र! ये सब दोष मद से उत्पन्न हैं। इनमे बचना चाहिए। प्रमाद के भी आठ उपाधि-स्थान हैं। उनसे भी बचा रहे। पाँच इंद्रियों, मन और व्यतीत हुए-हुए तथा आनेवाले दुःख, इनमे आठ प्रकार का प्रमाद उत्पन्न होता है। प्रमाद मे बचनेवाला सुखी होता है। सदा मत्सनिष्ठ रहना चाहिए। सब लोक और अमृत (ब्रह्म) मत्स्य में ही स्थित है। इभी से पण्डित लोग सत्य को दम, त्याग और अप्रमाद का मुखिया कहते हैं। विधाता का बनाया नियम यही है कि सब दोषों के मिटने और गुणों के आने

पर ही तप और व्रत मम्पन्न होते हैं। इसलिये सत्य ही साधुओं का व्रत है। उक्त दोषों को छोड़कर गुणी बनने मे परम ममृद्ध तप सिद्ध होता है, जिनमे अन्त को मुक्ति मिलती है। हे राजेन्द्र! तुमने जो पूछा था वह सब पापों को मिटानेवाला और जन्म-जरा-मृत्यु से बचानेवाला यह पवित्र प्रश्न मैंने सुना दिया ॥३५४०॥

घृतराष्ट्र ने कहा—हे मगवन्! मय वेद और इतिहास परमात्मा को चगचर रूप बताते हैं। कोई चार वेद, कोई तीन वेद, कोई दो वेद, कोई एक वेद पढ़नेवाले और कोई एक मात्र ब्रह्मपति पादक अर्द्धत

शरांश्च सुबहून्क्रुद्धो मुमोचाऽऽशु धनंजये ॥ २८ ॥
 अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान्भीष्माय निशितान्वहून् ।
 चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पांडवे ॥ २९ ॥
 तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्शरान् ।
 न विशेषस्तदा राजंल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः ॥ ३० ॥
 अथाऽऽवृणोद्दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
 किरीटमाली कौंतेयः शूरः शांतनवस्तथा ॥ ३१ ॥
 अतीव पांडवो भीमं भीष्मश्चाऽतीव पांडवम् ।
 वभूव तस्मिन्संग्रामे राजंल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥
 पांडवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
 शेरते स्म तदा राजन्कौंतेयस्याऽभितो रथम् ॥ ३३ ॥
 ततो गांडीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
 आगच्छन्पुंखसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥
 निष्पतंतो रथात्तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
 आकाशे समदृश्यंत हंसानामिव पंक्तयः ॥ ३५ ॥
 तस्य तद्विव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः ।
 प्रेक्षन्ते स्मांऽतरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥
 तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गंधर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
 शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

वाण से भीष्म का धनुष काट डाला । भीष्म ने कुपित
 होकर दूसरा धनुष लिया । उस पर डोरी चड़ाकर
 वे अर्जुन के ऊपर असंख्य वाण बरसाने लगे । फिर
 वे दोनों महाबली वीर ऐसी फुर्ती के साथ वाण बर-
 साने लगे कि उनमें से कौन अधिक फुर्तीला है—
 यह जानना कठिन ही नहीं, असम्भव हो गया ।
 एक दूसरे पर लगातार वाण-वर्षा कर उन्होंने दसों
 दिशाओं को छा दिया । खड़े-खड़े युद्ध देखनेवाले
 लोग आकित हो बैठे । फिर महावीर अर्जुन ने भीष्म

के रथ की रक्षा करनेवाले सैनिकों को मारकर गिरा
 दिया । अर्जुन के गाण्डीव धनुष से छूटे हुए वाण
 आकाश में बहुचकर हंसों की कतार के समान देख
 पड़े ॥२६।३१॥

इन्द्र आदि देवता, आकाशमार्ग में अपने विमानों
 पर बैठे हुए, अर्जुन के अस्त्र-शस्त्र चलान के कौशल
 को देख रहे थे । प्रतापी गन्धर्वात्म्य चित्रसेन अर्जुन
 के रण-कौशल और फुर्ती को देखकर बहुत प्रसन्न
 हुआ । उसने इन्द्र से कहा—देसिए, अर्जुन के

सनत्सुजात उवाच—नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यस्यतीव ।

बुद्धो विलीने मनसि प्रचित्वाऽविद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—अत्यंतविद्यामिति यत्सनातनी ब्रवीषि त्व ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।

अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच—अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।

यां प्रात्यैनं मर्त्यलोक त्यजति या वै विद्या गुरुद्वेषु नित्या ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—ब्रह्मचर्येण या विद्या शम्भ्या वेदितुमंजसा ।

तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद्ब्रह्मन्ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

सनत्सुजात उवाच—आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।

इहैव ते शास्त्रकारा भवंति प्रहाय देह परमं यांति योगम् ॥ ६ ॥

अस्मिँह्लोके वै जयंतीह कामान्ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः ।

त आत्मानं निर्हरंतीह देहान्मुंजादिपीकामिव सत्वसस्थाः ॥ ७ ॥

चवर्तीसवा अध्याय ॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन् । अब आप उपनिषद् की बातें सुनाइए । उनसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है । वे विषय-ससर्ग शून्य और अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥१॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! आप प्रफुल्ल हृदय होकर अधिक आग्रह के साथ मुझसे जो पूछ रहे हैं, वह ब्रह्मज्ञान शीघ्र नहीं प्राप्त होता । निश्चयाभिका बुद्धि में अन्तःकरण की स्थिति होने पर जिसके द्वारा सब वृत्तियों का निरोध होकर केवल ब्रह्मचिन्तन ही रह जाता है उसी को ब्रह्मविद्या या उपनिषद् कहते हैं । यह अध्यात्म विद्या सिधिवर्क गुण के पास रहने से प्राप्त होती है ॥२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन् । आप कहते हैं कि ब्रह्मविद्या नित्याभिदे है, वह कर्मकाण्ड की तरह चेष्टा की अपेक्षा नहीं रखती—कार्य के समय ब्रह्मचर्य के साथ प्रकाशित होकर आत्मा में स्थित

रहती है । तो ब्राह्मण को मुक्ति की प्राप्ति किस तरह हो सकती है ? ट्या करके कहिए ॥३॥

सनत्सुजात ने कहा—ब्रह्म नित्य प्रत्यक्ष होकर भी उपाधि का सम्बन्ध होने के कारण सदसाज्ञानगम्य नहीं होता । अतएव जिस विद्या के द्वारा ब्रह्म की उपलब्धि होती है वह नित्यसिद्ध होने पर भी साधना और यत्न की अपेक्षा रखती है । अब मैं वही गुरुराभ्या और ब्रह्मचर्य व्रत से सिद्ध होनेवाली ब्रह्मविद्या कहता हूँ ॥४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन् ! ब्रह्मविद्या का साधन ब्रह्मचर्य क्या और कैसा है ? ॥५॥

सनत्सुजात ने कहा—हे धृतराष्ट्र ! तो शीघ्र ब्रह्मविद्या की साधना के लिए गुरुगृह में जाकर, निष्कण्ट सेवा के द्वारा गुरु की दार्दिक प्रमदना प्राप्त करते हुए, ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होते हैं, वे ही लोक में ब्रह्मर्षि (आचम्युक्त) होकर परलोक में परमेश

स पीडितो महाबाहुर्दृष्ट्वा रथकूबरम् ।
 गांगेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवांऽतरम् ॥ ४८ ॥
 तं विसंज्ञमपोवाह संयंता रथवाजिनाम् ।
 उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमहे भीष्मापयाने चतुःपठितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

भी काट डाला । ऊपर से उनकी छाती में अर्जुन ने
 बहुत ही तीक्ष्ण दस बाण भी मारे । अर्जुन के बाण
 लगने से महाबाहु भीष्म बहुत ही व्यथित हुए । वे
 रथ का धुग पकड़े हुए देर तक अचेत से हो गये ।
 सारथी ने जब उन्हें अचेत देखा तब, उनके इस उप-
 देश को स्मरण करके कि सारथी को रथी की और
 रथी को सारथी की रक्षा करनी चाहिए, वह उनके
 बचाने के लिए युद्धभूमि से रथ हटा ले गया । ४५।४९।
 विराटपर्व का चौसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

अथ पंचपठितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

वैशम्पायन उवाच—भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः ।
 उत्सृज्य केतुं विनदन्महारमा धनुर्विशृङ्खाऽर्जुनमाससाद ॥ १ ॥
 स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं धनंजयं शत्रुगणे चरंतम् ।
 आकर्णपूर्णाघतचोदितेन विव्याध भङ्गेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥
 स तेन घाणेन समर्पितेन जांबूनदाग्नेण सुसंहितेन ।
 राजा राजन्महनीयकर्मा यथैकपर्वा रुचिरैकशृंगः ॥ ३ ॥
 अथाऽस्य घाणेन विदारितस्य प्रादुर्बभूवाऽस्त्रगजस्रमुष्णम् ।
 स तस्य जांबूनदपुंखचित्रो भित्वा ललाटं सुविराजते स्म ॥ ४ ॥
 स तेन वाणाभिहतस्तरस्वी दुर्योधने नोद्धतमन्यु वेगः ।
 शरानुपादाय विपामिकल्पान विव्याधराजानमदीनसत्त्वः ॥ ५ ॥

पैंसठवा अध्याय ॥ ६५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !
 महारथी भीष्म जब युद्ध से हट गये तब दुर्योधन,
 धनुष हाथ में लेकर, सिंहनाद करता हुआ अर्जुन के
 सामने आया । शत्रु-सेना में निर्भय भाव से विचरते
 हुए उस तेजवाने अर्जुन को देखकर दुर्योधन ने,
 काल तक धनुष तानकर, एक भल्ल बाण उनके माथे
 में मारा । मस्तक में वह भल्ल बाण लगने से, एक
 शिखावाले नीले रङ्ग के गिरिराज के समान, अर्जुन
 की शोभा हुई । अर्जुन के मस्तक से रक्त की धारा
 बहने लगी । उससे वह सुवर्ण-मण्डित भल्ल बाण
 चमक उठा ॥१।४५॥
 [महापराक्रमी अर्जुन उस बाण के लगने से

अपारणीयं तमसः परस्तात्तदंतकोऽप्येति विनाशकाले ।
 अणीयो रूपं क्षुरधारया समं महच्च रूपं तद्वै पर्वतेभ्यः ॥ २९ ॥
 सा प्रतिष्ठा नदमृतं लोकास्तद्व्रह्म तद्यशः ।
 भूतानि जज्ञिरे तस्मात्प्रलयं यांति तत्र हि ॥ ३० ॥
 अनामर्थं तन्महदुद्यतं यशो वाचो विकारं क्वयो वदन्ति ।
 यस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातपाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

सबका संहार करनेवाला काल भी प्रलय के समय उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है उसका रूप अत्यन्त अलस है; छुरे की धारा की तरह अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वत से भी अधिक बढ़ा है। वह ब्रह्म विकार-हीन और सब प्राणियों का अधिष्ठाता है। यह देख पड़नेवाला पञ्चभूतों का प्रपञ्च बड़ी है। वह ब्रह्म है, वह यश है, वह सर्वमर्थ है, वह वृष्टि है, वह रमणीय है। जैसे सुवर्ण से कुण्डल आदि गहने बनते हैं,

घट अन्त को सृष्टिका में लीन हो जाता है, वैसे ही सब प्राणी और पदार्थ उसी से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं। वह अद्वैत और जगदाकार महत् यश (सर्वव्यापक) है। पण्डित लोग कहते हैं कि उसका विकार नाममात्र को है, वास्तविक नहीं है। यह विश्व उसी में प्रतिष्ठित है। जो लोग उसे जानते हैं वे ही अमर हैं ॥२९३१॥

—०—

उद्योगपर्व का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पंचचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

सनत्सुजात उवाच—शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता ।
 ईर्ष्या मोहो विधिरसा च कृपाऽसूया जुगुप्सुता ॥ १ ॥
 द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः ।
 एकैकमेते राजेंद्र मनुष्यान्पर्युपासते ।
 येराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥
 स्पृहयालुरुग्रः परुषो वा वदान्यः क्रोधं विभ्रन्मनसा वै विकर्त्थी ।

पंचतालीसवां अध्याय ॥ ४५ ॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! शोक, इनमें से प्रत्येक दोष मनुष्यों को घेता है। इन क्रोध, लोभ, काम, मोह, निद्रा, ईर्ष्या, अभिमान, दोषों के आक्रमण से बुद्धि भट्ट हो जानी है और विधिरसा, म्लेह, अमृषा और निद्रा, ये पाह दोष मनुष्य ताद-ताद के पाप करता है। स्पृहानीन, बहुत बड़े हैं। ये मनुष्य की मृत्यु के कारण हैं। निर्दय, कटोर बचन बोलनेवाला, पक्षपाती, एदय

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं योधांश्च सर्वान्द्रवतो निशम्य ।

रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो रणात्प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १४ ॥

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवंतं दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिपंगात् ।

प्रास्फोटयद्योद्धमनाः किरीटी चाणेन विद्धं रुधिरं वमंतम् ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच-विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च युद्धात्परावृत्य पलायसे किम् ।

न तेऽथ तूर्याणि समाहतानि तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरस्याऽस्मि निदेशकारी पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।

तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराप् ॥ १७ ॥

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।

नहीह दुर्योधनता तवाऽस्ति पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १८ ॥

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।

अपेहि युद्धात्पुरुषप्रवीर प्राणान्प्रियान्पाण्डवतोऽथ रक्ष ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमहे दुर्योधनापवाणे पचपटितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

दुर्योधन व्याकुल हो गया और उस स्थान से भागने लगा । उस भयङ्कर बेपवाले, घायल, रक्त से भीगे हुए दुर्योधन को युद्ध-भूमि से भागते देखकर अर्जुन ने धिक्कार देते हुए कहा—॥१९१४॥

हे दुर्योधन ! तू युद्ध-भूमि से भागकर अपनी भारी कीर्ति को मिट्टी में मिला रहा है । देख, तू अभी तक राज्य से अष्ट नहीं हुआ और तेरे राज्य-अष्ट होने की घोषणा भी अभी नहीं हुई है । मैं यहा

महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से ही युद्ध करने आया हूँ । इसलिए लौटकर मेरे सामने आ । पहले की सब बातें स्मरण कर । तू यदि युद्ध-भूमि से भागा जा रहा है तो तेरा दुर्योधन नाम व्यर्थ है । इस समय मुझे तेरे आगे-पीछे या आस-पास कोई रक्षक अथवा सहायक नहीं देख पड़ता । अच्छी बात है, शीघ्र ही यहाँ से भागकर अपने माणों की रक्षा कर । १५।१९।

—०—

विराटपर्व का पैंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

अथ पट्टपटितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच-आहूयमानश्च स तेन संख्ये महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।

निवर्तितस्तस्य गिरांकुशेन महागजो मत्त इवाऽकुशेन ॥ १ ॥

छाछठवाँ अध्याय ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! मत्त के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन लौट पड़ा । वह रथ पर चढ़कर फिर अर्जुन के सामने आया । सांप जैसे

तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतसं तपति तापनम् ।	।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ २ ॥	॥ २ ॥
अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे ।	।
अतंद्रितः सवितुर्विवस्वानुभौ विभर्ति पृथिवीं दिवं च ।	।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ ३ ॥	॥ ३ ॥
उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशः शुक्रो भुवनं विभर्ति ।	।
तस्माद्दिशः सरितश्च स्रवंति तस्मात्समुद्रा विहिता महांतः ।	।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ ४ ॥	॥ ४ ॥
चक्रे रथस्य तिष्ठतोऽध्रुवस्याऽव्ययकर्मणः ।	।
केतुमंतं वहंल्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ।	।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ ५ ॥	॥ ५ ॥
न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।	।
मनीषयाऽथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवंति ।	।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ ६ ॥	॥ ६ ॥
द्वादशपूर्णां सरितं पिबन्ती देवरक्षिताम् ।	।
मघ्वीक्षन्तश्च ते तस्याःसञ्चरन्तीह घोरााम् ।	।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ ७ ॥	॥ ७ ॥
तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु ।	।

पाते हैं। जीव और ईश्वर दोनों की अधिष्ठानभूमि हृदयकाश है उनमें से एक मायाशून्य और सूर्य का भी प्रकाशक है; मूत्रोक और घुलोक अभी में अधिष्ठित हैं। योगी लोग ही उस सनातन पुरुष का साक्षात्कार पाते हैं। भगवान् शुक्र पृथ्वी, आकाश, दिशा, भुवन और पूर्वोक्त दोनों देवों को धारण करते हैं। महासागर और मघ नदियों अभी से निकली हैं और बहती हैं। योगी लोग ही उस सनातन भगवान् के दर्शन पाते हैं। इन्द्रियरूप घोड़ों में युक्त, कर्माधीन, नररर देहरूप रथ पर चढ़कर जीव अभी अंतर अंतर परमात्मा के पद

को जाता है। योगी लोग ही उस सनातन भगवान् के दर्शन पाते हैं ॥१॥५॥

उसका रूप सादृश्यरहित और चक्षु आदि इन्द्रियों में परे है। मन, बुद्धि और हृदय के द्वारा उसे जानने में मुक्ति मिलती है। योगी लोग ही उस सनातन भगवान् के दर्शन पाते हैं। चित्त मूर्ति, श्रोत्र, श्रवण, वाक् वचन, शब्द, विषद्, माण, श्रवण, संस्कार और सुकृत से पूर्ण अविष्यन्तविणी दुग्ध नदी देवताओं द्वारा सुगन्धित होकर बहती है। जीवगण उसका जल पीकर, उसमें पुत्र आदि मधुर फलों को देखकर, तृप्त होते हैं और नारम्भार

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं योधांश्च सर्वान्द्रवतो निशम्य ।
 रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो रणात्प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १४ ॥
 तं भीमरूपं त्वरितं द्रवंतं दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिमंगात् ।
 प्रास्फोटयद्योद्धुमनाः किरीटी वाणेन विद्धं रुधिरं वमंतम् ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच-विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च युद्धात्पगवृत्य पलायसे किम् ।

न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १६ ॥
 युधिष्ठिरस्याऽस्मि निदेशकारी पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
 तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराप् ॥ १७ ॥
 मोघं तवेदं भुवि नामधेयं दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
 नहीह दुर्योधनता तवाऽस्ति पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १८ ॥
 न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।

अपेहि युद्धात्पुरुषप्रवीर प्राणान्प्रियान्पांडवतोऽद्य रक्ष ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्तहे दुर्योधनापयाने पचपष्टितमोऽध्याय ॥ ६५ ॥

दुर्योधन व्याकुल हो गया और उस स्थान से भागने लगा । उस भयङ्कर वेपवाले, घायल, रक्त से भीगे हुए दुर्योधन को युद्ध-भूमि से भागते देखकर अर्जुन ने धिक्कार देते हुए कहा—॥१९॥४॥

हे दुर्योधन ! तू युद्ध-भूमि से भागकर अपनी मारी कीर्ति को मिट्टी में मिला रहा है । देख, तू अभी तक राज्य से अष्ट नहीं हुआ और तेरे राज्य-अष्ट होने की खोपणा भी अभी नहीं हुई है । ये यद्वा

महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से ही युद्ध करने आया हूँ । इसलिए लौटकर मेरे सामने आ । पहले की सब बातें स्मरण कर । तू यदि युद्ध भूमि से भागा जा रहा है तो तेरा दुर्योधन नाम व्यर्थ है । इस समय मुझे तेरे आगे-पीछे या आस पास कोई रक्षक अथवा सहायक नहीं देख पड़ता । अच्छी बात है, शीघ्र ही यहाँ से भागकर अपने प्राणों की रक्षा कर । १५।१९।

—०—

विराटपर्व का पैसठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

अथ पद्पष्टितमोऽध्याय ॥ ६६ ॥

वेश्मपयान उवाच-आहूयमानश्च स तेन संख्ये महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।

निवर्तितस्तस्य गिरांकुशेन महागजो मत्त इवाऽकुशेन ॥ १ ॥

छाछठवा अध्याय ॥ ६६ ॥

वेश्मपयान ने कहा—हे राजा जनमेजय ! मत्त हाथी जैसे अकुश की चोट खाकर लौटे वैसे ही अर्जुन

के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन लौट पड़ा । वह रथ पर चढ़कर फिर अर्जुन के सामने आया । साप जैसे

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
 अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत्ततः परम् ॥ २५ ॥
 यथोदपाने महति सर्वतः संप्लुतोदके ।
 एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदि संनिविष्टः ।
 अजश्चरो दिवा रात्रमतंद्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥
 अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
 आत्माऽहमपि सर्वस्य यच्च नाऽस्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥
 पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
 ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥

आत्मेव स्थानं मम जन्म चाऽऽत्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
 अजश्चरो दिवारात्रमतंद्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

अणोरणीयान्सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
 पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

एति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पद्मत्वारिणोऽध्यायः ॥ ४६ ॥
 समाप्तमिदं सनत्सुजातपर्व ॥

सनातन पुरुष को देखते हैं । ब्रह्मज्ञानी का हृदय निन्दा से तप्त नहीं होता । वेद के अध्ययन में मन न लगाता या अग्नि-होत्र न करना भी उसे सन्ताप नहीं पहुँचा सकता । ध्यानशील पुरुष को प्राप्त होनेवाली प्रजा ब्रह्मविद्या के प्रभाव में शीघ्र ही मिल जाती है । योगीजन ही उम सनातन पुरुष के दर्शन पाते हैं ॥२१२४॥

मम प्राणियों के आत्मतत्त्व को देखनेवाला पुरुष अन्य को विषयामक्त देखकर कभी शोकप्रस्त नहीं होता । विषयामक्त पुरुष ही शोक में व्याकुल होते हैं । ज्ञानाय जैम प्यामि की प्य स बुझाता है, मैं ही मम वेद आत्मज्ञानी पुरुष के अधीष्ट को पिद्व क्मंनं है । अंगुष्ठमात्र दृश्यम्य आत्मा को कंई नहीं देखना । वह जन्म और मोह आदि में गड़ित और ब्रह्मण्ड का नियामक है । विद्वान् लोग उमे

जानकर निर्मल होते हैं । पिता, माता, पुत्र, मूल, भविष्य और वर्तमान का आत्मा, वृद्ध पितामह, प्रथिनामह आदि सब मैं ही हूँ । तुम मेरे आत्मा में स्थित हो । न मैं तुम्हारा हूँ और न तुम मेरे हो । आत्मा ही मेरी उरगति और स्थिति का स्थान है । मैं आनमेतन्मय मे सतम विद्व मे व्याप्त हूँ । मेरा अधिष्ठान कभी विनाश को नहीं प्राप्त होता । मैं जन्म आदि में हीन होकर भी आलम्प छोड़कर दिन-रात विचरता रहता हूँ । आत्मजिज्ञेसु और परिणामदर्शी पुरुष विशेष रूप से मुझ जानकर सन्ताप को प्राप्त होने हैं । मूढन में भी मूढन वृत्त परमात्मा सभी प्राणियों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है । ब्रह्मज्ञानी लोग उम सर्वभूतजनक परमात्मा को दृश्य-कमल के ऊपर विद्यमान देखते हैं ॥२५३॥

—०—

उद्योगपर्व का छियालीमर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

ततः पुनर्भीमरवंः प्रवृष्ट्य दोर्भ्यां महाशंखमुदारघोषम् ।
 व्यनादयत्स प्रदिशो दिशः खं-भुवं च पार्थो द्विपतां निहंता ॥ १० ॥
 ते शंखनादेन कुरुप्रवीराः संमोहिताः पार्थसमीरितेन ।
 उत्सृज्य चापानि दुरासदानि सर्वे तदा शांतिपरा वभूयुः ॥ ११ ॥
 तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः ।
 निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्रमुवाच यावत्कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२ ॥
 आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम् ।
 द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३ ॥
 भीष्मस्य संज्ञा तु तथैव मन्ये जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेपः ।
 एतस्य वाहान्कुरु सव्यतस्त्वमेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥
 रश्मीन्समुत्सृज्य ततो महात्मा रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः ।
 वस्त्राण्युपादाय महारथानां तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥
 ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान् ।
 ते तद्व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं श्वेता वहंतोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥
 तथाऽनुयांतं पुरुषप्रवीरं भीष्मः शैररभ्यहनत्तरस्वी ।
 स चापि भीष्मस्य हयान्निहत्य विव्याध पार्थो दशभिः पृपत्कैः ॥ १७ ॥

बजाया । उसका शब्द दसों दिशाओं, पृथ्वी और
 आकाश में गूँज उठा। अर्जुन के शङ्खनाद और अस्त्र
 के प्रभाव से कौरव-पक्ष के सब वीर अचेत हो गये ।
 अचेत हो जाने के कारण उनके हाथों से घनुष-बाण
 गिर पड़े। वे निश्चेष्ट होकर पृथ्वी पर गिर गये ॥ १० ॥ ११ ॥

उस समय अर्जुन को उषा की बात स्मरण
 आ गई । उन्होंने उषा में कहा—हे वीर ! इस
 समय कौरव-पक्ष के सब वीर अचेत हो गये हैं ।
 इसलिए तुम शीघ्र जाकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्य
 के भेट कर, कर्ण के पीले शूद्र के वस्त्र और अध-
 रथामा तथा दुर्योधन के नीले शूद्र के वस्त्र ले आओ ।
 वितामद भीष्म इस सम्मोहन अस्त्र के मंदार की

मुक्ति जानते हैं; इसीसे, जान पड़ता है कि वे अचेत
 नहीं हुए । इसलिए तुम उनके रथ की बाईं ओर
 में सावधानी के साथ इन वीरों के वस्त्र लेने को
 जाओ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अथ राजा विराट के पुत्र उषा ने घोड़ों की
 रथ छोड़ दी । यह रथ में उनरथर द्रोण आदि
 वीरों के पास गया और मदारपियों के वस्त्र लेकर
 यहाँ म फिर अर्जुन के रथ पर आ गया। अब उषा ने
 उन सुवर्ण-माना-मूयित श्वेत घोड़ों को हाँका । वे
 पं डे उठी समय मगरूमि को छोड़कर भाट पड़े ।
 इसी समय पराक्रमी भीष्मभी वेग में अर्जुन के ऊपर
 गालों की वर्षा करने लगे । तब अर्जुन ने सुझकर

शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन धृष्टद्युम्नेनाऽथ शिखंडिना च ।
 युधिष्ठिरेणेंद्रकल्पेन चैव योऽपध्यानाग्निर्दहेद्वा दिवं च ॥ ९ ॥
 तैश्चेद्योद्भुंमन्यने धार्तराष्ट्रो निर्वृत्तोऽर्थः सकलः पांडवानाम् ।
 मा तत्कार्पाः पांडवस्याऽर्थहेतोरुपैहि युद्धं यदि मन्यसे स्वम् ॥ १० ॥
 यां तां वने दुःखशय्यामवास्मीत्प्रव्राजितः पांडवो धर्मचारी ।
 आमेतु तां दुःखतरामनर्थामंत्वां शय्यां धार्तराष्ट्रः परासुः ॥ ११ ॥
 हिया ज्ञानेन तपसा दमेन शौर्येणाऽथो धर्मगुप्त्या धनेन ।
 अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेयानध्यातिष्ठद्दार्तराष्ट्रो दुरात्मा ॥ १२ ॥
 मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन ।
 सत्यं ब्रुवन्प्रतिपन्नो नृपो नस्ति तिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिबेल्म् ॥ १३ ॥
 यदा ज्येष्ठः पांडवः संशितारत्मा क्रोधं यत्तं वर्षपूगान्सुधोरम् ।
 अवस्त्रष्टा कुरुपूटवृत्तेवतास्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १४ ॥
 कृष्णवस्त्रेण ज्वलितः समिद्धो यथा दहेत्कक्षमाग्निर्निदाघे ।
 एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥ १५ ॥
 यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं गदाहस्तं क्रोधत्रिपं वसंतम् ।
 अमर्षणं पांडवं भीमवेगं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १६ ॥

सात्यकि, शम्भुशर्मा धृष्टद्युम्न और शिखण्डी के साथ
 उनका युद्ध होगा; और तब युद्ध में वे इन्द्र-रुद्र
 धर्मगज युधिष्ठिर भी जायेंगे जो अनायास स्वर्ग,
 पाताल और मनुष्यलोक को मम्म कर सकने हैं ।
 यदि दुर्बोधन इन वीरों के साथ युद्ध करना चाहेगा
 तो अवश्य पाण्डवों के मग्न प्रयोजन मिट्टे होंगे ।
 पाण्डवों के प्रयोजन की मिट्टि के लिए बन्धि के
 प्रन्नाव की कोई आवश्यक्ता नहीं। इच्छा हो तो युद्ध
 करें ॥२११०॥

परम धार्मिक राजा युधिष्ठिर वनवास के लिए
 देश में निकाले जाकर वन में लगाना दुःमह दुःख-
 शय्या पर सोये हैं । दुर्बोधन उन्में भी अधिक दुःख-

दायक मृत्यु की अन्तिम शय्या पर सोकर प्राणत्याग
 करें । कपटी दुरात्मा दुर्बोधन लोकलज्जा, ज्ञान, तर,
 दम, शूरा और धर्म की रक्षा आदि के द्वारा कभी
 पाण्डवों को हरा नहीं सके । किन्तु राजा युधिष्ठिर
 ने मरणा, तर, दम, शूरा, बल आदि में मग्न
 और नग्न होकर भी केवल मत्य के लयान में दुःमह
 क्लेश भरे हैं ॥११११३॥

जब विशुद्ध-हृदय महात्मा बड़े पाण्डव धर्मराज
 युधिष्ठिर उद्योग और उत्साह के साथ कौरवों पर
 पुगता क्रोध प्रकट करेंगे और गर्वियों की दोषदोषों
 में प्रचण्ड अग्नि जैसे पाप-दूष को जलाती है वैसे ही
 क्रोध में प्रज्वलित होकर वे जब दुर्बोधन की भना का

तान्प्रस्थितान्प्रीतमनाः स पार्थो धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
 अभापमाणोऽनुनयं मुहूर्तं वचोऽब्रवीत्संपरिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
 पितामहं शांतनवं च वृद्धं द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्धा ।
 द्रौणिं कृपं चैव कुरुंश्च मान्याञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
 दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।
 आमंठयवीरांश्च तथैव मान्यान्गांडीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
 स देवदत्तं सहसा विनाद्य विदार्य वीरो द्विपतां मनांसि ।
 ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्स हेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
 दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरुन्किरीटी हृष्टोऽब्रवीत्तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
 आवर्त्तयाऽश्वान्पशवो जितास्ते याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥
 देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
 जग्मुर्घथास्वं भवन् प्रतीताः पार्थस्य कर्माणि विचिंतयंतः ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोप्रहे समस्तकीरवपलायने पदपाठितमोऽध्याय ॥ ६६ ॥

वृथा मोह में न पड़कर इस समय ऐसा उपाय सोचो कि जिसमें स्वार्थ की हानि न हो ॥१९॥२२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । पिता-मह से अपने हित के वचन सुनकर, मनोरथ पूर्ण न होने से लम्बी साँसें लेता हुआ, मानी क्रोधी दुर्योधन चुप रह गया । भीष्म के हित-वाक्य सुनकर और अभ्युदय को प्राप्त अभिर्भूषी अर्जुन के तेज को देखकर और-और वीर पुरुषों ने भी युद्ध से हटना ही अच्छा समझा । वे दुर्योधन की रक्षा करते हुए लौटने को तैयार हो गये ॥२३॥२४॥

धृष्ट कुरुवीरों को लौटने के लिए तैयार देखकर अर्जुन ने पहले की तरह फिर बाणों से उन्हें प्रणाम किया । अर्जुन ने माथा नवाकर और बाणों के द्वारा भीष्म, द्रोण, अधरथ्यामा और कृपाचार्य को प्रणाम करके

एक विचित्र बाण से दुर्योधन के सिर का मुकुट काट डाला । फिर अन्य वीरों से इसी प्रकार चलते समय का सम्भाषण करके उन्होंने अपने गाण्डीव धनुष के शब्द से त्रिभुवन को प्रतिध्वनित कर दिया । २५।२७।

अर्जुन के 'देवदत्त' शब्द के शब्द से शत्रुओं के हृदय मानों फटने लगे । अर्जुन की सुवर्ण-जाल मृपित ध्वजा को देखकर शत्रुओं के हृदय भय के मोर व्याकुल हो उठे । अब अर्जुन ने उच्चर से कहा—चलो, पीढ़ों को लौटाओ । बुध्दारी सब गायें लौट गईं । देवता लोग भी कीरधों के साथ अकंठे अर्जुन का अद्भुत युद्ध देखकर मन ही मन उनके अद्भुत पराक्रम को सोचते और तभी की चर्चा करते हुए प्रसन्नता से अपने-अपने लोक को गये ॥२८॥३०॥

—०—

विराटपर्व का द्वादशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

रणे हेत कौरवाणां प्रवीरे शिखंडिना सत्तमे शांतनूजे ।
 न जातु नः शत्रवो धारयेयुरसंशयं सत्यमेतद्भ्रवीमि ॥ ३९ ॥
 यदा शिखंडी रथिनः प्रचिन्वन्भीष्मं रथेनाऽभियाता वरूथी ।
 दिव्यैर्हयैरवमृद्मन् रथौघांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४० ॥
 यदा द्रष्टा सृजयानामनीके धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम् ।
 अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ४१ ॥
 यदा स सेनापतिप्रमेयाः परामृद्मन्निपुभिर्धार्तराष्ट्रान् ।
 द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४२ ॥
 ह्रीमान्मनीषी बलवान्मनस्वी स लक्ष्मीवान्सोमकानां प्रवर्हः ।
 न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्येषां स स्यादप्रणीवृष्णिगिंहः ॥ ४३ ॥
 इदं च त्रूया मा वृणीष्वेति लोके युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम् ।
 शिनेर्नसारं प्रवृणीम सात्वाकिं महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम् ॥ ४४ ॥
 महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी ।
 शिनेर्नसा तालमात्रायुधोऽयं महारथो वीतभयः कृतास्त्रः ॥ ४५ ॥
 यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः शरैः परान्मेघ इव प्रवर्षन् ।

पछताना पड़ेगा ॥३७॥

जब मास्यराज के पुत्र महापार्थी उदारप्रकृति उत्तम कृत्वच पहनकर युद्धभूमि में उतरेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३८॥

जब शिखण्डी कृत्वच पहनकर, दिव्य घोड़ोंवाले रथ पर बैठकर, रथों को नष्ट-भ्रष्ट कर, रथी वीरों को खोजते हुए, पितामह भीष्म के ऊपर आक्रमण करेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा । मैं निश्चय के साथ कहता हूँ कि शिखण्डी के हाथ से कुद्रेष्ठ भीष्म का देहान्त होने पर पाण्डवों के शत्रुओं का अवश्य नाश होगा ॥३९॥४०॥

बुद्धिमान् आचार्य द्रोण ने जिन्हें गुप्त अस्त्रों की शिक्षा दी है, उन धृष्टद्युम्न को जब दुर्योधन वृत्रपवनेना में देखेंगे, तब उन्हें अवश्य युद्ध के

लिए पछताना पड़ेगा ॥४१॥

जब महापार्थी शत्रुदमन सेनापति धृष्टद्युम्न बाणवर्षा में घृताष्ट्र के पुत्रों का संहार करते हुए द्रोणाचार्य के सामने उपस्थित होंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४२॥

लज्जाशील, बुद्धिमान्, चतुर, मनस्वी, लक्ष्मी-सम्पन्न, वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण जिनके प्रधान नेता हैं उनको कोई शत्रु नहीं हरा सकता ॥४३॥

दुर्योधन से जाकर तुम कहना कि वे राज्य पाने की आशा न करें; क्योंकि जिनके पौत्र, निर्भय, अमरविद्या में निपुण, महाबलवान्, पाशकगी सास्यकि हमारे महापुरु हैं ॥४४॥

जिनके वीर सास्यकि की छाती चोरी है, हाथ लम्बे हैं और उनका धनुष चार हाथ का

पितुः सकाशे तव तात सर्वे वसन्ति पार्था विदितं तवैव ।

तान्मा प्रशंसेनगरं प्रविश्य भीतः प्रणश्येद्वि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां मया च गावो विजिता द्विपद्भ्यः ।

पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥

उत्तर उवाच—यत्ते कृतं कर्म न पारणीय तत्कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः ।

न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णुराच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।

इमशानमागत्य पुनः शर्मां तामभ्येत्य तस्थौ शरविक्षतांगः । १२ ॥

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात ।

तथैव माया विहिता बभूव ध्वजं च सैहं युयुजे रथे पुनः ॥ १३ ॥

विधाय तच्चाऽऽयुधमाजिवर्धनं कुरूत्तमानामिपुधीः शरांस्तथा ।

प्रायारस मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः किरीटिना सारथिना महात्मना ॥ १४ ॥

पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म निहत्य शत्रून् द्विपतां निहंता ।

चकार वेणीं च तथैव भूयो जग्राह रश्मिन्पुनरुत्तरस्य ।

विवेश हृष्टो नगरं महामना वृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभञ्जा वशमास्थिताः ।

उत्तर को गले लगाया और कहा—हे कुमार ! तुम तो यह जान गये हो कि पाण्डव लोग तुम्हारे पिता के यदा रहते हैं; किन्तु नगर में जाकर अभी यह बात प्रकट न करना । यदि वदा जाकर तुम एका-एक यह सूचना दे दोगे तो भय के मारे राजा विराट के मर जाने की आशङ्का है । हे कुमार ! तुम पिता के आगे जाकर कहना कि तुम्हारे नी कौरवों को हराकर उनसे गाये छीन ली हैं ॥६।१०॥

उत्तर ने कहा—हे वीर ! आपने जो यह अद्भुत काम किया है उसे करने की शक्ति मुझमें नहीं है । मैं इस समय इतना ही अस्त्रोत्कार कर सकता हूँ कि आप जब तक अनुमति न देंगे तब तक आप

की बात पिता के आगे प्रकट न करूँगा ॥११॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! बाणों के लगने से घायल अर्जुन अब उठी शर्मिष्ठ के नीचे पहुँचे । तब अग्नि के समान प्रभाशाली महा-वानर शौर भूगण देवी माया के साथ स्वर्ग को चले गये । अब वहाँ पहले की मिहचिह्नयुक्त ध्वजा उस रथ पर लगा दी गई । अर्जुन की आज्ञा से उत्तर ने वे तरकम, बाण, धनुष आदि दिव्य शस्त्र फिर उभी पेड़ पर उभी तार रख दिये । अब प्रसन्नता-पूर्वक वह, वीर अर्जुन के साथ, मत्स्यनगर को चला । अर्जुन फिर वही वेपथारी वृहन्नला का वेपथानाकर सारथी बन गये ॥१२।१५॥

वज्रे चाऽहं वज्रहस्तान्महेन्द्रादस्मिन्पुच्छे वासुदेवं सहायम् ।
 स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो मन्ये चैतद्विहितं देवतेर्मे ॥ ६९ ॥
 अयुद्धयमानो मनसाऽपि यस्य जयं कृष्णः पुरुषस्याऽभिनन्देत् ।
 एवं सर्वान्स व्यतीयादमित्रान्सेन्द्रान्देवान्मानुषे नास्ति चिन्ता ॥ ७० ॥
 स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षेन्महोदधिं सलिलस्याऽप्रमेयम् ।
 तेजस्विनं कृष्णमलंतशूरं युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७१ ॥
 गिरिं य इच्छेत्तु तलेन भेतुं शिखोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम् ।
 तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्षेन्न चापि किञ्चित्स गिरेस्तु कुर्यात् ॥ ७२ ॥
 अग्निं समिद्धं शमयेद्भुजाभ्यां चंद्रं च सूर्यं च निवारयेत् ।
 हरेद्देवानाममृतं प्रसह्य युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७३ ॥
 यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजानुत्ताद्य राज्ञः समरे प्रसह्य ।
 उवाह भार्या यशसा ज्वलन्ती यस्यां जज्ञे रौक्मिणो यो महारमा ॥ ७४ ॥
 अयं गांधारांस्तरसा संप्रमथ्य जित्वा पुत्रान्नग्नजितः समग्रान् ।
 बद्धं मुमोच विनदंतं प्रसह्य सुदर्शनं वै देवतानां ललामम् ॥ ७५ ॥

थाकर मुझे कहा—हे अर्जुन ! तुझे दुष्कर कर्म
 करना है, अपने शत्रुओं के साथ युद्ध करना है ।
 तुम क्या चाहते हो ! उच्चैःश्रवा घोड़े पर बैठकर
 हाथ में वज्र लिये इन्द्र आगे-आगे तुम्हारे शत्रुओं
 का नाश करते चले, अथवा सुग्रीव आदि पांडों
 से सक्त दिव्य रथ पर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे
 रक्षा करते हुए पीछे चले ॥ ६७-६८ ॥

तब मैंने वज्रपाणि इन्द्र का छोड़कर इन युद्ध
 में सहायक त्वर से श्रीकृष्ण का ही स्वीकार किया ।
 दस्युवध के लिए श्रीकृष्ण को मैंने अपना महायक
 पाया है । मैं समझता हूँ, यह घटना देवताओं की
 इच्छा से ही हुई है ॥ ६९ ॥

श्रीकृष्ण युद्ध न करके मन से ही जिसकी
 जय चाहे वह इन्द्र-महित सब देवताओं को भी
 जित सकता है । मनुष्यों की तो बात ही क्या है! ७० ॥

तेजस्वी और शूर श्रीकृष्ण को जितने की
 इच्छा करना और प्रयास समुद्र के जल को हाथों
 से तैर जाना एक सा असम्भव है । जो पुरुष बड़े
 मारी श्वेत पर्वत (डिमालय) को, तोड़ डालने के
 लिए, धूम मारता है वही का हाथ चू-चू- हो
 जाता है, पर्वत का कुछ नहीं बिगड़ता ॥ ७१-७२ ॥

श्रीकृष्ण को जो युद्ध में जितना चाहना है वह
 जलती हुई अग्नि को हाथों में बुझाना चाहता है,
 चन्द्र सूर्य की गति को रोकना चाहता है और
 बलपूर्वक देवताओं से अमृत छीन लेना चाहता है ॥ ७३ ॥

महारथी श्रीकृष्ण अकेले जाकर सब राजाओं
 को और बनी रुक्मी को जितकर बलपूर्वक यशस्विनी
 रुक्मिणी को हर लिये है । उन्हीं रुक्मिणी के गर्भ
 में महातना प्रद्युम्न का जन्म हुआ है ॥ ७४ ॥

श्रीकृष्ण ने एकाएक गान्धार देवताभियों को

अशोभत महाराज सहपार्थः श्रिया वृतः ॥ २ ॥
 तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्द्धनम् ।
 उपासांचक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥
 उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह ।
 सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनद्याऽथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥
 विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतींस्तथा ।
 तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
 उत्तरं परिपप्रच्छ क यात इति चाऽब्रवीत् ।
 आचख्युस्तस्य तत्सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेदमनि ॥ ६ ॥
 अंतःपुरचरांश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम् ।
 विजेतुमभिसंरब्ध एकएवाति साहसात् ।
 बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवींजयः ॥ ७ ॥
 उपयानानतिरथान्भीष्मं शांतनवं कृपम् ।
 कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च पट्टधान् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम् ।
 बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं प्रोवाच सर्वानथ मंत्रिमुख्यान् ॥ ९ ॥
 सर्वथा कुरवस्ते हि ये चाऽन्ये वसुधाधिपाः ।
 त्रिगर्तान्निःसृताञ्श्रुत्वा न स्थास्याति कदाचन ॥ १० ॥

अदसठवां अध्याय ॥ ६८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !
 संग्राम में त्रिगर्त-नेरेश को हराकर, बहुत सा धन
 और गोधन छीनकर, राजा विशट चारों पाण्डवों के
 साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने नगर में आये। सब प्रजा
 और ब्राह्मण लोग विशट को आगे से लेने के लिए
 आये। उन्होंने राजा विशट की जयघ्वनि की। राजा
 ने भी उनकी अभिनन्दन किया। [रनिवास के पाम
 पहुँचकर] राजा ने सबको विदा कर दिया। विशट-
 देश की विशाल सेना के स्वामी राजा विशट ने रनि-
 वास में जाकर पूछा कि प्यारे कुमार उचर कहाँ गये

हैं। रानी और राजकुमारियों ने कहा—हे महाराज !
 आपकी उचर ओर की गोशाला की सब गायों को भीष्म,
 कृप, कर्ण आदि महारथी कौम्ब लोग हर ले गये हैं
 ॥१०८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यह
 सूचना पाते ही कुपित होकर साहस के साथ विजय
 पाने के लिए, केवल बृहन्नला को साथ ले, राजकुमार
 उनसे युद्ध करने गये हैं। यह सूचना पाकर राजा
 विशट को पड़ा भेद हुआ। उन्होंने उसी समय
 मन्त्रियों को बुलाकर कहा—हे मन्त्रियों ! मुझे जान

अप्येवं नो ब्राह्मणाः संति वृद्धा बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः।
 सांवत्सरा ज्योतिषि चाऽभियुक्ता नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ॥ ९८ ॥
 उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
 क्षयं महान्तं कुरुसृजयानां निवेदयन्ते पांडवानां जयं च ॥ ९९ ॥
 यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः संसिद्धार्थो द्विपतां निग्रहाय ।
 जनार्दनश्चाऽप्यपरोक्षविद्यो न संशयं पश्यति वृष्णिर्सिंहः ॥ १०० ॥
 अहं तथैवं खलु भावि रूपं पश्यामि बुद्ध्या स्वयमप्रमत्तः ।
 दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी संयुध्यमाना धार्तराप्त्रा न सन्ति ॥ १०१ ॥
 अनालब्धं जृम्भति गांडिवं धनुरानाहता कंपति मे धनुर्ज्या ।
 बाणाश्च मे तूणमुखाद्विस्तृत्य मुहुर्मुहुर्गंतुमुशंति चैव ॥ १०२ ॥
 खड्गः कोशाग्निःसरति प्रसन्नो हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम् ।
 ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति कदा रथो योक्षते ते किरीटिन् ॥ १०३ ॥
 गोमायुसंघाश्च नदंति रात्रौ रक्षांस्यथो निष्पतंत्यंतरिक्षात् ।
 मृगाः शृगालाः शितिकंठाश्च काका गृध्रा वकाश्चैव तरक्षवश्च ॥ १०४ ॥
 सुवर्णपत्राश्च पतंति पश्चाद् दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम् ।

घृतराष्ट्र का एक भी पुत्र जीता नहीं बचेगा । हां, यदि वे युद्ध छोड़कर कहीं भाग जायें तो उनकी आयु ही सकती है । कर्म-घटित सब कुरुवंश का मंहार करके मैं कुरुराज्य को जीतूँगा । युद्ध जब तक नहीं छिड़ता तब तक तुम लोग प्यारी बियों से मिल लो और ऐश्वर्य सुख भोग लो । हम लोगों के निश्चय वृद्ध, बहुत शासकों के पाण्डित, कुलभीरुयुक्त, संवरण-फन्, नक्षत्रों के योग और ज्योतिष के रहस्य जाननेवाले जो ब्राह्मण हैं वे कह रहे हैं और देवराहस्य, होनी की सूचना देनेवाले पक्ष, मृगसमूह देख पड़ने के मगुन और मुहूर्त जना रहे हैं कि कुरु राज्याय देश के योद्धाओं का बड़ा भागी नाश होने के माघ ही कौरवों का मंहार होगा, और पाण्डवों को विजयप्रदान प्राप्त

होगी । हमारे नेता अजातशत्रु अपने पक्ष को शत्रु-दमन के लिए समर्थ समझने हैं और सर्वज्ञ श्रीकृष्ण भी हमारी जीत के बारे में निःपन्देह हैं ॥१६॥१००॥
 मैं भी युद्ध हृदय से जनघटिके द्वारा होनेवाले, शत्रुओं के मंहार को और अपनी जीत को देख रहा हूँ । मेरी दृष्टि योगबल से अमोघ है । मुझे निश्चय है कि युद्ध करने से एक भी कौरव जीता नहीं बचेगा । मेरा गाण्डीव घनुष बिना छुप ही मञ्जरायमान होता है, उसकी डोरी बिना चढ़ाये ही डिल रही है । बाण आर ही आर तर्कमों से बाहर निकले मे पड़ते हैं । हम लोगों के पीने मद्य, केंचुल छोड़े हुए नागों की तरह, चमकते हुए म्यान में बाहर निकले पड़ने हैं । घात्रा के ऊपर मे दे मपद्य

सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।

उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—दिप्रया विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः ।

नाऽद्भुतं त्वेव मेन्यऽहं यत्ते पुत्रोऽजयत्कुरुन् ॥ २० ॥

ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यंता बृहन्नला ।

वैशम्पायन उवाच—ततो विराटो नृपतिः संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ २१ ॥

श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्याऽमितौजसः ।

आच्छादयित्वा दूर्तांस्तान्मंत्रिणं सोऽभ्यनन्दयत् ॥ २२ ॥

राजमार्गाः क्रियंतां मे पताकाभिरलंकृताः ।

पुष्पोपहारैरर्च्यंतां देवताश्चापि सर्वशः ॥ २३ ॥

कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः ।

वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यांतु सुतं मम ॥ २४ ॥

घंटावान्मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम् ।

शृंगाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ॥ २५ ॥

उत्तरा च कुमारीभिर्वह्नीभिः परिवारिता ।

शृंगारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम् ।

भैर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च वैवैः परार्थ्यैः प्रमदाः शुभाश्च ॥ २७ ॥

मन्त्री ने विराट को विजय की सूचना सुनाकर कहा—
हे राजेन्द्र ! राजकुमार उत्तर सब कौरवों की इराफर,
सब गाँयें छनिकर, सारथी के साथ प्रसन्नतापूर्वक
लौटे आ रहे हैं ॥१७॥१९॥

तब राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे राजेन्द्र ! आज
भारयवल से कौरव हराये गये और आपकी गाँयें लौट
आई हैं । जो हो, यह कुल बड़े आश्चर्य की बात नहीं हुई
जो आपके कुमार ने कौरवों को परास्त कर दिया ।
युद्धला जिसका सारथी है उसे जीतनाही चाहिए ॥२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । प्रस-

नता के मारे विराट के शरीर में रोमाञ्च हो आया ।
उन्होंने सूचना लानेवाले दूर्तां का बहुत सा पुरस्कार
देकर मन्त्रियों से कहा—अभी सड़कों पर पताकाएं
फहराने की आज्ञा दो । फूल-माला आदि से देवताओं
की पूजा कराओ । योद्धा लोग, शृङ्गार क्रिये हुए
वेश्याएं, बालक और बाजेवाले आगे से जाकर मेरे
पुत्र का सम्मान करें । मूल्यवान् हाथी पर बैठकर,
चौराहों पर जाकर, डिंडोरा पीटनेवाला मेरी विजय
की घोषणा करे । कुमारियों-सहित उत्तरा कुमारी,
सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनकर, उत्तर की अग-

अजेयौ मानुषे लोके सैत्रैरपि सुरासुरैः ।
 एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः ।
 नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ २० ॥
 एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान्ध्रुवान् ।
 तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनःपुनः ॥ २१ ॥
 तस्मात्कर्मेव कर्तव्यमिति होवाच नारदः ।
 एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ॥ २२ ॥
 शंखचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम् ।
 पर्याददानं चाऽङ्घ्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ॥ २३ ॥
 सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ ।
 दुर्योधन तदा तात स्मर्ताऽसि वचनं मम ॥ २४ ॥
 नो चेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
 अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ॥ २५ ॥
 न चेद्द्वग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोताऽसि सुवहून्हतान् ।
 तत्रैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ॥ २६ ॥
 त्रयाणामेव च मतं तत्त्वमेकोऽनुमन्यसे ।
 रामेण चैव शतस्य कर्णस्य भरतर्षभ ॥ २७ ॥
 दुर्जातिः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौवलस्य च ।

नहीं कहता। मैंने वेदज्ञ नारद मुनि से सुना है कि महावीर अर्जुन वही पूर्वदेव नर हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्वदेव नारायण हैं। एक ईश्वर ने नर और नारायण नाम से दो रूप धारण किये हैं ॥१६।२०॥

इन्द्र आदि देवता, असुर अथवा मनुष्य कभी इन्हे नहीं डरा सकते। इन दोनों मनातन आपियों ने अपने कर्मों से अक्षय लेक प्राप्त किये हैं। जब जहां पौर युद्ध अनिवार्य होता है तब वहां ये जन्म लेकर शिष्टों का पालन और दुष्टों का दमन करते

हैं। युद्ध ही इनका कर्तव्य है ॥२१।२२॥

हे दुर्योधन! तुम जब शंख-चक्र-गदा-नयणधारी भगवान् कृष्ण को और गण्डीव धनुष धारण करने-वाले महाबाहु अर्जुन को एक स्थ पर बैठे देखोगे तब तुम्हें मेरा कहा स्मरण आवेगा। मेरा कहा न मानोगे तो निःसन्देह कुरुकुल का सर्वनाश हो जायगा। महाबाहु श्रीकृष्ण और अर्जुन ने बहुत से बीगों का माता है। यह सुनकर भी जो तुम मेरा कहा न मानोगे तो निःसन्देह तुम्हारी बुद्धि परम और अर्थ में भ्रष्ट हो गई है। सब कौरव तुम्हारे

राज्यं हारितवान्सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
 अथवा मन्यसे राजन्दीव्याम यदि रोचते ॥ ३५ ॥
 वैशम्पायन उवाच—प्रवर्त्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पांडवमब्रवीत् ।
 पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥ ३६ ॥
 ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
 बृहन्नला यस्य यंता कथं स न जयेद्युधि ॥ ३७ ॥
 इत्युक्तः क्रुपितो राजा मत्स्यः पांडवमब्रवीत् ।
 समं पुत्रेण मे पंडं ब्रह्मबंधो प्रशंतासि ॥ ३८ ॥
 वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
 भीष्मद्रोणमुखान्सर्वान्कस्मान्न स विजेष्यति ॥ ३९ ॥
 वयस्यत्वान्तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
 नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ४० ॥
 युधिष्ठिर उवाच—यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिवैकर्त्तनः क्रुपः ।
 दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथाऽन्ये च महारथाः ॥ ४१ ॥

क्या उपकार होगा ? मैं तो समझता हूँ कि इस समय
 जुआ न खेलना ही ठीक है । आपने सुना होगा कि
 पाण्डव युधिष्ठिर इस जुए के कारण ही देवता-सदृश
 भाइयों को और अपने विपुल साम्राज्य को खो बैठे
 हैं । इसी से जुआ खेलना मुझे अच्छा नहीं लगता ।
 अथवा, जो आपकी ऐसी ही इच्छा हुई है तो कहिए,
 मैं इस समय आपके साथ चौसर खेलूँ ॥३३।३५॥
 वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !
 विराट के अधिक आग्रह से चौसर का खेल होने
 लगा । विराट ने राजा युधिष्ठिर से कहा—“हे कर्क !
 देखो, आज मेरे बेटे ने ऐसे-ऐसे बड़े कौरव-वीरों को
 युद्ध में सज्ज ही हरा दिया ।” युधिष्ठिर ने फिर
 वही बात कही कि महाराज ! बृहन्नला जिसका
 सारथी है वह अवश्य युद्ध में जय प्राप्त करेगा ।

युधिष्ठिर के सुंह से बारम्बार यही बात सुनकर राजा
 विराट को क्रोध बढ़ आया । उन्होंने क्रुपित होकर
 कहा—हे कर्क ! युद्ध में मेरा बेटा उत्तर भीष्म, द्रोण,
 कृपाचार्य आदि कौरव-वीरों को क्यों नहीं हरा सकता ।
 हे अघम ब्राह्मण ! तुम एक नपुंसक की तुलना मेरे
 पुत्र के साथ कर रहे हो । तुम्हें यह ज्ञान नहीं कि
 क्या कहना चाहिए और क्या न कहना चाहिए ।
 अनुचित तुलना करके इस समय तुम मेरा अपमान
 कर रहे हो । अच्छा, सखा समझकर मैं तुम्हारे अप-
 राध को क्षमा किये देता हूँ किन्तु जिते रहने की
 इच्छा हो तो फिर कभी ऐसी बात मुझ से न निकालना ।
 ॥३६।४०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! आचार्य द्रोण,
 वितामह भीष्म, अधरथामा, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन

निकृत्वा कोपितं मदैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ॥ ३ ॥

सनय उवाच—राज्ञो मुखमुदीक्षते पांचालाः पांडवैः सह ।

युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ॥ ४ ॥

पृथग्भूताः पांडवानां पांचालानां रथव्रजाः ।

आयांतमभिनंदन्ति कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

नभः सूर्यमिवोद्यंतं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।

पांचालाः प्रतिनंदन्ति तेजोराशिमिवोदितम् ॥ ६ ॥

आगोपालाविपालाश्च नंदमाना युधिष्ठिरम् ।

पांचालाः केकया मत्स्याः प्रतिनंदन्ति पांडवम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।

क्रीडत्योऽभिसमायाति पार्थ सन्नद्धमीक्षितुम् ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—संजयाऽऽचक्ष्व ये नाऽऽस्मान्पांडवा अभ्ययुंजत।

धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां चलेन च ॥ ९ ॥

वेशम्पायन उवाच—गावस्त्रगणिस्तु तत् पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।

निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचितपश्विव ॥ १० ॥

तत्राऽनिमित्ततो देवात्सूतं कश्मलमाविशत् ।

तदाऽऽचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ ११ ॥

को कृपित कर रक्खा है। धर्मज्ञ और धर्मात्मा युधिष्ठिर को शान्ति का उपदेश देकर युद्ध से रोकनेवाले कौन-कौन हैं ? ॥१।३॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! चारों पाण्डव और धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालगण राजा युधिष्ठिर के मुद्द से मुद्द की आज्ञा पाने की राह देख रहे हैं। युधिष्ठिर भी सबको यथोचित उद्योग के बारे में आज्ञापं दिया करते हैं। जब युधिष्ठिर आते हैं तब पाञ्चाल वीरों के रथ उनका अभिनन्दन करते हैं। आकाश में उदय हो रहे सूर्य के समान तेजस्वी युधिष्ठिर की उपासना में सब पाञ्चालगण और

पाण्डव लगे रहते हैं। पाञ्चाल, केकय और मत्स्य-देश के अहीर-गडरिये तब महाराज युधिष्ठिर के भक्त हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की कन्याएं युद्ध के वेप में अर्जुन को देखने के लिए क्रीड़ा करती हुई चारों ओर से आती हैं ॥१।८॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे सञ्जय ! पाण्डवों ने धृष्टद्युम्न और सोमकों की कितनी सेना हमसे युद्ध करने के लिए एकत्र की है ? ॥१॥

वेशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! धृष्टसमा में धृतराष्ट्र का यह प्रश्न सुनकर सञ्जय चिन्तित होकर लम्बी साँसें लेने लगे और स्वद के मोर अचन होकर

अथोत्तरः शुभैर्गर्भैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा ।
 अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥
 सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा ।
 आसाद्य भवनद्वारं पित्रे संप्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥
 ततो द्वास्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत् ।
 बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥
 ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत् ।
 प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥
 क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्णमुपाजपत् ।
 उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥
 एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत्समाहितम् ।
 यो ममाऽग्रे व्रणं कुर्याच्छोणितं वाऽपि दर्शयेत् ।
 अन्यत्र संप्रामगतान्न स जीवेत्कथंचन ॥ ५५ ॥
 न मृष्याद्भृशसंकुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम् ।
 विराटमिह सामास्यं हन्यात्सवलवाहनम् ॥ ५६ ॥
 वैशम्पायन उवाच—ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत्पृथिवीजयः ।
 सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कंकं चाऽप्युपतिष्ठत् ॥ ५७ ॥

उधर चन्दन-माला आदि से अलङ्कृत और सम्मान-
 नित होकर उत्तर प्रसन्नतापूर्वक नगर में आया । नगर
 की और राज्य की प्रजा ने उसका अभिनन्दन किया ।
 इस प्रकार राजभवन के द्वार पर पहुँचकर उत्तर ने
 पिता के पास सूचना देने के लिए द्वारपाल को भेजा ।
 राजकुमार की आज्ञा से द्वारपाल ने विराट के पास
 जाकर कहा—हे महाराज । विजयी राजकुमार,
 बृहन्नला के साथ, द्वार पर आ गये हैं । पुत्र के
 आने की सूचना से अत्यन्त प्रसन्न होकर विराट ने
 कहा—हे द्वारपाल ! तुम उन दोनों को अभी मेरे पास
 ले आओ । उन्हें देखने के लिए मैं बड़ा ही उत्कण्ठित

हो रहा हूँ । तब धर्मराज युधिष्ठिर ने चुपके से द्वारपाल
 के काग में कहा—तुम जाकर अकेले उत्तर को यहाँ ले
 आओ । बृहन्नला यहाँ न आने पावे, क्योंकि उसकी
 प्रतिज्ञा है कि जो कोई युद्ध के सिवा अन्य समय
 मेरे (युधिष्ठिर के) शरीर में पाव करेगा या मेरा
 रुधिर निकालेगा, उसे वह कभी जीता न रहने देगा ।
 इस कारण यदि बृहन्नला यहाँ आकर मेरे शरीर से
 रुधिर निकालेगा तो मन्त्री-सेना-वाहन आदि सटित
 राजा विराट का मार डालेगा ॥५०॥५६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय !
 इसी समय उत्तर ने सभा-भवन में जाकर पिता के

महेश्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पंच केकयाः ।
 आमुक्तकवचाः शूरास्तेऽवस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ३८ ॥
 यो दीर्घबाहुः क्षिप्रान्नो धृतिमान्स्त्वविक्रमः ।
 तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ ३९ ॥
 य आसीच्छरणं काले पांडवानां महात्मनाम् ।
 रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ॥ ४० ॥
 यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः ।
 स तेषामभवद्योढा तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४१ ॥
 शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महारामभिः ।
 आशीव्रिपसमस्पर्शैः पांडवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४२ ॥
 यः कृष्णसदृशो वीर्यं युधिष्ठिरसमो दमे ।
 नेनाऽभिमन्युना संख्ये पांडवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४३ ॥
 यश्चैवाऽप्रतिमो वीर्यं धृष्टकेतुर्महायशाः ।
 दुःसहः समरे क्रुद्धः शैथुपालिर्महारथः ॥ ४४ ॥
 तेन वश्वेदिराजेन पांडवा अभ्ययुञ्जत ।
 अक्षोहिण्या परिवृतः पांडवान्योऽभिसंश्रितः ॥ ४५ ॥
 यः संश्रयः पांडवानां देवानामिव वासवः ।
 तेन वो वासुदेवेन पांडवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४६ ॥
 तथा चेद्विपत्तर्भ्राता शरभो भरतर्षभ ।

केकय देश के पांच महारथी राजपुत्रा भी कौरवों में युद्ध करने के लिए तैयार हैं ॥३८॥

दीर्घबाहु, क्षिप्रान्नो, धीर और मत्स्यरायण क्षुण्णिश्रेष्ठ महावीर सात्विक युद्ध करने के लिए तैयार हैं ॥३९॥

अज्ञानवास के समय पाण्डवों की रक्षा करनेवाले राजा विराट आपमें युद्ध करने को तैयार हैं ॥४०॥

काशी के नये नरेश आर्यमें युद्ध करेंगे । युद्ध में दुर्जय, विप्रेने सर्प के बच्चे ऐसे, द्रौपदी के पावों पुत्र युद्ध करेंगे ॥४१॥४२॥

पराक्रम में श्री कृष्ण और इन्द्रियदमन में युधिष्ठिर के समान वीर अभिमन्यु आपके पुत्रों से युद्ध करेंगे ॥४३॥

क्रुद्ध होने पर समर में दुर्दय, महावीरगानी, महारथी, महायगम्बी चेदिराज धृष्टकेतु एक अक्षोहिणी

सेना साथ लिए पाण्डवों के पक्ष में हैं ॥४४॥४५॥ देवताओं में इन्द्र की तरह पाण्डवों में जोमाय-

मान महात्मा शौहृण्य मत्स्य तरह से पाण्डवों को सहायता करने के लिए कमर कम हुए हैं ॥४६॥

चेदिव्रत के गाई शरभ और कर्कप भी कौरवों

वैशम्पायन उवाच—शोणिते तु व्यतिक्रांते प्रविवेश बृहन्नला ।
 अभिवाद्य विराटं तु कंकं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥
 क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम् ।
 प्रशंसस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥
 त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनां दिवर्धन ।
 त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥
 पदं पदसहस्रेण यश्चरज्ञाऽपराध्नुयात् ।
 तेन कर्णेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ६९ ॥
 मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते ।
 तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७० ॥
 आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः ।
 सर्वक्षत्रस्य चाऽऽचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
 तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७१ ॥
 आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
 अश्वरथामेति विख्यातस्तेनाऽऽसीत्संगरः कथम् ॥ ७२ ॥
 रणे यं प्रेक्ष्य सीदंति हृतस्वा वणिजो यथा ।
 कृपेण तेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७३ ॥
 पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।
 दुर्योधनेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७४ ॥

सहित नष्ट हो जाते । यद्यपि आपने बिना अपराध के मुझे मारा है तो भी उसके लिए मैं आपको अपराधी नहीं समझता । यह प्रसिद्ध है कि बलवान् स्वामी लोग एकाएक अपने भूत्यों के ऊपर कुपित हो बैठते हैं । ॥६२।६५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा अनेमजय ! युधिष्ठिर की नाक से रुधिर टपकना बन्द होने पर बृहन्नला ने सभा में आकर राजा विराट को और ब्रह्म को प्रणाम किया । महाराज विराट बृहन्नला का अभिनन्दन करके उसके सामने ही युद्ध से लौटे हुए

उत्तर कुमार की प्रशंसा करने लगे ॥६६।६७॥

वे कहने लगे—हे बेटा ! तुमसे आज मैं पुत्र-वाला हुआ । तुम्हारे समान पुत्र भरे न हुआ है और न होगा । हे पुत्र ! लगातार युद्ध करके भी कभी न थकने या व्याकुल होनेवाले महारथी कर्ण से तुम किस तरह भिड़े ? सारे मसार में जिनके समान कोई योद्धा नहीं है उन भीष्म से तुमने किस तरह युद्ध किया ? वृष्णिवशी यादव, कौरव और अन्यान्य क्षत्रियकुलों के आचार्य, सब अर्धों के जाननेवाले, महाबली द्रोणाचार्य से तुमने कैसे युद्ध किया ? ॥६८।७२॥

आयसेन स दंडेन रथात्रागात्ररान्हयान् ।
 हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः ॥ २२ ॥
 अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः ।
 मया तात प्रतीपानि कुर्वन्पूर्वं विमानितः ॥ २३ ॥
 निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपाश्र्वां कांचनीं गदाम् ।
 शतघ्नीं शतनिर्हार्दां कथं शक्यंति मे सुताः ॥ २४ ॥
 अपारमल्लवागाधं समुद्रं शरवेधनम् ।
 भीमसेनमयं दुर्गं तात मंदास्तितीर्षवः ॥ २५ ॥
 क्रोशतो मे न शृण्वन्ति वालाः पंडितमानिनः ।
 विपमं नहि मन्यन्ते प्रपातं मधुदर्शिनः ॥ २६ ॥
 संयुगं ये गमिष्यन्ति नररूपेण मृत्युना ।
 नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ॥ २७ ॥
 शैत्र्यां तात चतुष्किष्कुं पडस्त्रिममितौजसम् ।
 प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्यंति मे सुताः ॥ २८ ॥
 गदां भ्रामयतस्तस्य भिंदतो हस्तिमस्तकान् ।

भार उंचे हैं; वेग में घोड़े से और बल में हाथी से भी बढ़कर हैं। वे चढ़वड़ाया करते हैं; उनके नेत्र सदा लाल रहते हैं ॥१९।२१॥

वे उग्रमूर्ति क्रूरकर्मा भीमसेन युद्ध में क्रोधित होकर लोहे की गदा से रथ, हाथी, घोड़े और मनुष्यों को अवश्य चूर-चूर कर डालेंगे। मैं पहले उन क्रोधी और श्रेष्ठ योद्धा भीमसेन के प्रतिशूल कार्य करके उनका अपमान कर चुका हूँ। इस समय उनकी उस सुवर्णमण्डित, लोहे के भौटे पहलों से सुडौल बनी हुई, सैकड़ों वज्रपात के समान मयङ्कर शब्द करनेवाली गदा के वेग और प्रहार को मेरे पुत्र कैसे सह सकेंगे ! ॥२२।२४॥

हे सज्जय ! मेरे दुष्टयुद्धि पुत्र वाणवेगन्वी मयङ्कर वेग से युक्त भीमसेनन्वी अथाह समुद्र के

वा जाना चाहते हैं। यद्यपि मैं नित्य चिन्ताया करता हूँ, तो भी मूर्ख होकर समझदारी का अभिमान रखनेवाले मेरे पुत्र उधर कान तरु नहीं देते शहद उतारनेवाला जैसे शहद के लिए ऊपर चढ़ता है, पर वहां से गिरने का जो खटका है उस पर ध्यान नहीं देता, वैसे मेरे पुत्र राज्य तो ले लेना चाहते हैं, परन्तु विनाश की ओर नेत्र उठाकर भी नहीं देखते। मनुष्य-रूपधारी यमगात्र भीमसेन से युद्ध करने जो जायेंगे वे अवश्य मार जायेंगे। हे सूनपुत्र ! शिक्क में रसकर चलाई गई, चार टाय लम्बी, छः कोनेवाली, भीमसेन की कठोर गदा को मेरे पुत्र कैसे सह सकेंगे ! ॥२५।२८॥

जब महाबली भीमसेन चारों ओर गदा घुमाकर हाथियों के मन्त्रक छोड़ेंगे, क्रोध से जोड़

दुर्योधनं विकर्णं च स नागमिव यूथपम् ।	
प्रभन्नमन्नवीक्षीतं राजपुत्रं महाबलः ॥ ५ ॥	
न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किञ्चन ।	
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज ॥ ६ ॥	
न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन्युद्धे मनः कुरु ।	
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि ॥ ७ ॥	
स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन्वज्रनिभाञ्छरान् ।	
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन् ॥ ८ ॥	
तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदुरुकंपश्च मारिष ।	
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥	
तत्प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।	
कुरुंस्तान्प्रहसन्राजन्संस्थितान्हृतवाससः ॥ १० ॥	
एकेन तेन वारेण पट्टथाः परिनिर्जिताः ।	
शार्दूलेनैव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥	
विराट उवाच—क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।	
यो मे धनमथाऽजैषीत्कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥	
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।	
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥	

होकर भागने लगे। तब ठन्ही देवकुमार ने दुर्योधन से कहा—हे कुरुराज दुर्योधन! कहा भागे जा रहे हो? भागकर हास्तिनपुर में भी तुम छुटकारा न पा सकोगे। इस समय अपना बल वीर्य दिखाकर, युद्ध करके, अपनी जान बचाने की चेष्टा करो। भागकर तो तुम किसी तरह बच नहीं सकते। युद्ध में जीत जाओगे तो सारी पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा बनोगे और मारे जाओगे तो स्वर्गलोक में जाकर सुख भोगोगे॥५८॥

ये बातें सुनकर दुर्योधन क्रोध से अधीर हो बैठे। वे अपने सचिवों और सहायकों सहित वज्र-

सदृश वाणों की वर्षा करते और क्रोधित सर्प की तरह फुफकारते हुए लौट पड़े। दुर्योधन की वह भयानक स्मृत देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये, हृदय धड़कने लगा। परन्तु उन सिंह के समान पराक्रमी साहसी देवकुमार ने हँसते हँसते अकेले ही उन छठों महा-रथियों को हरा दिया। उन्हें अचेत करके उनके बन्ध भी ले लिये। सिंह जैसे मृगों के झुण्ड को मारकर भगा देता है वैसे ही वे बली देवपुत्र सेना सहित कौरव धीरों को भगा करके उनका उपशाम करने लगे॥१११॥

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा ।
 पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च वंधुषु ॥ ५५ ॥
 संशये तु महत्त्वस्मिन्किं नु मे क्षममुत्तरम् ।
 विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचितयन् ॥ ५६ ॥
 द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत् ।
 मंदैर्नैश्वर्यकामेन लोभारपापमिदं कृतम् ॥ ५७ ॥
 मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्थाऽत्यंतगामिनः ।
 चक्रे प्रधिरिवाऽऽसक्तो नाऽस्य शक्यं पलायितुम् ॥ ५८ ॥
 किं नु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय ।
 एते नश्यन्ति कुरवो मंदाः कालवशं गताः ॥ ५९ ॥
 अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते ।
 श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥ ६० ॥

यथा निदाघेज्वलनः समिद्धो दहेत्कक्षं वायुना चोद्यमानः ।
 गदाहस्तः पांडवो वै तथैव हंता मदीयान्साहितोऽर्जुनेन ॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसाधपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

हे सन्जय ! ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान से दुःख नहीं दूर होता, बल्कि अत्यन्त दुःख उपस्थित होने पर उनमें ज्ञान ही मिट जाता है ॥५३॥
 लोक-व्यवहार को जाननेवाले जीवन्मुक्त ऋषि भी मुझ के समय मुझ का और दुःख के समय दुःख का अनुभव करने के लिए विवश होते हैं । तब मैं तो हजार तरह के ममता-मोह में कैदा हुआ हूँ ॥५४॥
 पुत्र, पौत्र, माई-बन्धु, इष्ट मित्र आदि के विनाश और कुन्वयुओं के मर्दानाश को मैं कैसे देख सकूँगा ? ॥५५॥
 मैं अच्छी तरह विचारकर देख लिया, मुझे कौरवों का नाश अनिवार्य जान पड़ता है ॥५६॥
 तब जुए के कारण ही कौरवों पर यह घट्ट आया है । राज्ञी मन्त्रमति दुर्बल ने मेरे सम्मुख पान करके यह अनिष्ट और अर्थद्वन्द्व ॥५७॥

अत्यन्त शीघ्र चलने और पकटनेवाले काल का यह धर्म है कि उसके फेर से रथ के पहिये की तरह मुझ और दुःख घूमा करते हैं । संझक जैसे रथ के पहिये में अलग नहीं हो सकती वैसे ही कोई मनुष्य हम कालचक्र के फेर से भागकर बच नहीं सकता ॥५८॥
 हे सन्जय ! मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? काठवश ये मन्त्रवादि कौरव काल के गुंड का गौर बनने का नैवार हैं । १०० पुत्रों के मरने पर मैं गिनवाम की प्यियों का रोना सुनूँगा । मुझे मरसे पटले मृत्यु क्यों नहीं ले जाती । जैसे गमियों में प्रज्ज्वलित दावानल वायु की साहायता पाकर वन का जलना है वैसे ही अर्जुन के सम्मुख हाथ में शिंघे हुए मयाजक भीमसेन मेरे ॥५९॥
 मोंग ॥५९॥६१॥

उद्योगपर्वण्ये क्व इत्यादिना अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

अथ वैवाहिकपर्व ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पंच पांडवाः ।
 स्नाताः शुक्लांबरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
 युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
 द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
 विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
 निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाऽग्नयः ॥ ३ ॥
 तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः ।
 आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥ ४ ॥
 श्रीमतः पांडवान्दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव ।
 मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥
 अथ मत्स्योऽब्रवीत्कंकं देवरूपमिव स्थितम् ।
 मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम् ॥ ६ ॥
 स किलाऽक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः ।
 अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—परिहासेऽस्य वाक्यं विराटस्य निशम्य तत् ।

सत्तरवा अध्याय ॥ ७० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् तीसरे दिन प्रतिज्ञा के बन्धन से मुक्त पांचों पाण्डव, स्नान आदि करके श्वेत वस्त्र और अनेक प्रकार के आभूषण पहनकर, राजा विराट की सभा में आये । [वहां आकर महाराज युधिष्ठिर राजा विराट के सिंहासन पर बैठ गये ।] द्वार पर जैसे मस्त हाथी की शोभा होती है, घर में वेदी पर जैसे अग्नि की शोभा होती है, वैसे ही विराट की सभा में श्रेष्ठ आसनों पर प्रभावशाली पांचों पाण्डव शोभायमान हुए ॥१॥२॥

इसी समय महाराज विराट राज-कार्य करने को

राजसभा में आये । वहां अग्नि के समान तेजस्वी पाण्डवों को [अपने] श्रेष्ठ आसन पर बैठे देखकर वे क्रुद्ध हो गये । फिर पल भर सोचकर उन्होंने, देवमण्डलों के बीच में बैठे हुए इन्द्र के समान, तेजस्वी घर्माज युधिष्ठिर से कहा—हे कङ्क ! मैंने तुम्हें असाक्षिण के लिए तुमको अपना मुख्य मुखिया बनाकर सभा में रक्खा था । हम समय तुम मूल्यवान् वस्त्र आभूषण पहनकर इस राज सिंहासन पर क्यों बैठ गये हो ॥१॥२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा विराट के ये वाक्य सुनकर, मुसकाने हुए अर्जुन ने, दिलीप के तौर पर कहा—हे राजेन्द्र ! ये इन्द्र के

स स्रष्टा जगतः कृष्णः पाण्डवानां जये धृतः	॥ ३ ॥
समस्तामर्जुनाद्विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमासवान् ।	
शौनेयः समरे स्थाता वीजवत्प्रवपञ्शरान्	॥ ४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पांचाल्यः क्रूरकर्मा महारथः ।	
मामकपु रणं कर्ता वलेपु परमास्त्रवित्	॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात् ।	
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते	॥ ६ ॥
अमानुवं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमंतरा ।	
न मे सैन्यास्तरिप्यन्ति ततः क्रोशामि संजय	॥ ७ ॥
दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीत्रान्द्रह्मवर्चसी ।	
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः	॥ ८ ॥
मित्रामात्यैः सुसंपन्नः संपन्नो युद्धयोजकैः ।	
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः	॥ ९ ॥
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पाण्डवः ।	
अनुशंसो वदान्यश्च हीमान्सत्यपराक्रमः	॥ १० ॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेंद्रियः ।	
तं सर्वगुणसंपन्नं समिद्धमिव पावकम्	॥ ११ ॥

के लिए आये हैं ॥१२॥

जो महाबली श्रीकृष्ण इच्छामात्र से इन्द्रसहित सब लोकों को वश में कर सकते हैं वही त्रिसुवन के उत्पादक श्रीकृष्ण पाण्डवों को जय दिलाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। शत्रु ही अर्जुन से सब अस्त्र-विद्या सीख लेनेवाले शिनिवंशतिलक वीर सात्यकि पाण्डवों की ओर से वीज ब्रोने की तरह युद्ध भूमि में वाण बरसावेंगे। क्रूर कर्म करनेवाले महारथी पाण्डुनन्दन धृष्टद्युम्न पाण्डवों का पक्ष लेकर हमसे युद्ध करेंगे ॥१५॥

हे संजय ! युधिष्ठिर के क्रोध, अर्जुन के पराक्रम,

भीमसेन के बल और नकुल-सहदेव की युद्ध-चातुरी से मुझे भय लगता है। मनुष्यश्रेष्ठ पाण्डव जिन अलौकिक अस्त्रों से युक्त वाणों की वर्षा करेंगे उन्हें सहकर जीते रहना मेरे सैनिकों की शक्ति से बाहर है। इसी से मैं इस तरह चिन्ता रहा हूँ ॥६॥७॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय रूपवाले, उदार श्रीमान्, ब्रह्मनेत्र-सम्पन्न, चतुर, बुद्धिमान्, धर्मपरायण, युद्ध के लिए उद्यत, महारथी, महावीर, मित्र-मन्त्री-मार्ग-समुर आदि महायुद्धों से युक्त, वीर, सम्मति को गुप्त रखनेवाले, दयाशील, दाता, लोकलज्जा का खयाल रखनेवाले, सफर पराक्रमी, बहुत से शास्त्रों

उत्तर उवाच—आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् ।

पूज्यंतां पूजनाहंश्च महाभागाश्च पांडवाः ॥ २४ ॥

विराट उवाच—अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।

मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।

एवं सर्वे सहामार्याः कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥

प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पांडवर्षभम् ।

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।

क्षंतुमर्हति तत्सर्वं धर्मात्मा ह्येष पांडवः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो विराटः परमाभितुष्टः समेत्य राजा समयं चकार ।

राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै सदंडकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥

पांडवांश्च ततः सर्वान्मत्स्यराजः प्रतापवान् ।

धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्टथा दिष्टथेति चाऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

समुपाघ्राय मूर्च्छानं संश्लिष्य च पुनः पुनः ।

युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ३० ॥

नाऽतृप्यद्दर्शने तेषां विराटो बाहिनीपतिः ।

स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥

यह अवसर प्राप्त हुआ है । इस कारण जो तुम्हारी सम्मति हो तो कहो, मैं अर्जुन को तुम्हारी बहन उत्तरा देकर मन्तुष्ट कर दूँ । उत्तर ने कहा—हे महाराज ! मेरी समझ में महारमा पाण्डव सर्वथा हमारे पूज्य और माननीय हैं । उन्हें पूजा और मान देने का ठीक समय भी आ पहुँचा है । इसलिए अब आप अवश्य सरकार के योग्य भागवान् पाण्डवों का उचित सरकार और सम्मान कीजिए ॥२२।२४॥

विराट ने कहा—मैं भी युद्ध में शत्रुओं के हाथ पड़ गया था । भीमसेन ने ही मुझे छुड़ाया है और मेरी गाँव शत्रुओं से छीनी है । तारतम्य यह है कि हम

लोगों ने इन्हीं पाण्डवों के बाहुबल से युद्ध में विजय पाई है । इसलिए आजो, हम लोग मन्त्रियों और नगरवासियों सहित युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को मनावें । आशा है, हमने बिना जाने-पहचाने जो कुछ कष्ट-सुना है उसे धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर क्षमा कर देंगे । ॥२५।२७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब प्रसन्नहृदय राजा विराट पहले महाराज युधिष्ठिर के पाम गये । सरकारपूर्वक शिष्टाचार के साथ उन्होंने राजा युधिष्ठिर को राजदण्ड, कोष और नगरीसहित अपना मारा राज्य अर्पण कर दिया । महापतापी राजा

भक्त्या ह्यस्य विरुद्धयन्ते तव पुत्रैः सदैव ते ।
 अनर्हानिव तु वधे धर्मयुक्तान्विकर्मणा ॥ १९ ॥
 योऽक्लेशयत्पांडुपुत्रान्यो विद्वेष्टयधुनाऽपि वै ।
 मर्वोपायैर्नियंतव्यः सानुगः पापपूरुषः ॥ २० ॥
 तव पुत्रो महाराज नाऽनुशोचितुमर्हसि ।
 श्रुतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ॥ २१ ॥
 यादिदं ते विलपितं पांडवान्प्रति भारत ।
 अनीशेनेव राजेंद्र सर्वमेनत्रिरर्थकम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते द्योगपर्वणि दानसायिपर्वणि सत्रववाक्ये चतुर्पंचमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

जानते हैं । वे आपको और आपके पुत्रों को आदर
 की दृष्टि से नहीं देखते । सब अर्जुन के ही पक्ष
 में जाकर आपके युद्ध करने को तैयार हैं । वे सब
 सदा से पाण्डवों के मक्क और आपके पुत्रों के
 विरोधी हैं । हे महागण ! आप शोक न करके
 अपने पापी पुत्र दुर्योधन को और उसके सहाइका
 साथियों को शीघ्र दण्ड देकर राह पर लाइए ।
 दुर्योधन ने अनुचित वषाय से कई बार घनात्मा
 और वध के अयोग्य पाण्डवों को मार डालने की

चेष्टा की है । वे मद्रा पाण्डवों को क्लेश पहुँचाते
 रहे हैं और अब भी उनके घोर शत्रुता रखते हैं ।
 हे महाराज ! यही बात जुष के समय मैंने और
 महात्मा विदुर ने भी कही थी । मैं दुर्योधन के
 पीछे यही कह चुका हूँ और इस समय उनके
 आगे भी कह रहा हूँ । इसी में मजबूती है । वो आप
 बसन्तर्पना दिवाते हुए पाण्डवों के लिए विनय करेंगे
 और पुत्रों को शासन के द्वारा राह पर नहीं लावेंगे तो
 आपका यह विधान करना बृथा है ॥१७२२॥

द्योगपर्व का चौबनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्तां पितृवन्मयि ॥ २ ॥
 प्रियो बहुतमश्चाऽऽसं नर्त्तको गीतकोविदः ।
 आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ॥ ३ ॥
 वयस्थया तथा राजन्सह संवत्सरोपितः ।
 अतिशंका भवेत्स्थाने तव लोकस्य वा विभो ॥ ४ ॥
 तस्मान्निमंत्रयेऽयं ते दुहितां मनुजाधिप ।
 शुद्धो जितेंद्रियो दांतस्तस्याः शुद्धिः कृता मया ॥ ५ ॥
 स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चाऽऽत्मनि वा पुनः ।
 अत्र शंकां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥
 अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात्परंतप ।
 स्नुषार्थमुत्तरां राजन्प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥ ७ ॥
 स्वस्तीयो वासुदेवस्य साक्षाद्देवशिशुर्यथा ।
 दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ८ ॥
 अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशांपते ।
 जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥
 विराट उवाच—उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुंतीपुत्रे धनंजये ।
 य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पांडवः ॥ १० ॥

रनिवास में आपकी कन्या के साथ रहा है। आपकी कन्या ने, गुप्त या प्रकट, सभी बातों में मुझ पर पिता के समान विश्वास किया है। मैं उसे अत्यन्त स्नेह के साथ नाचना-गाना आदि मिलाता था और वह मुझे पूजनीय गुरु के समान मानती थी। मैं उस चतुर कुमारी के साथ एक वर्ष तक रह चुका हूँ। यदि मैं इस समय उससे विवाह कर लूँगा तो आपको और अन्य लोगों को मेरे चरित्र के बारे में सन्देह होगा। हे महाराज ! मैंने निर्दोष चित्त से, जितेन्द्रिय रहकर, आपकी कन्या को शिक्षा दी है। वह यदि मेरे बेटे की स्त्री होगी तो किसी को आपकी कन्या

पर, मेरे पुत्र पर या मेरे चरित्र पर किसी प्रकार का दोष लगाने का अवसर नहीं मिलेगा। हे शत्रुदमन ! मैं निन्दा से बहुत भयभीत होता हूँ। इसी कारण उत्तरा को स्त्रीरूप से न ग्रहण करके पुत्रवधू के रूप से स्वीकार करता हूँ। श्रीकृष्ण का मानना, देवकुमार-सदृश तेजस्वी, प्रतापी, वीर, मेरा पुत्र अभिमन्यु आपका दामाद और उत्तरा का पति होने के लिए सब तरह उपयुक्त है ॥२।९॥

विराट ने कहा—हे अर्जुन ! तुम बड़े ही धर्मात्मा हो। उत्तरा के विवाह न करना तुम्हारे ही योग्य बात है। अब तुम जो कुछ ठीक समझो सो करो।

तानागतानाभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः ।	
पूजयामास विधिवत्सभृत्यघलवाहनान् ॥ १९ ॥	
प्रीतोऽभवद्दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे ।	
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २० ॥	
तत्राऽगमद्वासुदेवो वनमाली हलायुधः ।	
कृतवर्मा च हार्दिकयो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥	
अनाधृष्टिस्तथाऽक्रूरः सांघो निशठ एव च ।	
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥	
इंद्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः ।	
आययुः साहिताः सर्वे परिसंवत्सरोपिताः ॥ २३ ॥	
दश नागसहस्राणि हयानां च दशायुतम् ।	
रथानामवुदं पूर्णं निखर्वं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥	
वृष्ण्यंधकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः ।	
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥	
पारिवर्हं ददौ कृष्णः पांडवानां महात्मनाम् ।	
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक्पृथगनेकशः ।	
ततो विवाहो विधिवद्बृधे मत्स्यपार्थयोः ॥ २६ ॥	

स्वाध्यायनिरत और एक-एक अर्धाङ्गिणी सेना के अधिपति थे । परम पार्थिव राजा विराट ने अनेक देशों से आये हुए सब राजाओं का यथोचित स्वागत-सत्कार किया ॥१५१९॥

राजाओं के साथ उनके असंख्य सेवक, सेना और वाहन भी आये । अभिमन्यु की कन्या देने के आनन्द में राजा विराट मग हो रहे थे । अथ आनन्देश (हारका) से श्रीकृष्ण, बलभद्र, शूतवर्मा, हार्दिक्य, युयुधान, सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, माध्व, बलभद्र के पुत्र निशठ आदि यादव—अभिमन्यु और शुभद्रा की माय लेकर—आये । पाण्डवों के

सार्थी इन्द्रमेन आदि भी एक वर्ष के पश्चात् पाण्डवों के दिव्य रथ लेकर आनन्द देश से विराट की राजधानी में आये । श्रीकृष्ण के साथ दम हमार टार्थी, एक राम गोंडे, दम राम रथ, एक निमर्ष पैदल और शृष्णि, अन्वरु, भोज्र आदि वंशों के अनेक गढ़ापनांगी बोर्रा यादव आये ॥२०१२५॥

श्रीकृष्ण ने आकर पाण्डवों की राजाओं के योग्य बहुत सा धन, रत्न, दार्मी-दाग और लह-लह के वस्त्र दिये । इनके पश्चात् शुभ ब्राह्मणों में विधिपूर्वक विराट हुआ । दण्ड, नगाड़े, गुर्हा आदि बाजे बजने लगे । लह-लह के शृंगी और पशुओं के गीत बजाने

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम् ।
 द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद्बहुधनं-तदा ॥ ३६ ॥
 हुत्वा सम्यक्समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः ।
 राज्यं वलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ॥ ३७ ॥
 कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ ३८ ॥
 गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
 भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ ३९ ॥
 भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च ।
 तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
 नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ४० ॥

इति भीमन्महाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विममरितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

॥ समाप्तम् वैवाहिकपर्वम् ॥ ॥ समाप्तम् विराटपर्वम् ॥

किया और ब्राह्मणों की पूजा की। फिर उन्होंने प्रसन्नता-
 पूर्वक ददैन (यौतुक) के रूप में अपने दामाद को
 यापु के समान दीपगामी सात हजार घोड़े, दो सौ
 रथम हाथी, बहुत-सा धन-रत्न देकर राज्य, भेना
 और कोष तद्विस्त अरना शरीर तक अर्पण कर दिया।
 इस प्रकार विवाह का कार्य समाप्त होने पर राजा

युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को श्रीहृत्पुत्र का दिया हुआ सब
 धन, हजार गायें, रत्न, उत्तर-उत्तर के बस्त्र, भाम्पुष्य,
 मधारियां, पर्वण, शाने और पीने की सामग्रियां दी।
 दे भरतभेष्ट। तम समय विवाह की श्राद्धपानी छह-
 पुष्ट मनुष्यों से परिपूर्ण होने के बाद तम महान्
 काम्य से बहुत मुदायनी सगी ॥१६॥२०॥

विराटपर्व का बहुराज्या अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

विराटपर्व समाप्त हुआ ।

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भिस्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
 दुर्योधनस्याऽपि मतं यथावन्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥
 अज्ञायमाने च मते परस्य किं स्यात्समारभ्यतमं मतं वः ।
 तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः शुचिः कुलीनः पुरुषोऽग्रमत्तः ॥ २४ ॥
 दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां राज्यार्थदानाय युधिष्ठिरस्य ।
 निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
 समाददे वाक्यमथाऽग्रजोऽस्य संपूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥
 इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

को, युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा को और दोनों पक्षों के परस्पर सम्बन्ध को अच्छी तरह विचारकर, मिलकर और अलग-अलग, अपनी सम्मति दीजिए । ये पाण्डव सदा से सत्यनिष्ठ हैं और नियम के अनुसार अपनी प्रतिज्ञा का भी पालन कर चुके हैं । इसलिए अब जो शत्रु लोग आधा राज्य न देकर फिर छलकपट या बेईमानी का बरताव करें । तो ये घृतराष्ट्र के पुत्रों को अवश्य मार डालेंगे । कौरवों के इष्ट-मित्र और स्वजन यदि उनकी सहायता करेंगे, उनके साथ मिलकर युद्ध ठाँवेंगे और इन्हें राज्य प्राप्त करने में बाधा देंगे तो उन्हें भी पाण्डव अवश्य मारेंगे ॥ १६।२१ ॥

यह सत्य है कि पाण्डव संख्या में शत्रुओं से कम हैं, पर मेरी समझ में ये शत्रुओं को मारने में सब तरह समर्थ हैं । इनके भी सहायक इष्ट-मित्र अनेक हैं;

उनकी सहायता से ये अवश्य शत्रुओं को मारकर राज्य लेने का यत्न करेंगे । दुर्योधन का मत ठीक-ठीक नहीं जान पड़ता कि वह क्या करना चाहता है । दूसरे पक्ष का हाल जाने बिना हम लोग ठीक सम्मति नहीं कर सकते कि हमारा कर्तव्य क्या है । इसलिए मेरी सम्मति तो यह है कि पहले कोई ऐसा पुरुष यहाँ से दूत बनाकर कौरवों के पास भेजा जाय जो बे-लाग, अच्छे स्वभाव का, कुलीन, धर्मात्मा, श्रेष्ठ और सावधान हो । वह ऐसा पुरुष हो जो उन्हें समझाकर इस पर प्रसन्न कर सके कि वे युधिष्ठिर को आधा राज्य दे दें । हे महाराज ! श्रीकृष्ण के इन धर्मार्थयुक्त, पक्षपात-रहित, मधुर वचनों को सुनकर बलदेवजी ने उनकी प्रशंसा की और फिर आप अपना अभिप्राय प्रकट किया ॥२२।२६॥

उद्योगपर्व का पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

बलदेव उवाच—श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य वाभ्यं यथा धर्मवदर्थवच्च ।

अजातशत्रोश्च हितं हितं च दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥

अर्थं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः कुंतीसुतास्तस्य कृते यतन्ते ।

दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

बलदेवजी ने कहा—हे राजाओ ! श्रीकृष्ण ने जो राजा युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों के हित के

लिए धर्मार्थयुक्त वचन कहे, सो आप लोग सुन चुके । इस समय वीर पाण्डव आधा राज्य प्राप्त करने के

हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च समाह्वयदेवितुमाजमीढः ।

दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये युधिष्ठिरो यान्विपहेत जेतुम् ॥ १० ॥

उत्सृज्य तान्सौवलमेव चाऽयं समाह्वयत्तेन जितोऽक्षवत्याम् ।

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन अक्षेपु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥

संरंभमाणो विजितः प्रसह्य तत्राऽपराधः शकुनेर्न कश्चित् ।

तस्मात्प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु वैचित्रवीर्यं बहु सामयुक्तम् ॥ १२ ॥

तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः स्वार्थेनियोक्तुं पुरुषेण तेन ।

अयुद्धमाकांक्षन कौरवाणां साक्षैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥

साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत् युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे शिनिप्रवीरः सहस्रोत्पपात् ।

तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

कर्ण, दुर्योधन आदि अनेक पुरुष वहां पर ऐसे थे, जिन्हें ये सहज ही खेल में जीत सकते थे; किन्तु इन्होंने शकुनि से ही खेलना स्वीकार कर लिया। उसने इन्हें कपट-पांसे के खेल में जीत लिया। धूर्त शकुनि के साथ खेलने में हर बार इनकी हार के पांसे गिरने लगे, तब भी ये नहीं चेतते; हठ करके इन्होंने अपना सर्वस्व आप ही हार दिया। इसलिए इसमें शकुनि का कुछ अपराध नहीं है। इस कारण इनके दूत को धृतराष्ट्र के पास आकर नम्रता के साथ सामनीति-युक्त वचन कहने चाहिए। इस उपाय से इनका हठ दुर्योधन को अपनी इच्छा के अनुसार बनाकर आधा

राज्य देने के लिए प्रसन्न कर सकेगा। मैं कहता हूँ, कि तुम लोग युद्ध की इच्छा मत प्रकट करो, समझा-बुझाकर ही दुर्योधन से काम निकालो। सामनीति से सिद्ध हुआ प्रयोजन अच्छा होता है। युद्ध ठानने से अन्याय होगा। युधिष्ठिर युद्ध करना भी नहीं चाहते और उसमें किसी का भला भी न होगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! बलदेवजी की ये बातें सुनकर शिनिवीर सात्यकि कुपित होकर अपने आसन से उठ खड़े हुए और बलदेवजी के कथन की निन्दा करते हुए बोले ॥१०-१५॥

—०—

उद्योगपर्व का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सात्यकिरुवाच—यादृशः पुरुषस्याऽऽत्मा तादृशं संप्रभापते ।

यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभापसे ॥ १ ॥

संति वै पुरुषाः शूराः संति कापुरुषास्तथा ।

यद्ययं पापवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
 एवमप्ययमत्यंतं परान्नाऽर्हति याचितुम् ।
 कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ॥ १० ॥
 निवृत्तवासान्कौन्तेयान्य आहुर्विदिता इति ।
 अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ॥ ११ ॥
 न व्यवस्यंति पांडूनां प्रदातुं पैतृकं वसु ।
 अहं तु ताञ्जिज्ञैर्वाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
 पादयोः पातयिष्यामि कौंतेयस्य महात्मनः ।
 अथ ते न व्यवस्यंति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
 गमिष्यंति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।
 नहि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
 वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।
 को हि गांडीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ।
 मां चापि विपहेत्कुच्छं कश्च भीमं दुरासदम् ॥ १५ ॥
 यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
 विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥

समय वनवास की प्रतिज्ञा पूर्ण करके बाप-दादे के राज्य के अधिकारी हो चुके हैं । फिर ये क्यों नम्रता के साथ भीख सी मांगेंगे ? जो ये पराये धन की चाह करें, तो भी उन्हें शत्रुओं से भीख सी मांगना कभी उचित नहीं । पांडवों ने यद्यपि वन में रहकर प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली है, तो भी कौरव लोग कहते हैं कि पाण्डव लोग अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं कर सके—बीच में ही हमने उनका पता लगा लिया है । ऐसी दशा में कौरवों का धार्मिक या राज्य छीन लेने की इच्छा न रखनेवाला कैसे कहा जा सकता है ! ॥१६॥

महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुर के बार-

म्बार समझाने पर भी कौरव लोग पाण्डवों को उनके पिता का राज्य नहीं देना चाहते । इसलिए अब मैं उन्हें जो युद्ध में अपने पैने बाणों से घायल और विनीत बनाकर गदात्मा युधिष्ठिर के पांवों पर गिराऊंगा ॥१११३॥

इतने पर भी यदि वे धर्मराज के पांवों पर न गिरेंगे—धारण में न आवेंगे—तो मैं उन्हें मारकर सप्तर से दृष्टा दूंगा । पर्वत जैसे यज्ञ के वेग को नहीं सह सकते वैसे ही कौरव लोग कुपित सात्यकि के बाणों के वेग को युद्ध में नहीं सह सकेंगे । पृथ्वी पर ऐसा कौन है, जो गाण्डीव धनुष धारण करने-वाले अर्जुन के, चक्रपारी श्रीकृष्ण के, दुर्दर्भ भीम

भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौख्याद्राधेयसौवलयौ ॥ २ ॥
 बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
 एतद्धि पुरुषेणाऽग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
 न तु वाच्यो मृदु वचो धार्तराष्ट्रः कथंचन ।
 न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥
 गर्दभे मार्दवं कुर्याद्रोपु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
 मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात्पापचेतसि ॥ ५ ॥
 मृदु वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
 जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥
 एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
 प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयंतु नः ॥ ७ ॥
 शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
 केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छंतु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥
 स च दुर्योधनो नूनं प्रपथिष्यति सर्वशः ।
 पूर्वाभिपन्नाः संतश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥
 तत्स्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।
 महद्धि कार्यं वाढव्यमिति मे वर्त्तते मतिः ॥ १० ॥

चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

राजा द्रुपद ने कहा—हे महाबाहो! जैसा तुम
 कह रहे हो वैसा ही होगा, इसमें सन्देह नहीं।
 दुर्योधन कभी समझाने-बुझाने से राज्य न देगा।
 उससे मीठी बातचीत करना व्यर्थ है। पुत्रवत्सल
 धृतराष्ट्र भी उसी की हाँ में हाँ मिलायेंगे। भीष्म
 और द्रोणाचार्य दुर्योधन का अन्न खाते हैं, इसलिए
 उसके विरुद्ध कुछ न कह सकेंगे। कर्ण और शकुनि,
 मूर्खता के कारण, दुर्योधन की हाँ में हाँ मिलायेंगे।
 इस कारण बलदेव की सम्मति मेरे विचारमें युक्ति-
 सन्नत नहीं है। न्यायनिष्ठ पुरुष को सबसे पहले साम-
 नीति का ही प्रयोग करना चाहिये, यह बात ठीक

है; परन्तु दुर्योधन ऐसा पुरुष नहीं कि उससे नम्र
 बचन कहे जायें (११।१५)।

मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि पाप बुद्धिवाला
 दुर्योधन नम्रता के व्यवहार से कभी राज्य देने का प्रसन्न
 न होगा। उससे नम्रता और कोमलता का व्यवहार
 करना वैसा ही है, जैसे कोई गधे को पुचकारे और
 गाय या बैल को डण्डों से मारे। वह पापी समझाने-
 बुझानेवाले नम्र पुरुषों को शक्तिहीन और कायर
 समझता है। निरुद्धि पुरुष का स्वभाव यह होता
 है कि वह कोमलता के व्यवहार से और सिर पर
 चढ़ जाता है [उसे यह नहीं जान पड़ता कि यह

जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पंचनदा नृपाः ।
 काथपुत्रश्च दुर्द्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
 जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान्योऽतिमत्सकः ।
 पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
 तुंडश्च दंडधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
 अपराजितो निपादश्च श्रेणिमान्वसुमानपि ॥ २१ ॥
 बृहद्व्रलो महौजाश्च बाहुः परपुरंजयः ।
 समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
 उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
 श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
 कुमारश्च कलिंगानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
 एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥
 अयं च ब्राह्मणो विद्वान्मम राजन्पुरोहितः ।
 प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥
 यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शांतनवो नृपः ।
 धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

इति भीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि दुषदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

आपाङ्ग, वायुवेग, पूर्वपाली, भूरिजेजा, देवक, पुत्रों सहित एकलव्य, करूपदेश के राजा लोग, वीर्यशाली क्षेमधूर्ति, काम्बोजदेश के राजा लोग, ऋषिकेश के नरेश, पश्चिम अनुप देश के नरपतिगण, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेश के नरेशगण, दुर्द्धर्ष राजा काथ के पुत्र, पहाड़ी राजा लोग, बनक राजा के पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, योतिमत्सक, पांशुराष्ट्र के राजा, वीर्यवान् धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित निपादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्,

बृहद्व्रल, महौजा, शत्रुदमन राजा बाहुक, राजकुमार सहित पराक्रमी समुद्रसेन, उद्भव, क्षेमक, वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, बली शाल्वपुत्र, कुमार, महायोद्धा कलिङ्गराज आदि इन सब राजाओं के पास शीघ्र दूत भेजो । ये मेरे पुरोहित ब्राह्मण विद्वान् और चतुर हैं । इनको दूत बनाकर धृतराष्ट्र के पास भेजो । जो कुछ कहना है सो इन्हें बता दो । ये दुर्योधन, भीष्म, महारथी द्रोणाचार्य और धृतराष्ट्र से तुम्हारा संदेश जाकर कहेंगे ॥११।२६॥

उद्योगपर्व का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद्धृतराप्रूजः ।
 अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान्समाह्वयेः ॥ ९ ॥
 ततो दुर्योधनो मंदः सहामात्यः सचांधवः ।
 निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १० ॥
 वैशम्पायन उवाच—ततः सत्कृत्य वाष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः ।
 गृहात्प्रस्थापयामास सगणं सहचांधवम् ॥ ११ ॥
 द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
 चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥
 ततः संप्रेषयामास विराटः सह चांधवैः ।
 सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ १३ ॥
 वचनात्कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते ।
 समाजग्मुर्महीपालाः संप्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥
 तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद्वलम् ।
 धृतराप्रूसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

करेंगे । आप आचार्य द्रोण और कृपाचार्य के सखा हैं; धृतराष्ट्र भी आपको बहुत मानते हैं । आप ही पाण्डवों की ओर से उनके प्रयोजन को सिद्ध करने-वाला सँदेश, किसी मनुष्य के हाथ, कौरवों के पास कइला भेजिए । आप जो कुछ कइला भेजेंगे वही हम सब को स्वीकार होगा ॥४॥७॥

जो आपका कइला मानकर दुर्योधन न्यायानुसार पाण्डवों से मेल कर लेगा तो माइयों का परस्पर विरोध और स्वजनों का नाश न होगा । और जो मान के बारे दुर्योधन आपका कइला न माने—आधा राज्य देने के लिए प्रसन्न न हो—तो पहले अन्य राजाओं और इष्ट-मित्रों के पास रण का निमन्त्रण भेजकर पीछे से हमें भी जुलाइएगा । तब मूढ़ मन्द

बुद्धि दुर्योधन अपने मन्त्रियों और भाइयों के साथ कुपित अर्जुन के हाथ से अवश्य मारा जायगा । ८।१०।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् राजा विराट ने अनुचरों और बान्धवों सहित श्रीकृष्ण का सत्कार करके उन्हें द्वारका जाने के लिए विदा कर दिया । उनके द्वारका जाने पर युधिष्ठिर आदि पाण्डव और राजा विराट युद्ध की तैयारियाँ करने लगे । राजा विराट और राजा द्रुपद ने अपने भाई-बन्धुओं के साथ सम्मति करके सब राजाओं के पास रण का निमन्त्रण भेजा । राजा विराट, राजा द्रुपद और पाण्डवों का निमन्त्रण पाकर राजा लोग प्रसन्नतापूर्वक अपनी-अपनी सेना साथ लेकर विराट की राजधानी में आने लगे ॥११११४॥

आप वृद्ध, वेदज्ञ, ब्राह्मण और फिर दूत हैं; इसलिए आपको कौरवों से तनिक भी भय नहीं है। आज पुण्य योग और जय मुहूर्त है। युधिष्ठिर का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए आप शीघ्र कौरवों के यहां जाने को तैयार हुआ। वैशम्पायन ने कहा—

हे राजा जनमेजय! राजा द्रुपद के ये उपदेशयुक्त वचन सुनकर नीति-शास्त्र के प्रयोजनों में निपुण, विश्वास-पात्र, सचरित्र पुरोहित, पाण्डवों का हित करने के लिए, अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर में, कौरवों के पास गये ॥१७॥१९॥

उद्योगपर्व का छठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
 दूतान्प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥
 प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुपर्षभः ।
 स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥
 गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
 सह वृष्ण्यंधकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
 सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
 धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥
 स श्रुत्वा माधवं यातं सदश्वैरनिलोपमैः ।
 बलेन नाऽतिमहता द्वारकामभ्ययात्पुरीम् ॥ ५ ॥
 तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनंदनः ।
 आनर्त्तनगरीं रम्यां जगामाऽऽशु धनंजयः ॥ ६ ॥
 तौ यात्वा पुरुपव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनंदनौ ।

सातवा अध्याय ॥ ७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रुपद के पुरोहित इस प्रकार दूत बनकर हस्तिनापुर को पधारे। इसके पश्चात् पाण्डवों ने अन्य अनेक दूतों को सब देशों के राजाओं के पास भेजा। दूतों को और-और जगह भेजकर अर्जुन स्वयं द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण के पास गये ॥११२॥

हे राजेन्द्र! जब पृथिवी, अन्यक, भोजवंश के असंख्य यादवों सहित श्रीकृष्ण और बलदेव विराट नगरी से

द्वारकापुरी को गये थे, तभी गुप्त दूतों के द्वारा राजा दुर्योधन को पाण्डवों के जी का सब हाल मालूम हो गया था। उसको जब श्रीकृष्ण के द्वारका जाने का हाल मालूम हुआ तब वह, उसी दिन, वायु के समान शीघ्रगामी श्रेष्ठ घोड़ों की सवारी से बहुत थोड़ी सी सेना साथ ले द्वारका की ओर चल दिया। उसी दिन दैवयोग से अर्जुन भी शीघ्रता से रमणीय द्वारकापुरी को गये ॥३१६॥

तव पूर्वाभिगमनात्पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात् ।
 साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥
 प्रवारणं तु वालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः ।
 तस्मात्प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥
 मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
 नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥
 ते वा युधि दुराधर्षा भवंत्वेकस्य सैनिकाः ।
 अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥
 आभ्यामन्यतरं पार्थ यत्ते हृद्यतरं मतम् ।
 तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥
 वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
 अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
 नारायणमभिन्नं कामाजातमजं नृपु
 सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥
 दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमावरयत्तदा ।
 सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥

उनके माननीय हैं । इसलिए सज्जनों के सदाचार का पालन कीजिए ॥१०।१५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे दुर्योधन ! यह सत्य है कि व्याप पहले आये हैं, किन्तु मैंने पहले अर्जुन को ही देखा है । इसलिए मैं दोनों की सहायता करूँगा । यह बात प्रसिद्ध है कि बालकों की ही इच्छा पहले पूर्ण की जाती है, इसलिए आपसे पहले अर्जुन की इच्छा ही पूर्ण करनी चाहिए । मैं अपनी ओर से दो प्रकार की सहायताओं का प्रस्ताव करता हूँ । उनमें से अर्जुन जिस चाहें उसे ले लें । मेरे पास एक अर्बुद (१९ करोड़) नारायण नाम से प्रसिद्ध मेरे ही समान दृढ़-दरीरवाले बली, गोपों की सेना

है । उन योद्धाओं की नारायणी सेना एक ओर से युद्ध करेगी और एक ओर, युद्ध न करने का मण करके, निहरया मैं रहूँगा । हे अर्जुन ! इन दोनों प्रकार की सहायताओं में से जिसे तुम पसन्द करो, उसे ले लो । धर्मके अनुसार तुम्हीं को पहले अपनी इच्छा के अनुसार मागने का अधिकार है, (क्योंकि तुम दुर्योधन से छोटें हो । जो चाहे, पसन्द कर लो) ॥१६।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण के निहत्थे और युद्ध में विमुख रहने की बात सुनकर भी अर्जुन ने उन्हीं को माग लिया । अपनी इच्छा से यदुवश मैं उत्पन्न शत्रुनाशन नारायण को सबके आगे अर्जुन ने अब अपने पक्ष में ले

सोऽभ्ययात्कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः ।
 कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥ ३२ ॥
 स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः ।
 वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः संप्रहर्षयन् ॥ ३३ ॥
 ततः पीतांबरधरो जगत्सृष्टा जनार्दनः ।
 गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाऽब्रवीत् ॥ ३४ ॥
 अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाऽहं वृतस्त्वया ।

अर्जुन उवाच—भवान्समर्थस्तान्सर्वान्निहंतुं नाऽत्र संशयः ।
 निहंतुमहमप्येकः समर्थः पुरुषपथ ॥ ३५ ॥
 भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति ।

यशसां चाऽहमप्यर्थां तस्मादासि मया वृतः ॥ ३६ ॥
 सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा ।

चिररात्रेप्सितं कामं तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

वासुदेव उवाच—उपपन्नमिदं पार्थ यत्स्पन्दसि मया सह ।
 सारथ्यं ते करिष्यामि कामः संपद्यतां तव ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा ।
 वृतो दाशार्हप्रवरैः पुनरायाद्युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

इति भीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वाकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जीत का निश्चय करके, दुर्योधन कृतवर्मा यादव के पास गया। उसने अपनी एक अक्षौहिणी सेना दुर्योधन को दे दी। उस भयानक सेना को साथ लिए प्रसन्नता से दुर्योधन अपने इष्ट-मित्रों को आनन्दित करता हुआ हस्तिनापुर को गया ॥३१॥३३॥

उसके चले जाने पर पीतांबरधारी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—हे अर्जुन! तुमने मुझे युद्ध से विमुख जानकर भी क्या समझकर अपने पक्ष में लिया? ॥३४॥३५॥

अर्जुन ने कहा—हे यदुनन्दन! आपका यश त्रिभुवन में व्याप्त है और आप धृतराष्ट्र के सच पुत्रों को अकेले मार सकते हैं। परन्तु मैं अकेला ही उन

सब शत्रुओं को मारकर यशस्वी बनना चाहता हूँ। [मुझे विश्वास है कि मैं अकेला ही सब शत्रुओं को मार सकता हूँ।] इसी से मैंने आपको निश्चय और युद्ध से विमुख देखकर प्रसन्नता के साथ अपने पक्ष में लिया है। बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि इस महायुद्ध में आप मेरे सारथी बनें, सो मेरी यह इच्छा आप अवश्य पूर्ण कीजिये ॥३६॥३७॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! तब तरह यह तुम्हारे योग्य ही है कि तुम मेरी बराबरी का दावा रखते हो। मैं इस युद्ध में सारथी बनकर तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा ॥३८॥

रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
 शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः ।
 तत्र माल्यानि मांसानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥
 कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः ।
 वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥
 स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथाऽमरः ।
 दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समंततः ॥ ११ ॥
 आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
 स तत्र विषयैर्युक्तैः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥
 मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
 पप्रच्छ सततः प्रेष्यान्प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥
 युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।
 आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥
 प्रसादमेपां दास्यामि कुंतीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
 दुर्योधनाय तत्सर्वं कथयन्ति स्म विस्मताः ॥ १५ ॥
 संप्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
 गृहो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

शल्य के सरकार के लिए, दुर्योधन की आज्ञा में, बढ़िया कारीगरों ने रमणीय स्थानों में रत्नमण्डित सुसज्जित सभामवन बना दिये । उनमें मनोरञ्जन के लिए बहुत सी वस्तुएँ रखवा दी गई । माला, मांस, स्वादिष्ट खाने-पीने की सामग्री, कुर्से, अनेक आकार की बावलियाँ और जल के भीतर बने हुए घर उन स्थानों में थे ॥६।१०॥

प्रत्येक देश में, हर एक सभा में, दुर्योधन के मनुष्यों ने, शल्य की सेवा और सत्कार बढ़ चढ़कर किया । मद्राज शल्य इस प्रकार विश्राम और सुख भोगते हुए एक सभामवन में पहुँचे । वह सभामवन देवताओं के निवासभवन के समान अलौकिक सुल-

दायक पदार्थों से भरा हुआ था । उस स्थान को और बढ़ा की सामग्री को देखकर शल्य बहुत ही प्रसन्न हुए । ताड़-नरह के सत्कारों से सन्तुष्ट शल्य इन्द्र की भी अपने से कम सुखी समझने लगे । तब क्षत्रियश्रेष्ठ शल्य ने प्रसन्न होकर वहाँ उपस्थित कर्मचारियों से पूछा—युधिष्ठिर के किन मनुष्यों ने राह में ये ठहरने के [पट्टाव और रहने के] स्थान बनाये हैं ? मैं उन्हें पुरस्कार पाने के योग्य समझता हूँ । उन्हें ले आओ । मैं पारितोषिक दूँगा । मुझे पूर्ण आशा है कि युधिष्ठिर मेरे इस विचार का अनुमोदन करेंगे ॥११।१५॥

दुर्योधन छिपा हुआ शल्य के साथ ही था ।

स तथा शल्यमामंठ्य पुनरायात्स्वकं पुरम् ।
 शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ २४ ॥
 उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कंधावारं प्रविश्य च ।
 पांडवानथ तान्सर्वान्शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥
 समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुनैस्तदा ।
 पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥ २६ ॥
 ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः ।
 प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्य युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
 तथा भीमार्जुनौ कृष्णौ स्वस्त्रीयौ च यमावुभौ ।
 आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥
 कुशलं राजशार्दूल कच्चित्ते कुरुनंदन ।
 अरण्यवासाद्दिष्टयाऽसि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥
 सुदुष्करं कृतं राजनिर्जने वसता त्वया ।
 भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चाऽनया सह ॥ ३० ॥
 अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम् ।
 दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

में शीघ्र ही लौटकर आ जाऊंगा। चैशम्पायन ने कहा—
 हे राजा जगभेजय ! इसके पश्चात् दोनों परस्पर गले
 लगकर मिले। दुर्योधन तो शल्य से विदा होकर
 अपनी राजधानी को लौट गया और मद्रराज शल्य
 पाण्डवों से दुर्योधन की यह चतुर्गई बतलाने को
 उनके पास गये। मत्स्यराज विराट की राजधानी के
 उपप्लव्य प्रदेश में पहुँचकर, सेना की छावनी के भीतर
 जाकर, शल्य ने पाण्डवों से भेंट की ॥२३॥२५॥

बहुत दिनों के पश्चात् मामा शल्य को आये
 देखकर युधिष्ठिर आदि पाण्डव अपने आसनों से उठ
 बैठे। युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन अपने भागजे नकुल
 और सहदेव आदि से मिलकर शल्य को बड़ी प्रसन्नता

हुई। धर्मात्मा युधिष्ठिर ने पुरोहित के द्वारा गाय,
 पाद्य, अर्घ्य आदि देकर, हाथ जोड़कर, शल्य से
 कहा—हे राजेन्द्र ! हम आपका स्वागत करते हैं।
 यह आसन लीजिए और बैठिए। पाण्डवों के बीच
 में उस सुवर्णमय आसन पर बैठकर शल्य ने युधिष्ठिर
 से कहा—हे राजेन्द्र ! तुम सब प्रकार से सकुशल
 हो न ? बड़े ही भाग्य की बात है कि तुमने द्रौपदी
 और भाइयों सहित निर्जन वन में रहकर, घोर अज्ञात-
 वास व्यतीत करके, दुष्कर कार्य करते हुए अपनी
 प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली। हे भारतभ्रष्ट ! राज्य से भ्रष्ट
 पुरुष को दुःख के सिवा सुख कहाँ ? ॥२६॥३१॥

युधिष्ठिर उवाच—सुकृतं ते कृतं राजन्प्रहृष्टेनांऽतरात्मना ।	
दुर्योधनस्य यद्वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥	
एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते ।	
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥ ४१ ॥	
मम त्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते ।	
भवानिह महाराज वासुदेवसमो युधि ॥ ४२ ॥	
कर्णार्जुनाभ्यां संप्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम ।	
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नाऽत्र संशयः ॥ ४३ ॥	
तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन्यदि मत्प्रियमिच्छसि ।	
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ॥ ४४ ॥	
अकर्तव्यमपि ह्येतत्कर्तुमर्हसि मातुल ।	
शल्य उवाच—शृणु पाण्डव भद्रं ते यद्ब्रवीषि महात्मनः ।	
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य संगमे ॥ ४५ ॥	
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम् ।	
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥ ४६ ॥	
तस्याऽहं कुरुशार्दूल प्रतीपमाहितं वचः ।	
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७ ॥	

दिये हुए वरदान का सब समाचार युधिष्ठिर से कहा। ३९।
 तब धर्मराज ने शल्य से कहा—हे मामाजी!
 आपने प्रसन्न होकर जो कुछ किया वह बहुत अच्छा
 किया। हे वीर! आपने दुर्योधन से जो निधय
 कर लिया सो बहुत ठीक किया। किन्तु एक बात
 मैं भी आपसे करना चाहता हूँ। अकर्तव्य होने पर भी
 आप मेरी भलाई के लिए वह काम अवश्य करें।
 सुनिष, आप युद्ध में श्रीकृष्ण के समान हैं। जिस
 समय कर्ण और अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध होगा उस
 समय आपको अवश्य कर्ण का सारथी बनना पड़ेगा;
 क्योंकि रथ हाँकने की कला मैं आप श्रीकृष्ण से

कम नहीं हूँ। इसलिए जो आप मेरा हित करना
 चाहते हैं तो उस समय, हमारी जीत होने के लिए
 अर्जुन की सहायता कीजिएगा; अर्थात् कर्ण [के
 मुख पर उमकी निन्दा करके उस] का वरसाह कम
 करते जाइएगा। [इस प्रकार तेज पट जाने से कर्ण
 को माना अर्जुन के लिए सटन हो जायगा।] यद्यपि
 यह कार्य अनुचित है, तो भी आपको करना ही
 पड़ेगा ॥ ४०।४५॥

शल्य ने कहा—हे वरस! तुम्हारा मरना ही।
 तुम वीर कर्ण का तेज दारने के लिए जो कहते हो,
 वह मैं अवश्य करूँगा। कर्ण मुझे श्रीकृष्ण के समान

शल्य उवाच—शृणु राजन्पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।	
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिद्रेण भारत ॥ २ ॥	
त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद्देवश्रेष्ठो महातपाः ।	
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात्किलाऽसृजत् ॥ ३ ॥	
एंद्रं स प्रार्थयत्स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः ।	
तैस्त्रिभिर्वदनेधोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥	
वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चाऽपिवत् ।	
एकेन च दिशः सर्वाः पिघन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥	
स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मं तपसि चोद्यतः ।	
तपस्तस्य महत्तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥	
तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चाऽमिततेजसः ।	
विषादमगमच्छक्र इंद्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥	
कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत्तपः ।	
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं प्रसेत् ॥ ८ ॥	
इति संचित्य बहुधा बुद्धिमान्भरतर्षभ ।	
आज्ञापयत्सोऽप्सरसस्त्वपूपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥	

नवा अध्याय ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने कहा—हे मामाजी ! इन्द्र को किस-
लिए घोर दुःख सहना पड़ा ? क्रुपा करके कदिए ।
सुनने के लिए मेरा जी चाहता है ॥१॥

शल्य ने कहा—हे तात ! इन्द्राणी सहित
इन्द्र को जैसे दुःख प्राप्त हुआ, वह प्राचीन इतिहास
में तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥२॥

पूर्व समय में एक त्वष्टा नाम के महातपस्वी
देवताओं में श्रेष्ठ, प्रजापति थे । उन्होंने इन्द्र के
द्रोह से, उनका अनिष्ट करने के लिए, तीन सिर
का एक पुत्र उत्पन्न किया । उसके तीनों मुख सूर्य,
चन्द्र और अग्नि के समान थे । महातेजस्वी विश्वरूप
त्रिशिरा ने इन्द्र का पद छीन लेना चाहा । वे एक

मुख से वेदपाठ, दूसरे मुख से सुरा-पान और तीसरे
मुख से मानों सब दिशाओं को पी जायेंगे ॥३॥

इस तरह चारों ओर देख रहे थे । महातेजस्वी
विश्वरूप स्वभाव से ही तपस्वी, कोमल-प्रकृति, जिते-
न्द्रिय और धर्मनिष्ठ थे । वे इन्द्र-पद प्राप्त करने की
इच्छा से अत्यन्त कठिन तप करने लगे । महातेजस्वी
त्रिशिरा के सत्य और तप के बल को देखकर इन्द्र
को बड़ा खेद हुआ । वे सोचने लगे कि यह कहीं इन्द्र न
हो जाय । उन्होंने सोचा, क्या उपाय करना चादिए,
जिससे विश्वरूप यह महातप करना छोड़कर भोगों में
आसक्त हो जाय । तपके द्वारा बड़कर यह त्रिशिरा सप्त
भुवनों के राज्य पर अधिकार कर लेगा ॥६॥

कृतांजलिपुटाः सर्वा देवराजमथाऽब्रुवन् ।
 न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याञ्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
 यत्ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम् ।
 संपूज्याऽप्सरसः शक्रो विस्तृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
 चिंतयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर ।
 स तूष्णीं चिंतयन्वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
 विनिश्चितमतिर्धीमान्वधे त्रिशिरसोऽभवत् ।
 वज्रमस्य क्षिपास्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
 शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि वलीयसा ।
 शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
 अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम् ।
 मुमोच वज्रं संकुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
 स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः ।
 पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥
 तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम् ।
 न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

लगी। महातपस्वी त्रिशिरा इन्द्रियदमन करके भरे हुए समुद्र के समान अटल भाव से बैठे हुए थे, इसलिए वे अप्सराओं के प्रलोभन दिखाने पर भी न तो विचलित हुए, और न यह समझकर हर्षित ही हुए कि मुझे भरे तप का फल मिल गया। इस प्रकार कार्य सिद्ध न होने पर अप्सराएं इन्द्र के पास लौट गईं और हाथ जोड़कर कहने लगीं—
 हे भगवन् ! हम किसी उपाय से दुर्धर्ष तपस्वी त्रिशिरा के चित्त को चलायमान नहीं कर सकीं। हे महाभाग ! उनका धैर्य अटल है। अब आप अपना जो कर्तव्य समाक्षेप से कीजिए ॥१६॥१७॥

तत्र यथोचित सम्मान के साथ अप्सराओं को

विदा करके इन्द्र, त्रिशिरा के मारने का, उपाय सोचने लगे। कुछ देर तक सोचकर उन्होंने निश्चय किया कि वज्र-प्रहार करने से त्रिशिरा अवश्य मारा जा सकता है। दुर्बल शत्रु की जड़ जब दृढ़ हो रही हो तब प्रश्ल पुरुष को उसकी ओर से निश्चिन्त न रहना चाहिए। इस प्रकार शास्त्र के कथन पर विचार करके उन्होंने त्रिशिरा को मार डालने का निश्चय किया ॥२०॥२२॥

इन्द्र ने कुपित होकर अग्निबुल्य घोररूप, भयानक वज्र त्रिशिरा के ऊपर चलाया। वज्र की चोट से त्रिशिरा, कटकर गिरे हुए पर्वत-शिखर की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े। हे महाराज ! इस तरह स्वप्ना

तक्षोवाच—ऋरेण नाऽपत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा ।
ऋपिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ॥ ३४ ॥

शक उवाच—पश्चाद्भ्रमं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम् ।
शत्रुरेव महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ॥ ३५ ॥

अद्यापि चाऽहमुद्दिग्मस्तक्षत्रस्माद्विभेमि वै ।
क्षिप्रं छिंधि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ॥ ३६ ॥

शिरः पशोस्ते दास्यंति भागं यज्ञेषु मानवाः ।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन्क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ॥ ३७ ॥

शक्य उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेंद्रवचनात्तदा ।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाऽच्छिनत्तदा ॥ ३८ ॥

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्कामन्नण्डजास्त्वथा ।
कर्पिजलास्तित्तिराश्च कलर्विकाश्च सर्वशः ॥ ३९ ॥

येन वेदानधीते स्म पिवते सोममेव च ।
तस्माद्ब्रवन्नाद्विनिश्चरुः क्षिप्रं तस्य कर्पिजलाः ॥ ४० ॥

येन सर्वा दिशो राजन्पिबन्निव निरीक्षते ।
तस्माद्ब्रवन्नाद्विनिश्चरुस्तित्तिरास्तस्य पांडव ॥ ४१ ॥

यत्सुरापं तु तस्याऽऽसीद्ब्रवन् त्रिशिरसस्तदा ।
कलर्विकाः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

हं । हे बड़ई ! मेरा कहा करने में कुछ सोच-विचार मत करो ॥३३॥

बड़ई ने नम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा—हे देवराज ! इस ऋर कर्म से तुम्हें लज्जा नहीं आती! इस ऋपिपुत्र को मारने में तुम ब्रह्महत्या से नहीं डरे ॥३४॥

इन्द्र ने कहा—मैं कठिन [तप] धर्म करके पीछे इस पाप से छुटकारा पाऊंगा । यह महावीर्य तपस्वी मेरा शत्रु है । मैं इसे ब्रह्म से मार चुका हूँ, पर अभी तक भय और डबाकृतता बनी हुई है । इसलिए तुम शीघ्रता से इसके नीनों सिर काट डालो ।

मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि अब लोग तुम्हें यज्ञ में मारे गये पशु का सिर, यज्ञ के भाग में, दूँगे ॥३५॥३७॥ शक्य ने कहा—हे राजेन्द्र ! तप बड़ई ने, इन्द्र की आज्ञा पाकर, बुढ़ाई से त्रिशिर के तीनों सिर काट डाले । उन सिरों के कटेने पर छिद्रों से कर्पिजल (पपीदा), तीतर और कलर्विक (गौरैया) नाम के तीन प्रकार के पक्षी निकले । विधिरूप जिस मुँद में वेद-पाठ और सोम-पान करते थे, उससे कर्पिजल पक्षी निकले । जिस मुँद से वे मानों सब दिशाओं को पी लेंगे, पृथ्वी टाप्टे से देखते थे, उस मुँद में

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं क्रुरुसत्तम ।
 ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥
 अपावृत्याऽक्षिपद्वके शक्रं कोपसमन्वितः ।
 प्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु संभ्रांतास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ५२ ॥
 असृजंस्ते महासत्त्वा जृभिकां वृत्रनाशिनीम् ।
 विजृंभमाणस्य ततो वृत्रस्याऽऽस्यादपावृतात् ॥ ५३ ॥
 स्वान्यंगान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रांतो बलनाशनः ।
 ततः प्रभृति लोकस्य जृभिका प्राणसंश्रिता ॥ ५४ ॥
 जहृपुश्च सुराः सर्वे दृष्ट्वा शक्रं विनिःसृतम् ।
 ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ॥ ५५ ॥
 संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ ।
 यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ॥ ५६ ॥
 त्वप्सुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत ।
 निवृत्ते च तदा देवा विवादमगमन्परम् ॥ ५७ ॥
 समेत्य सह शक्रेण त्वप्सुस्तेजोविमोहिताः ।
 अमंत्रयंत ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ॥ ५८ ॥
 किं कार्यमिति वै राजन्त्रिचिंत्य भयमोहिताः ।
 जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम् ।
 उपविष्टा संदराग्रे सर्वे वृत्रवधेऽसवः ॥ ५९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इंद्रविजये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

वनके यों कहने पर महाबली वृत्रासुर तुरन्त देवपुरी
 में पहुँचा । कुवित वृत्रासुर ने घोर-युद्ध करत-करत
 इन्द्र को अपने विशाल मुख के भीतर रख लिया ।
 देवताओं ने व्याकुल होकर उसे मारने के लिए प्रबल
 जृभिका (जैमाई) को उत्पन्न किया । वृत्र ने जैमाई
 समय ज्योंही मुँह खोला त्योंही उसे इन्द्र, सब अन्न
 समेटकर, बाहर निकल आये । यह देखकर देवता

बहुत प्रसन्न हुए । तभी से सब जीवित प्राणी जैमाई
 लेते हैं ॥५०॥५४॥

इसके पश्चात् फिर वृत्रासुर और इन्द्र का घोर
 संग्राम होने लगा । बहुत दिनों तक लगातार संग्राम
 होता रहा । अब वृत्रासुर, त्वष्टा की तपस्या के प्रभाव
 से, अत्यन्त बड़ने लगा । यह देखकर इन्द्र बहुत
 व्याकुल हुए और युद्धभूमि छोड़कर भाग लड़े हुए ।

अमृतं चाऽऽहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे ।
 वलिं बध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः ॥ ७ ॥
 त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम् ।
 त्वं हि देवो महादेवः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ८ ॥
 गतिर्भव त्वं देवानां सेंद्राणाममरोत्तम ।
 जगद्रथासमिदं सर्वं वृत्रेणाऽसुरसूदन ॥ ९ ॥
 विष्णुरुवाच—अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम् ।
 तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथाऽसौ न भविष्यति ॥ १० ॥
 गच्छध्वं सर्षिगंधर्वा यत्राऽसौ विश्वरूपधृक् ।
 साम तस्य प्रयुंजध्वं तत एनं विजेष्यथ ॥ ११ ॥
 भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा ।
 अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्याऽऽयुधोत्तमे ॥ १२ ॥
 गच्छध्वमृषिभिः सार्द्धं गंधर्वैश्च सुरोत्तमाः ।
 वृत्रस्य सह शक्रेण संधिं कुरुत मा चिरम् ॥ १३ ॥
 शल्य उवाच—एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा ।
 ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःपरम् ॥ १४ ॥
 समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः ।
 तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश ॥ १५ ॥

आपने तीनों लोकों को तीन पग में नाप लिया है ।
 आपने ही पुत्र में दैत्यों को मारा और देवताओं को
 अमृत पिलाया है । महादैत्य वलि को बाधकर आपने
 ही इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया है । आप
 सब देवताओं के प्रभु और सब जगत् में व्याप्त हैं ।
 हे महादेव ! आप वह देव हैं जिनकी सब लोक बंदना
 करते हैं । हे शत्रुदमन ! इस समय वृत्रासुर ने सब
 जगत् को अपने अधिकार में कर लिया है ।
 इन्द्र-सहित हम सब देवताओं की गति या आश्रय
 आप ही हैं । इस समय वृत्रासुर से हमें बचाइए ॥६।९॥

विष्णु ने कहा—हे देवताओं ! मुझे तुम्हारी
 भलाई करनी चाहिए । इसलिए मैं तुम्हें ऐसा उपाय
 बताता हूँ जिससे तुम उस शत्रु को मार सकोगे ।
 तुम लोग ऋषियों और गन्धर्वों को साथ लेकर विश्व-
 रूपधारी वृत्रासुर के पास जाओ । वहा उसके साथ
 साम-नीति का व्यवहार करो । तब तुम उसको जीत
 सकोगे । मैं इन्द्र के श्रेष्ठ शस्त्र वज्र में अदृश्य भाव
 से प्रवेश करूंगा । इसलिए तुम लोग शीघ्र ही जाकर
 वृत्रासुर से इन्द्र की संधि करा दो ॥१०।१३॥
 शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब विष्णु

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं ब्रूयाच्चाऽर्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु धीरः ।

महार्थवत्सत्पुरुषेण संगतं तस्मात्संतं न जिघांसेत धीरः ॥ २४ ॥

इंद्रः सतां संमतश्च निवासश्च महात्मनाम् ।

सत्यवादी ह्यनिद्यश्च धर्मवित्सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा ।

एवं विश्वासमागच्छ मा ते भूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥

शक्य उवाच—महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः ।

अवश्यं भगवंतो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥

ब्रवीमि यदहं देवास्तत्सर्वं क्रियते यदि ।

ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥

न शुष्केण न चाऽऽर्द्रेण नाऽश्मना न च दारुणा ।

न शस्त्रेण न चाऽस्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥

वध्यो भवेयं विप्रैर्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः ।

एवं मे रोचते संधिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥

वाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ ।

एवं वृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

पश्चात् जो होना है वह तो होगा ही । सत्सङ्ग का अवसर हाथ में न जाने देना चाहिए । इसी कारण सत्सङ्ग एक प्रार्थनीय वस्तु है । सज्जनों का सङ्ग अर्थात् मित्रता दृढ़ होती है । धीर पुरुष धार्मिक कष्टके समय उसे ही धन समझते हैं । सज्जनों का समागम एक अमूल्य और प्रयोजनीय पदार्थ है । इसी लिए धीर पुरुष को चाहिए कि सज्जन से द्रोह और उसकी हिंसा करने की इच्छा अपने मन में न रखे । इन्द्र सज्जन है और महात्मा पुरुषों के लिए आश्रयरूप हैं । इसके सिवा वे सत्यवादी, प्रशंसनीय, धर्मज्ञ और सूक्ष्मदर्शी भी हैं । इसलिए तुम विश्वास करके सदा के लिए उनसे मित्रता कर लो । निरर्थक सोच-

विचार मत करो ॥२१।२६॥

ऋषियों के यों कहने पर तेजस्वी वृत्रासुर ने कहा—हे तपस्वियो ! इसमें सन्देह नहीं कि आप मेरे पूजनीय हैं । अच्छा, मैं जो कुछ कहता हूँ उसे देवता लोग मान लें तो मैं उनके साथ मित्रता कर सकता हूँ । देखिए, इन्द्र और सब देवता मुझे सूखे या गीले पदार्थ से, लोहे के शस्त्र या लकड़ी से, पत्थर से, किसी अस्त्र से, दिन को या रात्रि को न मार सकें । इस प्रतिज्ञा पर मैं इन्द्रसे सन्धि करने को प्रसन्न हूँ। २।३०।

ऋषियों ने देवताओं की ओर से सब स्वीकार कर लिया । इस प्रकार सन्धि हो जाने पर वृत्रासुर बहुत प्रसन्न हुआ । इन्द्र भी बहुत प्रसन्न हुए और

ततो देवाः संगंधर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः ।
 ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन्विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥
 नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसांत्वयत् ।
 हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥
 विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मावित् ।
 ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
 अनुतेनाऽभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः ।
 त्रैशीर्षयाऽभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महृत्यया ॥ ४४ ॥
 सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
 न प्राज्ञायत देवैर्द्रस्त्वभिभूतः सकलमपैः ॥ ४५ ॥
 प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाऽप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
 ततः प्रनष्टे देवैरे ब्रह्महृत्याभयार्दिते ॥ ४६ ॥
 भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
 विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७ ॥
 संक्षोभश्चापि सत्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
 देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

उस फेने-सहित वज्र के भीतर प्रवेश करके विष्णु ने वृत्रासुर को मार डाला। वृत्रासुर के मरने पर दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं। सुख पहुंचानेवाली शीतल वायु चलने लगी ॥३७।४७॥

त्रिलोकी की प्रजा प्रसन्न हो उठी। तप देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग और ऋषिगण इन्द्र की स्तुति करने लगे। मय प्राणियों ने इन्द्र को प्रणाम किया, इन्द्र ने भी उन्हें धैर्य दिया। देवताओं-सहित इन्द्र, शत्रु को मारकर, बहुत प्रसन्न हुए। फिर धर्मज्ञ इन्द्र ने त्रिभुवन में श्रेष्ठ विष्णु की पूजा की। हे महाराज! सब देवताओं के लिए भयङ्कर, महापराक्रमी वृत्रासुर के मरने पर इन्द्र को ब्रह्महत्या

के पाप ने घर दबाया। इससे वे बहुत चिन्तित हुए। एक तो पहले त्रिशिरा के मारने से ब्रह्महत्या लगी ही थी, दूसरे अब वृत्रासुर को भी मारने से दूसरी ब्रह्महत्या सताने लगी। ब्रह्महत्या से पीड़ित इन्द्र अचेत से होकर सब लोकों के बाहर जाकर जल में छिप रहे और तड़पते हुए सर्प की तरह वही रहने लगे ॥४१।४६॥

ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र जब भाग गये तब सारी पृथ्वी तजड़ गई, वन सूख गये, ढरे-भरे वृक्षों का नाम भी न रह गया। नदियों का बहना बन्द हो गया और सरोवर सूखने लगे। वर्षा न होने से सब प्राणी व्याकुल हो उठे। देवता और

परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः	।
अभिषिच्यस्व राजेंद्र भव राजा त्रिविष्टपे	॥ ६ ॥
देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा	।
पितृगंधर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम्	॥ ७ ॥
तेज आदास्यसे पश्यन्बलवांश्च भविष्यसि	।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव	॥ ८ ॥
ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे	।
अभिषिक्तः स राजेंद्र ततो राजा त्रिविष्टपे	॥ ९ ॥
धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत्	।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे	॥ १० ॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत	।
देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च	॥ ११ ॥
कैलासे हिमवत्प्रष्टे मंदरे श्वेतपर्वते	।
सह्ये महेंद्रे मलये सुमुद्रेषु सरित्सु च	॥ १२ ॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः	।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन्बहुविधं तदा	॥ १३ ॥
शृण्वन्दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः ।	
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम्	॥ १४ ॥

राज्य की रक्षा करो । हमको आपस में ही परस्पर बढ़ा भय है । स्वर्ग-राज्य में अपना अभिषेक कराकर तुम हमारे राजा बनो और हमारा भय दूर करो । हम तुमको यह शक्ति देते हैं कि देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितृगण, भूतगण आदि में से जो कोई सामने आवेगा उसके तेज और बल को तुम देखते ही हर लोगे । तुम बड़े बलवान् बन जाओगे । अब तुम कृपा करके धर्मपालन करते हुए त्रिसुवन के राजा बनो और त्रिसुवनमें ब्राह्मणों, ऋषियों और देवताओं की रक्षा करो ॥५१५॥

शरय कहते हैं—देवताओं के कहने से नहुष ने दुर्लभ देव-राज्य स्वीकार कर लिया । वे धर्म के अनुसार सब लोकों के स्वामी हो गये । सदा के धर्मात्मा राजा नहुष स्वर्ग में कामात्मा बन गये । देवराज नहुष अप्सराओं और देवकन्याओं के साथ नन्दन आदि देवताओं के उद्यानों में, कैलास, हिमवान्, मन्दराचल, श्वेतपर्वत, सह्य, महेंद्र, मलय आदि पर्वतों पर, तथा समुद्रों और नदियों के किनारे जाकर अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे ॥१०१३॥ वे सुनने में मनोहर दिव्य कथाएँ, सब तरह

यदुक्ताऽसि मया देवि सत्यं तद्भविता ध्रुवम् ।
 द्रक्ष्यसे देवराजानभिद्रं शीघ्रमिहाऽऽगतम् ॥ २४ ॥
 न भेतव्यं च नहुपात्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
 समानयिष्ये शक्रेण न चिराद्भवतीमहम् ॥ २५ ॥
 अथ शुश्राव नहुपः शक्राणीं शरणंगताम् ।
 बृहस्पतेरंगिरसश्चक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

इति भीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस समय, मेरा सतीत्व बचाकर, सत्य कीजिए । तब
 बृहस्पतिने भयभीत हुई-हुई इन्द्राणी से कहा-हे देवी !
 मैं जो तुमसे कह चुका हूँ सो अवश्य सत्य होगा ।
 तुम्हें शीघ्र ही यहाँ आये हुए इन्द्र के दर्शन होंगे ।
 नहुप से मत भयभीत होओ । मैं सत्य कहता हूँ कि

शीघ्र ही इन्द्र से तुमको मिला दूँगा । हे महाराज !
 उधर जब नहुप को यह सूचना मिली कि इन्द्राणी
 व्याजिरस बृहस्पति की शरण में गई हैं तब उनके
 क्रोध का ठिकाना न रहा ॥२०॥२६॥

उद्योगपर्व का ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

शल्य उवाच—कुञ्चं तु नहुपं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः ।
 अत्रुवन्देवराजानं नहुपं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥
 देवराज जहि क्रोधं त्वयि कुब्जे जगद्विभो ।
 प्रस्तं सासुरगंधर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥
 जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः ।
 परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥
 निवर्तय मनः पापात्परदारामिदर्शनात् ।
 देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

चारहवाँ अध्याय ॥ १२ ॥

शल्य कहते हैं कि देवताओं और ऋषियों ने
 नहुप का क्रोध बढ़ता देखकर नम्रता के साथ उनसे
 कहा—हे देवराज ! क्रोध के वेग को शान्त कीजिए ।
 आपका कुपित देखकर असुर, गन्धर्व, किन्नर, नाग
 आदि सब जगत् के जीव भयभीत हो गये हैं । हे

देवेन्द्र ! क्रोध को शान्त कीजिए । आप सरीखे
 महानुभाव क्रोध नहीं करते । शची देवी पराई स्त्री
 हैं, इसलिए प्रसन्न होकर पर-स्त्री-नामन के पाप-कर्म से
 अपने मन को हटा लीजिए । आपका मला हो । आप
 देवराज हैं; धर्म के साथ प्रजा का पालन कीजिए ॥१४॥

देवा ऊचुः—त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजंगमम् ।
 एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुपं प्रति ॥ २९ ॥
 क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत् ।
 नहुपो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३० ॥
 एवं विनिश्चयं कृत्वा इंद्राणी कार्यसिद्धये ।
 अभ्यगच्छत सत्रीडा नहुपं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥
 दृष्ट्वा तां नहुपश्चापि वयोरूपसमन्विताम् ।
 समदृष्यत दुप्रात्मा कामोपहतचेतनः ॥ ३२ ॥

इति भीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इंद्राण्यकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने यह अच्छा उपाय बताया; इससे सब देवताओं का कल्याण होगा। अब इंद्राणी को नहुप के पास चलने के लिए प्रसन्न करना चाहिए। इसके पश्चात् अग्नि आदि सब देवता, लोगों के हित को इच्छा से, इंद्राणी से कहने लगे—हे देवी ! तुमने इस जगत् को धारण कर रक्खा है। तुम पतिव्रता और सत्यवादिनी हो। इस समय तुम नहुप के पास चली चली। तुम्हारे बारे में नुरा विचार

रक्षनेवाला नहुप अपने पाप से आप ही नष्ट होजायगा फिर इंद्र को देव-राज्य मिल जायगा ॥२७३०॥ देवताओं के यों निश्चय करने पर, अपना काम निकालने के लिए, देवी लज्जिन सी होकर क्रोध के मोर घोर रूप धारण किये हुए नहुप के पास गईं। सुन्दर रूप और उच्चम अवस्थावाली इंद्राणी को देव-का कामान्ध दूषित-हृदय नहुप बहुत प्रसन्न हुए। ॥३१३२॥

उद्योगपर्व का बाहरवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

शरप उवाच—अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुपो देवराट् तदा ।
 त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते ॥ १ ॥
 भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णानि ।
 एवमुक्त्वा तु सा देवी नहुपेण पतिव्रता ॥ २ ॥
 प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा ।

तेरदवा अध्याय ॥ १३ ॥

नहुप ने कहा—हे सुन्दरी ! मैं त्रिभुवन का स्वामी इंद्र हूँ; इसलिए तुम मेरी रानी बनकर मुझे स्वीकार करो। पतिव्रता इंद्राणी ने नहुप की बातें

सुनकर मन ही मन प्रसा की प्रणाम किया। उस समय भय के मोर विह्वल और आंशु से टिमिने हुए केन के पैर की तरफ बरिनी हुई ये शप आइकर

त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्याया ॥ १२ ॥
 वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश ।
 तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
 मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ।
 पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
 पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ।
 स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
 किञ्चित्कालमिदं देवा मर्षयध्वमतंद्रिताः ।
 श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणीं ताममृतोपमाम् ॥ १६ ॥
 ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
 यत्र शक्रो भयोद्विभस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥
 तत्राऽश्वमेधः सुमहान्महेन्द्रस्य महात्मनः ।
 ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥
 विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च ।
 पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥
 संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः ।
 विज्वरो भूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ॥ २० ॥

रक्षा के लिए ही विष्णुरूप धारण किया है—अर्थात् सर्वव्यापक हुए हैं। वृत्रासुर आपके ही पराक्रम और तेज से मारा गया है। हे देवश्रेष्ठ! तभी से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी है। अब आप कृपा करके ऐसा उपाय बताइए, जिससे इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा पा जायें ॥७१३॥

इस पर विष्णु ने कहा—हे देवताओं! इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञ करके मेरी आराधना करें तो मैं उन्हें पवित्र कर दूँ। महायज्ञ करने से इन्द्र फिर निर्भय इन्द्रपद प्राप्त कर सकेंगे। दुर्मति नहुष अपने कर्मों के फल से आप ही नष्ट होगा। किन्तु कुछ समय

तक तुम लोग ठहर जाओ। हे महाराज युधिष्ठिर! विष्णु भगवान् की यह श्रुत, सत्य और अमृततुल्य वाणी सुनकर सब देवता—गुरु वृहस्पति और अन्य महर्षियों को साथ लेकर—उस स्थान पर पहुंचे जहां भयभीत हुए और व्याकुल हुए इन्द्र छिपे हुए-हुए थे। उसी स्थान पर महेन्द्र ने महायज्ञ अश्वमेध की दीक्षा ली। ब्रह्महत्या को मिटानेवाला वह यज्ञ इन्द्र की पवित्रता के लिए होने लगा। हे राजा युधिष्ठिर! इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या नदियों, वृक्षां, पर्वतों, स्त्रियों और पृथ्वी को बांट दी। इस प्रकार पांच जगह पाप बांट देने पर इन्द्र पाप, भय और सन्ताप से छुटकारा

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

शल्य उवाच—अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः ।
 तां वयोरूपसंपन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
 इंद्राणीं संप्रहृष्टात्मा संपूज्यैनामथाऽब्रवीत् ।
 इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥
 उपश्रुतिरुवाच—उपश्रुतिरहं देवि तवांऽतिकमुपागता ।
 दर्शनं चैव संप्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥
 पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च ।
 दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिपूदनम् ॥ ४ ॥
 क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम् ।
 ततस्तां प्रहितां देवीर्मिन्द्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥
 देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूस्ततः ।
 हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
 समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम् ।
 आससाद् महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥
 तत्राऽपश्यत्सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम् ।
 शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवाऽऽयतं शुभम् ॥ ८ ॥

चौदहवा अध्याय ॥ १४ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! शची देवी के ध्यान करने पर सुन्दर अवस्था और रूप धारण किये हुए उपश्रुति देवी प्रकट होकर इंद्राणी के पास आई । उन्हें देखकर इंद्राणी बहुत प्रसन्न हुई । उनकी पूजा करके इंद्राणी ने कहा—हे देवी ! मैं यह जानना चाहती हूँ कि तुम कौन हो ॥ १।२॥

उपश्रुति ने कहा—हे शोभने ! मेरा नाम उपश्रुति है । मैं तुम्हारे पास आई हूँ । सत्य के बल से तुम्हें मेरे दर्शन हुए हैं । तुम पतिव्रता, सत्य पर मेम रखने वाली और यम-नियम आदि से पवित्र हो । मैं तुमको

वृत्रविनाशन इन्द्र के दर्शन कराऊंगी । शीघ्र ही मेरे साथ चलो, अभी तुम्हें इन्द्र के दर्शन होंगे और तुम्हारा कल्याण होगा ॥३।५॥

अब उपश्रुति देवी चली । इंद्राणी भी उनके पीछे पीछे हो लीं । देववन, बहुत से पर्वत और हिमवान् को लापती हुई उपश्रुति देवी उसके उत्तर और के प्रदेश में पहुँची । अनेक योजनों तक फैले हुए समुद्र के पास जाकर वे एक महाद्वीप में पहुँचीं । उस द्वीप में अनेक प्रकार के वृक्ष और लताएं लगी हुई थीं । उसके भितर इंद्राणी ने सौ योजन लम्बा

प्रकाशयाऽऽत्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदनम् ।

नेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८ ॥

इति भीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्त्ववे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

गर्वित हो गया है कि उसने मुझे अपनी मेवा करने के लिए बुलाया है। उम क्रूर ने मुझे कुछ समय दिया है कि मैं तुम्हारा पता लगा सकू। सो हे प्रभो! जो तुम मेरी रक्षा नहीं करोगे तो वह दुष्ट मुझे अपने वश में कर लेगा। हे इन्द्र! इसी के लिए मैं शीघ्रता

के साथ तुम्हारे पास आई हूँ। तुम पापविचार रखने-वाले भयानक नहुप को मारो। हे दैत्यों और दानवों के शत्रु! तुम प्रकट होकर अपने पहले का तेज प्राप्त करो और देवलोक का राज्य करो ॥१५।१८॥

—०—

उद्योगपर्व का चौदहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

शल्य उवाच—एवमुक्तः स भगवाञ्ज्ञच्या तां पुनरब्रवीत् ।

विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो चलवत्तरः ॥ १ ॥

विवर्द्धितश्च ऋषिभिर्हव्यैकव्यैश्च भाविनि ।

नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

गुह्यं चैतत्त्वया कार्यं नाऽऽख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।

गत्वा नहुषमेकांते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३ ॥

ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।

एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।

एवमस्तिवत्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५ ॥

पद्महवा अध्याय ॥ १५ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! प्रिया की ये बातें सुनकर इन्द्र ने कहा—हे प्रिये! राजा नहुष ऋषियों के दिव्ये हुए हव्य (देवताओं के भाग) और कव्य (पितरों के भाग) को पाकर प्रचल हो रहे हैं। इसलिए यद्वा पर नीति से काम लेना चाहिए। मैं तुमको एक गुप्त उपाय बताता हू; तुम किसी से उसकी चर्चा न करना। एकान्त में नहुष के पास जाकर

तुम कहो कि हे त्रिलोकी के ईश्वर! तुम मुझसे मिलने के लिए ऋषियों की दिव्य सवारी पर चढ़कर आओ। ऐसा करोगे तो मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। मुझे विश्वास है कि इस युक्ति से तुम्हारा उपकार और नहुष का नाश हो जायगा ॥१।४॥

यह सुनकर कमलनयनी इन्द्राणी "देसा ही कलूँगी" कहकर नहुष के पास गई। देखते ही नहुष

सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।

न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

शल्य उवाच—एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।

उवाच वचनं चापि सुरेंद्रस्तामर्निदिताम् ॥ १५ ॥

नहुष उवाच—अपूर्ववाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।

दृढं मे रुचितं देवि त्वद्दशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान्कुरुते मुनीन् ।

अहं तपस्वी बलवान्भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

देवदानवगंधर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥

न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते ।

चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥

तस्मात्ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।

सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ॥ २० ॥

पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ।

शल्य उवाच—एवमुक्त्वा तु तां देवीं विस्तृज्य च वराननाम् ॥ २१ ॥

चले । तुम देखते ही सबका तेज हर लेते हो, कोई पराक्रमी तुम्हारे सामने नहीं ठहर सकता। इस प्रकार नये बाहन पर चलना तुम्हारे योग्य ही होगा, क्योंकि तुम सब देवताओं और दैत्यों से बड़कर हो ॥ १३।१४ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! अब देवराज नहुष इन्द्राणी के वचन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए । वे कहने लगे—हे देवी ! यह तुमने बड़ा अपूर्व वाहन बतलाया, मैं इस बाहन को बहुत अच्छा समझता हूँ । मैं तुम्हारे वश में हूँ; इस कारण अवश्य तुम्हारा कटा करूँगा । योद्धी शक्ति और प्रभाववाला पुरुष तपस्वी मुनियों को अपने वाहन में नहीं लगा सकता । मैं तपस्वी, बलवान्, त्रिकालज्ञ और भूत-भविष्य-चर्च-

मान का स्वामी हूँ, यह जगत् मेरे आश्रय में स्थिर है ॥ १५।१७ ॥

मेरे कुपित होने पर मोरे जगत् का नाश हो सकता है । मैं क्रोध करूँ तो देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस आदि कोई मेरे आगे नहीं ठहर सकते । मैं जिसकी ओर देख लेता हूँ उसी के तेज को हर लेता हूँ । इसलिए हे देवी ! मैं तुम्हारा कटा करूँगा । सप्तर्षिगण और अन्य ब्रह्मर्षिगण अपने कन्ध पर मेरी पालकी ले चलेंगे । तुम मेरी मट्टियाँ और बल-बैभव को देखो ॥ १८।२० ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! अब बल गर्वित नहुष ने इन्द्राणी को तो विदा कर दिया और

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च ।

पृथिवीं चाऽतरिक्षं च विचिंत्याऽथ मनोगतिः ॥ ३० ॥

निमेषांतरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ।

अभिरुवाच—बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित् ।

आपः शेषाःसदा चाऽऽपः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम् ॥ ३१ ॥

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन्किमन्यत्करवाणि ते ।

तमब्रवीद्देवगुरुरपो विश महायुते ॥ ३२ ॥

अभिरुवाच—नाऽऽपः प्रवेष्टुं शक्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।

शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महायुते ॥ ३३ ॥

अद्भयोऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ने देवराज के मिलने के लिए इवन करके अग्नि से कहा—तुम शीघ्र ही इन्द्र को ढूँढ़ लाओ। तब स्वयं भगवान् अग्नि अद्भुत स्त्री का रूप रखकर, इन्द्र का पता लगाने के लिए, वहाँ से बल पड़े और अन्तर्द्वार हो गये ॥२८।२९॥

वे दम भर दिशा-विदिशा, पर्वत, वन-सारी पृथ्वी और आकाश—में इन्द्र को खोजकर लौट आये। मन का सा वेग रखनेवाले अग्नि बृहस्पति के पास पहुँचकर कहने लगे—हे देवगुरु! मैं सब जगह खोज आया, पर इन्द्र का पता नहीं चलता। केवल जल में खोजना शेष रह गया है परन्तु जल

के भीतर जाना मेरे लिए असम्भव है। इसी से मैं वहाँ जाना नहीं चाहता। बृहस्पति ने अग्नि से जल के भीतर भी जाकर देखने के लिए कहा। तब अग्नि ने कहा—हे भगवन्! जल के भीतर मैं न जा सकूँगा। वहाँ जाने से मेरा नाश हो जायगा। मैं आपके शरणागत हूँ, क्षमा कीजिए। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है। इनका तेज और सब जगह काम देता है, पर अपनी उत्पत्ति के स्थान में ठण्डा पड़ जाता है ॥३०।३४॥

—०—

उद्योगपर्व का पन्द्रवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

बृहस्पतिरुवाच—त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमासि हठ्यवाद् ।

त्वमंतः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।

दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।

शक्य उवाच— प्रविश्याऽपस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः । .

आससाद् सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन्भरतर्षभ ।

अपश्यत्स तु देवेंद्रं विसमध्यगतं तदा ॥ ११ ॥

आगत्य च तत्तस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः ।

अणुमात्रेण वपुषा पद्मतंत्वाश्रितं प्रभुम् ॥ १२ ॥

गत्वा देवर्षिगंधर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः ।

पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम् ॥ १३ ॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया ।

शंवरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ ॥ १४ ॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वांश्शत्रून्निपूदय ।

उत्तिष्ठ शक्र संपश्य देवर्षींश्च समागतान् ॥ १५ ॥

महेन्द्र दानवान्हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो ।

अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोतिर्वृंहितम् ।

त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते ॥ १६ ॥

ने बहुत प्रसन्न होकर बृहस्पति से कहा—मैं सत्य कहता हूँ कि इन्द्र को लाकर आपको अवश्य दिखा दूंगा ॥१५॥

शक्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब समुद्र, शील आदि के जल में प्रवेश करके अन्त को अग्निदेव उस सगोबर में पहुँचे जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे । वहाँ कमलों के बीच में खोजते-खोजते अग्नि ने कमलनाल के भीतर इन्द्र को देख लिया । तब उन्होंने इन्द्र के पास से लौटकर बृहस्पति से सब हाल कहा । बतलाया कि वहाँ पर इन्द्र बहुत ही सूक्ष्म रूप रखके कमलनाल के भीतर रहते हैं । अब देवता, ऋषि, गन्धर्व आदि को साथ लेकर बृहस्पतिजी वहाँ पहुँचे,

और इन्द्र के पुगने कामों का वर्णन करके उनकी स्तुति करने लगे ॥१०॥१३॥

बृहस्पति ने कहा—हे शक्र ! महादानव नमुचि, घोर पराक्रमी शंभरासुर और बल नाम के दानव को तुमने मारा है । हे इन्द्र ! तुम वृद्धि को प्राप्त होकर सब शत्रुओं का नाश करो । उठो, देखो, सब ऋषि लोग तुम्हारे पास आये हैं । हे महेन्द्र ! तुम कई बार दानवों को मारकर लोकों की रक्षा कर चुके हो । जगत् के स्वामी हे देवराज ! तुमने पहले विष्णु के तेज से परिपूर्ण जल के फेन से वृत्रासुर को मारा है । सब प्राणी तुम्हारी स्तुति और पूजा करते हैं और क्षायागत होते हैं । जगत् में तुम्हारे

त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्कृत्वा बाहान्याति लोकान्दुरात्मा ॥ २५ ॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित् ।

देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरंतः ॥ २६ ॥

शक्य उवाच—एवं वदत्यंगिरसां वरिष्ठे बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः ।

वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो देवश्च सोमो वरुणश्चाऽऽजगाम ॥ २७ ॥

ते वै समागम्य महेंद्रमूचुर्दिष्टया त्वाप्रो निहतश्चैव वृत्रः ।

दिष्टया च त्वां कुशालिनमक्षतं च पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥

स तान्यथावच्च हि लोकपालान्समेत्य वै प्रीतमना महेंद्रः ।

उवाच चैनान्प्रतिभाष्य शक्रः संचोदयिष्यन्नहुषस्याऽतरेण ॥ २९ ॥

राजा देवानां नहुषो घोररूपस्तत्र साह्यं दीयतां मे भवन्दिः ।

ते चाऽनुवन्नहुषो घोररूपो दृष्टीविपस्तस्य विभीम ईश ॥ ३० ॥

त्वं चेद्राजानं नहुषं पराजयेस्ततो वयं भागमर्हाम शक्र ।

इंद्रोऽब्रवीन्नवतु भवानपांपतिर्यमः कुबेरश्च मयाऽभिषेकम् ॥ ३१ ॥

संप्राप्नुवंत्वद्य सहैव दैवतै रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम् ।

आप हमारे त्रिभुवन-पालक राजा बनिए ॥२३२४॥

इस प्रकार तुम्हारे छोड़े हुए पद पर इन्द्र बनाकर नहुष को बैठाने की इच्छा प्रकट करने पर नहुष ने उन सबसे कहा—मुझमें इन्द्र का कार्य करने की शक्ति नहीं है; आप लोग अपने तेज और वरदान से मुझे समर्थ बना दीजिए । तब देवताओं ने नहुष को उभी तरह शक्तिशाली बना दिया । घोर वीर्य प्राप्त करके नहुष इस समय महर्षियों के कन्धे पर पालकी रखाकर लोकों में विचरता है । उसकी दृष्टि में घोर विष है, उसके प्रभाव से वह देखते ही तेज को हर लेता है । तुम उसके सामने मत जाना । उससे डरकर देवता कभी सामने नहीं जाते, छिपे-छिपे घूमते हैं ॥२५२६॥

शक्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! बृहस्पति

यों कह ही रहे थे कि वहां पर लोकपाल कुबेर, यमराज, चन्द्र और वरुण आ गये । उन्होंने कहा—हे इन्द्र ! बड़े ही भाग्य की बात है कि तुमने त्रिशिरा और घोर वृत्रासुर को मार डाला । यह भी बड़े भाग्य की बात है कि हम तुमको सकुशल और अक्षत-शरीर देख रहे हैं । तब उन लोकपालों से मिलकर प्रसन्नहृदय महेंद्र ने नहुष की बुद्धि को अष्ट करने के विचार से कहा—देवताओं के वर्तमान राजा भयावह नहुष को मैं इन्द्र-पद से अष्ट करना चाहता हूं । इस काम में तुम लोग मेरी सहायता करो ॥२७३०॥

लोकपालों ने कहा—हे ईश ! घोररूप नहुष की दृष्टि में विष है, इस कारण हम उससे भयभीत होने हैं । जो तुम उसे इन्द्र-पद से हटा दोगे तो हमें भी यज्ञ में भाग मिलेगा ॥३१॥

त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्कृत्वा वाहान्याति लोकान्दुरात्मा ॥ २५ ॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित् ।

देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता न पश्यन्ते गृहरूपाश्चरतः ॥ २६ ॥

शल्य उवाच—एवं वदत्यंगिरसां वरिष्ठे बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः ।

वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो देवश्च सौमो वरुणश्चाऽऽजगाम ॥ २७ ॥

ते वै समागम्य महेंद्रमृचुर्दिष्टया त्वाप्नो निहतश्चैव वृत्रः ।

दिष्टया च त्वां कुशलिनमक्षतं च पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥

स तान्यथावच्च हि लोकपालान्समेत्य वै प्रीतमना महेंद्रः ।

उवाच चैनान्प्रतिभाष्य शक्रः संचोदयिष्यन्नहुषस्यांऽतरेण ॥ २९ ॥

राजा देवानां नहुषो घोररूपस्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः ।

ते चाऽनुवन्नहुषो घोररूपो दृष्टीविपस्तस्य विभीम ईश ॥ ३० ॥

त्वं चेद्राजानं नहुषं पराजयेस्ततो वयं भागमर्हाम शक्र ।

इंद्रोऽब्रवीद्भवतु भवानपांपतिर्यमः कुबेरश्च मयाऽभिषेकम् ॥ ३१ ॥

संप्राप्नुवंत्वद्य सहैव दैवतै रियुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम् ।

आप हमारि त्रिभुवन-पालक राजा बनिए ॥२३१२४॥

इस प्रकार तुम्हारे छोड़े हुए पद पर इन्द्र बनाकर नहुष को बैठाने की इच्छा प्रकट करने पर नहुष ने उन सबसे कहा—मुझमें इन्द्र का कार्य करने की शक्ति नहीं है; आप लोग अपने तेज और वरदान से मुझे समर्थ बना दीजिए । तब देवताओं ने नहुष को ठसी तरह शक्तिशाली बना दिया । घोर वीर्य प्राप्त करके नहुष इस समय महर्षियों के कन्धे पर पालकी रखाकर लोगों में विचरता है । उसकी दृष्टि में घोर विष है, उसके प्रभाव से वह देखते ही तेज को हर लेता है । तुम उसके सामने मत जाना । उससे डरकर देवता कभी सामने नहीं जाते, छिपे-छिपे घूमते हैं ॥२५१२६॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! बृहस्पति

यों कह ही रहे थे कि वहाँ पर लोकपाल कुबेर, यमराज, चन्द्र और वरुण आ गये । उन्होंने कहा—हे इन्द्र ! बड़े ही भाग्य की बात है कि तुमने त्रिशिरा और घोर वृत्रासुर को मार डाला । यह भी बड़े भाग्य की बात है कि हम तुमको सकुशल और अक्षत-शरीर देख रहे हैं । तब उन लोकपालों से मिलकर प्रसन्नहृदय महेंद्र ने नहुष की बुद्धि को अष्ट करने के विचार से कहा—देवताओं के वर्तमान राजा भयावह नहुष को मैं इन्द्र-पद से अष्ट करना चाहता हूँ । इस काम में तुम लोग मेरी सहायता करो ॥२७३०॥

लोकपालों ने कहा—हे ईश ! घोररूप नहुष की दृष्टि में विष है, इस कारण हम उससे भयभीत होते हैं । जो तुम उसे इन्द्र-पद से हटा दोगे तो हमें भी यज्ञ में भाग मिलेगा ॥३१॥

पाद्यमाचमनीयं च गामर्ध्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥

शक्य उवाच—पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम् ।

पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्वभम् ॥ ५ ॥

एतदिच्छामि भगवन्कथ्यमानं द्विजोत्तम ।

परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥ ६ ॥

अगस्त्य उवाच—शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान् ।

स्वर्गाद्भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥ ७ ॥

श्रमार्त्ताश्च वहंतस्तं नहुषं पापकारिणम् ।

देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ८ ॥

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर ।

य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मंत्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ॥ ९ ॥

एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ।

नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ॥ १० ॥

ऋषय ऊचुः—अधर्मं संप्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे ।

प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः ॥ ११ ॥

अगस्त्य उवाच—ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव ।

बात है कि तुम विश्वरूप और वृषासुर को मारकर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हो। बड़े ही माग्य की बात है कि इस समय राजा नहुष देवराज्य से भ्रष्ट हो गया और मैं तुम्हें निष्कण्ठक देख रहा हूँ ॥११॥

इन्द्र ने स्वागत करके कहा—हे ऋषिवर ! आपके दर्शन पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। यह पाद्य, अर्घ्य, आचमन और गाय आदि पूजाकी सामग्री मैं अर्पण करता हूँ, लीजिए। शक्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! मुनिवर अगस्त्य जब पूजा स्वीकार करके आसन पर बैठ गये तब इन्द्र ने उनसे पूछा— मैं सुनना चाहता हूँ कि पापी नहुष कैसे स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ ॥५६॥

अगस्त्य मुनि ने कहा—हे इन्द्र ! जिस तरह बलदर्पित दुर्गात्मा राजा नहुष स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ, सो कहता हूँ, सुनो। पुण्यात्मा देवर्षि और महर्षि लोग जिस समय पापी नहुष की पालकी लादकर चलते-चलते बहुत थक गये, उस समय उन्होंने नहुष से पूछा कि हे राजेन्द्र ! ब्रह्मर्षी ने गोप्राक्षण के जो मन्त्र कहे हैं, उनको आप प्रमाण मानते हैं या नहीं ? दुर्बुद्धि नहुष ने तमोगुण के प्रभाव से मूढ़ होकर कहा कि मैं नहीं मानता ॥७१०॥

तब ऋषियों ने कहा—आप धर्मको नहीं जानते और अधर्म पर उतारू हैं। पहले के महर्षिगण जो इसबारे में कह गये हैं, उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ॥११॥

गंधर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाऽप्सरसां गणाः ।
 सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशांपते ॥ २१ ॥
 उपागम्याऽद्भुवन्सर्वे दिष्टया वर्धसि शत्रुहन् ।
 हतश्च नहुषः पापो दिष्टयाऽगस्त्येन धीमता ।
 दिष्टया पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इंद्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

प्रसन्नतापूर्वक इन्द्र के पास आकर कहा—हे शत्रु-
 नाशन ! वड़े ही भाग्य की बात है कि तुम वृद्धि | राजा, महर्षि अगस्त्य के शाप से पृथ्वी पर गिरकर
 को प्राप्त हो रहे हो; और पाप विचारवाला नहुष | सर्प हो गया ॥२०१२२॥
 —०—

उद्योगपर्व का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

शल्य उवाच—ततः शक्रः स्तूयमानो गंधर्वाप्सरसां गणैः ।
 ऐरावतं समारुह्य द्विपेद्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
 पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः ।
 यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
 सर्वेदेवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
 गंधर्वैरप्सरारोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥
 स समेत्य महेंद्राण्या देवराजः शतक्रतुः ।
 मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥
 ततः स भगवांस्तत्र अंगिराः समदृश्यत ।
 अथर्ववेदमंत्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥
 ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत ।

अठारहवां अध्याय ॥ १८ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब घृत्रा-
 सुर को मारनेवाले इन्द्र सुलक्षणयुक्त ऐरावत हाथी | थे । महातेजस्वी अग्नि, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण,
 पर चढ़कर स्वर्ग को चले । आगे-आगे गन्धर्वों और अप्सराओं के कुबेर आदि सब देवता, गन्धर्वों और अप्सराओं के
 अप्सराओं के दल उनकी स्तुति करते चले जा रहे | हुए उनके साथ-साथ चले ॥११३॥
 देवराज इन्द्र आकर पढ़ले इन्द्राणी से मिले

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम् ।
 भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहाऽनया ॥ १५ ॥
 उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसंमितम् ।
 राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥
 तस्मात्संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर ।
 संस्तूयमाना वर्धते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७ ॥
 क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम् ।
 दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनवलेन च ॥ १८ ॥
 आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत् ।
 धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥
 न चाऽरिजं भयं तस्य नाऽपुत्रो वा भवेन्नरः ।
 नाऽऽपदं प्राप्नुयात्कांचिद्दीर्घमायुश्च विंदति ।
 सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित्पराजयम् ॥ २० ॥
 एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ
 पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥
 श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्राजमिदं वचः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

दुरासमा शत्रु दुर्योधन, कर्ण आदि भी शीघ्र ही मारे
 जायेंगे। तब तुम भी इन द्रौपदी और भाइयों के साथ
 समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का अकण्टक राज्य करोगे। १२।१५।
 हे राजेन्द्र ! जिस समय सम्राट होनेवाला हो
 और व्यूह बना करके सेनाएँ युद्ध करने को उद्यत
 हो रही हों, उस समय राजा को विजय पाने की
 इच्छा से यह वेद-सुल्य इन्द्र-विजय की कथा अवश्य
 सुननी चाहिए। इसी से विजय की यह कथा मैं
 तुमको सुना रहा हूँ। हे राजा युधिष्ठिर ! स्तुति
 करने में क्षत्रियों का तेज बढ़ता है। हे धर्मराज !
 दुर्योधन के अपराध के कारण भीमसेन और अर्जुन

के हाथों शीघ्र ही युद्ध में अनेक क्षत्रिय वीरों
 का संहार होगा। इस इन्द्र-विजय के उपाख्यान को
 जो कोई नियम से पढ़ता है वह पापहीन होकर स्वर्ग
 को जीत लेता है, और हम लोक तथा परलोक में
 सुख भोगता है। उसे शत्रु का भय नहीं होता।
 वह विपत्तियों से बचा रहता है और पुत्र-पौत्र पाकर
 दीर्घायु पाता है। वह कहीं कभी हारता नहीं है; उसे
 सदा विजय मिलती है। १२।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! शल्य
 ने यों युधिष्ठिर को दिलासा दिया और युधिष्ठिर ने
 भी उनकी पूजा की। फिर युधिष्ठिर ने मद्राज से

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम् ।
 प्राविश्यांऽतर्दधे राजन्सागरं कुनदी यथा ॥ ६ ॥
 तथैवाऽक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृपभो वली ।
 धृष्टकेतुरुपागच्छत्पांडवानमितौजसः ॥ ७ ॥
 मागधश्च जयत्सेनो जरासंधिर्महाबलः ।
 अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ॥ ८ ॥
 तथैव पांडवो राजेंद्रं सागरानूपवासिभिः ।
 वृतो बहुविधैर्यौधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ॥ ९ ॥
 तस्य सैन्यमतीवाऽऽसीत्तस्मिन्बलसमागमे ।
 प्रेक्षणीयतरं राजन्सुवेपं बलवत्तदा ॥ १० ॥
 द्रुपदस्याऽप्यभूत्सेना नानादेशसमागतैः ।
 शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चाऽस्य महारथैः ॥ ११ ॥
 तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
 पार्वतीयैर्महीपालैः सहितः पांडवानियात् ॥ १२ ॥
 इतश्चैतश्च पांडूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् ।
 अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ॥ १३ ॥
 युयुत्समानाः कुरुभिः पांडवान्समहर्षयन् ।
 तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ॥ १४ ॥

थे । सुवर्ण के समान और आभूषणों से अलंकृत वह सेना विजलियों से भूषित घनघटा के समान जान पड़ती थी । वह एक अक्षौहिणी सेना, समुद्र में छोटी नदी के समान, राजा युधिष्ठिर की अपार सेना में छिप सी गई ॥१।६॥

इसके पश्चात् महाबली चेदिराज धृष्टकेतु, परम पराक्रमी पाण्डवों की सहायता के लिए, एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये । मगधनरेश जरासन्ध के कुमार महाबली जयत्सेन भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर राजा युधिष्ठिर के पास आये । पाण्डव देश के

राजा भी, समुद्रतट में रहनेवाली जातियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सिपाहियों को साथ लेकर राजा युधिष्ठिर के पास आये । उनकी सुन्दर वेपवाली, प्रबल सेना उस सेना-समागम में अत्यन्त दर्शनीय जान पड़ती थी ॥७।१०॥

अनेक देशों से आये हुए शूर-वीर योद्धाओं से शोभित महाराज द्रुपद की सब सेना आकर वहाँ एकत्र हुई । द्रुपद के महारथी पुत्र उसके सखालक थे । मत्स्यदेश के राजा विराट भी पर्वती राजाओं की सेना के साथ पाण्डवों की सहायता के लिए तैयार

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
 महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।
 आवंत्यौ च महीपालो महावलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
 पृथगक्षौहिणीभ्यां तावभियातौ सुयोधनम् ।
 केकयाश्च नरहयाघ्राः सोदर्याः पंच पार्थिवाः ॥ २५ ॥
 संहर्षयंतः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।
 तमस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
 तिस्रोऽन्याः समवर्तंत वाहिन्यो भरतर्षभ ।
 एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
 युयुत्समानाः कौन्तेयान्नानाध्वजसमाकुलाः ।
 न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत्तदा ॥ २८ ॥
 राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनाऽपि भारत ।
 ततः पंचनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजांगलम् ॥ २९ ॥
 तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
 अहिच्छत्रं कालकूटं गंगाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
 वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
 एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥
 वभूव कौरवेयाणां बलेनाऽतीव संवृतः ।
 तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥

सुदक्षिण भी, यवनों और शकों की टीङ्गी-दल सी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर, दुर्योधन के पास पहुंचे । वह सेना भी और सेनाओं की तरह दुर्योधन की अपार सेना में मिलकर अट्टय सी हो गई । (२१।२३)

माहिष्मती पुरी के राजा नील भी दक्षिणदेश के नीलशस्त्रधारी वीर पुरुषों की सेना लेकर पहुंचे । अवनती देश के दोनों राजा विन्द-अनुविन्द भी एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधन के पास आये । केकय देश के राजा पांशों भाई, दुर्योधन को प्रसन्न

करने के लिए, एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर आये । इसी प्रकार और भी जो राजा आये उनकी सब सेना मिलाकर तीन अक्षौहिणी हुई । इस प्रकार दुर्योधन की ओर अनेक रज्ज की ध्वजाओं से शोभित ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हो गई । हस्तिनापुर में तो एक राजा की सेना के रहने गर को भी स्थान नहीं था । (२४।२९)।

इसलिए वह सब सेना सारे पञ्चनद, कुरुजांगल, रोहितक वन, मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट,

प्राणांतिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः ।
 शेषवंतो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥ ७ ॥
 पुनश्च वर्द्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः ।
 छद्मनाऽपहृतं धुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥ ८ ॥
 तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै ।
 वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ९ ॥
 सभायां क्लेशितैर्वीरैः सह भार्यैस्तथा भृशम् ।
 अरण्ये विविधाः क्लेशाः संप्राप्तास्तैः सुदारुणाः ॥ १० ॥
 तथा विराटनगरे योन्यंतरगतैरिव ।
 प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ११ ॥
 ने सर्वं पृष्ठतः कृत्वा तत्सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
 सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छंति कुरुपुंगवाः ॥ १२ ॥
 तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
 अनुनेतुमिहाऽर्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥ १३ ॥
 न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह ।
 अविनाशेन लोकस्य कांक्षन्ते पांडवाः स्वकम् ॥ १४ ॥

ने उनका जो पैतृक राज्य ले लिया था, वह उन्हें नहीं मिला। उसके पश्चात् दुर्योधन आदि ने प्राणनाशक अनेक उपाय किये, पर पाण्डवों को आयु थी, इसलिए वे बाल-बाल बचते रहे; उनका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। वीर पाण्डवों ने थोड़ा सा राज्य पाकर ही सन्तोष कर लिया था। उसे उन्होंने अपने बाहुबल से, पृथ्वी-विजय करके, बढ़ा लिया। तब घृतराष्ट्र की अनुमति और शकुनि की सहायता से दुर्योधन आदि कौरवों ने छलपूर्वक उनका वह राज्य भी हर लिया ॥१४८॥

यही नहीं, बल्कि तेरह वर्ष तक वन में रहने के लिए विवश करके द्रौपदी-सहित पाण्डवों को समा

में तरह-तरह के कष्ट पहुंचाये और अपमान किया। कौरवों के कपट के कारण ही पाण्डवों को वन में रहकर भयानक क्लेश सहने पड़े। वीर पाण्डवों को पापियों की तरह अज्ञातवास का वर्ष विराटनगरी में छिपकर बिताना पड़ा। वहां उन्हें गर्भवास के से घोर दुःख सहने पड़े। परन्तु इन सब पहलू के दुर्घ-वदारों को भुलाकर पाण्डव लोग सामनीति के साथ आपस में मेल कर लेना चाहते हैं ॥१५१२॥

उनके और दुर्योधन के आचरणों पर ध्यान देकर आप लोग दुर्योधन को समझाइए, क्योंकि आप लोग दुर्योधन के हितचिन्तक और धार्मिक हैं। पाण्डव लोग कौरवों के साथ युद्ध करना नहीं

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महायुतिः ।
 संपूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
 दिष्टया कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
 दिष्टया सहायवंतश्च दिष्टया धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥
 दिष्टया च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
 दिष्टया न युद्धमनसः पाण्डवाः सह वांधवैः ॥ ३ ॥
 भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
 अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥
 असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
 प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वं पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥
 किरीटी बलवान्पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
 को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥
 अपि वज्रधरः साक्षात्किमुताऽन्ये धनुर्भृतः ।
 त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥
 भीष्मे ब्रुवति तद्वाक्यं धृष्टमाक्षिष्य मनुया ।

इकीसवा अध्याय ॥ २१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र ! पुरोहित के मुंह से ये बातें सुनकर बुद्धिमान् तेजस्वी महात्मा भीष्म ने समया-नुसार उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—बड़े ही भाग्य की बात है कि पाण्डव लोग श्रीकृष्ण के साथ सफु-शल, सहायवान् और धर्मनिरत हैं । यह भाग्य की ही बात है कि पाण्डव लोग कौरवों से सन्धि करना चाहते हैं; उनका या उनके इष्ट-मित्र भाई-बन्धुओं का युद्ध का अभिप्राय नहीं है । हे ब्रह्मन् ! आपने जो कुछ कहा सो ठीक ही है; किन्तु आपका कहने का ढङ्ग अत्यन्त तीव्र है । मेरी समझ में उसका कारण आपका ब्राह्मण होना ही है ॥११४॥

इसमें सन्देह नहीं कि वन में और यहाँ भी

पाण्डवों को बड़ा दुःख पहुंचाया गया है और यह भी ठीक है कि वे इस समय धर्म के अनुसार अपने पिता का राज्य पाने के अधिकारी हैं । युद्ध-भूमि में युद्ध करने के लिए खड़े हुए अर्जुन का सामना साक्षात् इन्द्र भी नहीं कर सकते, तब और योद्धाओं के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है । अर्जुन बलवान्, अस्त्र-विद्या में निपुण और महारथी हैं; वे युद्ध में तीनों लोकों का नाश कर सकते हैं । मैं तो यही समझता हूँ ॥११७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भीष्म के यों कहने पर कर्ण ने क्रोध का भाव दिखाकर, डिट्टाई के साथ उनके वचनों का अनादर करके,

एक एव यदा पार्थः पङ्कथाञ्जितवान्युधि ॥ १६ ॥

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तथैव ते ।

न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।

ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।

अवभत्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शांतनवोऽब्रवीत् ।

पांडवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥

चिंतयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।

स भवान्प्रतियात्वद्य पांडवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पांडवान् ।

सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

भीष्म ने कहा—हे कर्ण ! मुंह से यों कह देने में क्या वीरता है ? तुम क्या अहङ्कार करते हो ? अकेले अर्जुन ने युद्ध में तुम छः महारथियों को मार भगाया था; उसे स्मरण करो। अर्जुन ने उस युद्ध में कई बार तुमको जीतकर छोड़ दिया था, तभी तुम्हारी सब बहादुरी देख ली गई। ब्राह्मण ने जो कहा है उसे यदि हम लोग नहीं मानेंगे तो अवश्य अर्जुन के हाथ से मरकर धूल फाँकेंगे ॥१६।१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब

उद्योगपर्व का इकीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—प्राप्तानाहुः संजय पांडुपुत्रानुपप्लव्ये तान्विजानीहि गत्वा ।

अजातशत्रुं च सभाजयेथा दिष्टथा न ह्यस्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

वाहिसर्वा अध्याय ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव लोग उपप्लव्य नगरमें आ गये हैं। तुम जाकर

पता लाओ। अजातशत्रु युधिष्ठिर का सरकार करना और कहना, "प्रसन्नता की बात है कि तुम वन से

प्रियश्रैषामात्मसमश्च कृष्णो विद्रांश्रैषां कर्माणि नित्ययुक्तः ।
 समानीतान्पाण्डवान्स्त्रंजयांश्च जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
 अनामयं मद्बचनेन पृच्छेः सर्वास्तथा द्रौपदेयांश्च पंच ।
 यद्यत्तत्र प्राप्तकालं परेभ्यस्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च ।
 तद्भाषेथाः संजय राजमध्ये न मूर्च्छयेद्यत्र च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि धृतराष्ट्रसदेशे द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

श्रीम पाञ्चालराज की सेना के पड़ाव में जाओ । तुम अज्ञातशत्रु युधिष्ठिर से उनकी कुशल पूछना और बारम्बार मेरी ओर से प्रीति की बातें करना । महा-पराक्रमी महाभाग श्रीकृष्ण के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करना । मेरे कहने से कुशल-क्षेम पूछना, और कहना, राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों से मेल ही करना चाहते हैं । श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे उसे युधिष्ठिर कभी न टाँसेंगे । हे सञ्जय ! श्रीकृष्ण उन्हें बहुत प्यारे हैं । वे आत्मा से भी बढ़कर पाण्डवों को प्रिय,

बुद्धिमान्, विद्वान् और सदा पाण्डवों के हितचिन्तक हैं । तुम मेरी ओर से पाण्डव, सात्यकि, राजा विराट और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों से भी उनकी कुशल-क्षेम पूछना । इसके सिवा वहाँ जो तुम समय के अनुकूल और कौरवों के भले की बात समझना सो उस राज-सभा में कहना । ऐसी बातें करना जिनसे पाण्डव-पक्ष का क्रोध और विरोध न बढ़े, और युद्ध छिड़ने की आशङ्का मिट जाय ॥३८।४०॥

—०—

उद्योगपर्व का चारसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः ।
 उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पांडवानामितौजसः ॥ १ ॥
 स तु राजानमासाद्य कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
 अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥
 गावल्गाणिः संजयः सूतमूनुरजातशत्रुमवदत्प्रतीतः ।
 दिष्टया राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये सहायवंतं च महेंद्रकल्पम् ॥ ३ ॥

तेईसवा अध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र के वचन सुनकर सञ्जय उसी दिन पराक्रमी पाण्डवों को देखने के लिए उपप्लव्य नगर को गये । राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर सञ्जय ने पहले उन्हें प्रणाम किया और फिर प्रसन्नतापूर्वक

कहा—बड़े ही मर्ग्य की बात है हे महाराज ! जो मैं आपको नीरोग, सहाययुक्त और महेंद्र के समान देख रहा हूँ । बुद्धिमान् बूढ़े राजा धृतराष्ट्र ने आपके कुशल-समाचार पूछे हैं । पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेन, वीर अर्जुन, पुरपतिद नकुल और सहदेव अच्छी तरह

कच्चिन्मानं तात लभंत एते धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
 येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो महेष्वासः शीलवान्द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥
 वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चिन्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
 कर्णोऽमात्यः कुशली तात कश्चित्सुयोधनो यस्य मंदो विधेयः ॥ १३ ॥
 स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
 वध्वः पुत्रा भाग्निनेया भगिन्यो द्रौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः ॥ १४ ॥
 कच्चिद्राजा ब्राह्मणानां यथावत्प्रवर्तते पूर्ववत्तात वृत्तिम् ।
 कच्चिद्वायान्मामकान्धारतराप्रो द्विजातीनां संजय नोपहंति ॥ १५ ॥
 कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान्चै ।
 स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूतामुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥
 एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
 ते चेद्दोषं नियच्छंति मंदाः कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम् ॥ १७ ॥
 कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गं ।
 कच्चिन्न भेदेन जिजीविषंति सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमत्यात् ॥ १८ ॥
 कच्चिन्न पापं कथयंति तात ते पांडवानां क्रुरवः सर्व एव ।
 द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो नास्मासु पापानि वदंति कच्चित् ॥ १९ ॥

हैं * उनका सर्वत्र मान होता है न * वैश्यापुत्र धृतराष्ट्र
 के पुत्र महाप्राज्ञ युयुत्सु तो सकुशल हैं * मन्दबुद्धि
 दुर्योधन जिनकी सम्पत्ति पर चलते हैं वे मानों कर्ण
 तो सकुशल हैं * भारतवर्ष की स्त्रिया, वृद्ध, माताएं,
 दासिया, रसोई का काम करनेवाली, बहुर, पुत्र,
 भानजे, बहनें, नाती आदि सब परिवार परिजन तो
 सकुशल हैं और निष्कषट व्यवहार करते हैं * राजा
 दुर्योधन पहले की तरह ब्राह्मणों को, वधी हुई, वृत्तिया
 देते जाते हैं न * हे सन्जय ! मैंने ब्राह्मणों को जीविका
 के लिए गाव पृथ्वी आदि जो सम्पत्ति दे रखी थी, उसे
 दुर्योधन ने उनसे छीन तो नहीं लिया * ॥११॥१५॥
 ब्राह्मणों से यदि कोई अपराध बन पड़ता है

तो उसे अपने पुत्रों सहित राजा धृतराष्ट्र उपेक्षा की
 दृष्टि से देखते हैं न * स्वर्ग का मार्ग, जो ब्राह्मणों
 को दी हुई, जीविका है उसकी उपेक्षा तो राजा नहीं
 करते * ब्राह्मणों की जीविका को बनाये रखना एक
 ऐसा काम है जिससे यथा यश होता है और परलोक
 में सद्गति प्राप्त होती है । यह व्यवस्था विधाता की
 बनाई हुई है । यदि मन्दबुद्धि कौरव लोभ में पड़कर
 ब्राह्मणों की वृत्तियां छीन लेंगे तो कौरवों का सर्वनाश
 ही हो जायगा । हे सन्जय ! अपने पुत्र सहित राजा
 धृतराष्ट्र सदा अपने मन्त्रियों और कर्मचारियों के
 कामों पर ध्यान रखते हैं न * ठीक समय पर उन्हें
 उनकी वृत्ति देकर सन्तुष्ट रखते हैं न * इस पर दृष्टि

यत्र मंदाञ्छत्रुवशं प्रयातानमोचयद्भीमसेनो जयश्र ॥ २६ ॥

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं साद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।

गाण्डीवधन्वा शत्रुसंधानुदस्य स्वस्त्यागमत्कच्चिदेनं स्मरंति ॥ २७ ॥

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं सुखं शक्यं वै भवतीह संजय ।

सर्वात्मना परिजेतुं वयं चेन्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

स्मरण करते हैं । ॥२०।२५॥

कुमन्त्रणा करके घोषयात्रा के सहाने दुर्योधन आदि कौरव द्वैतवन में गये थे । वहां गन्धर्वों से जो उन्हें नीचा देखना पड़ा था और अर्जुन तथा भीमसेन ने मेरे कहने से जाकर उन्हें गन्धर्वों के हाथ से लुढ़ाया था, उन बातों को कभी दुर्योधन और उनके साथी लोग स्मरण करते हैं । उस युद्ध में मैंने अर्जुन की और भीमसेन ने नकुल और सह-

देव की प्रशंसा की थी । गाण्डीव धनुष धारण करने वाले अर्जुन शत्रुओं के असंख्य दल को टराकर सङ्घात लौट आये थे । इन बातों को और उन पराक्रमी अर्जुन को कौंग्व लोग कभी स्मरण करते हैं ! हे सञ्जय ! यदि हम लोग अनेक यज्ञ करके भी पुत्राष्ट के पुत्र दुर्योधन को वश में न कर सके तो मुझे यह निश्चय हो जायगा कि हम लोक में केवल अच्छे कर्मों से ही सुख नहीं पाया जा सकता ॥२६।२८॥

उद्योगपर्व या तैरसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

संजय उवाच—यथाऽऽस्थ मे पांडव तत्तथैव कुरुन्कुरुभेष्टजनं च पृच्छसि ।

अनामयास्तात मनस्विनस्ते कुरुश्रेष्ठान्पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ॥ १ ॥

संत्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे संत्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि ।

दद्यात्त्रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः कुतो दायांछोपयेद्ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

यद्युष्माकं वर्त्तते सौनधर्म्यमद्गुग्धेषु द्गुग्धवत्तप्त साधु ।

मिध्रधृक् स्यात्पृतराष्ट्रः सपुत्रो युष्मान्द्विषन्साधुवृत्तानसाधुः ॥ ३ ॥

न चाऽनुजानाति भृशं च तप्यते शौचत्यंतः स्थविराऽजानशत्रो ।

पौरवर्षा अर्थाय ॥ २४ ॥

सञ्जय ने कहा—हे युधिष्ठिर ! आरने कौरवों के बारे में जो कुछ पूछा तो मधवेमा ही दे । हे पार्थ ! मैंने भीम आदि कुरुश्रेष्ठों के बारे में आरने प्रश्न किए थे मध मनुजल दे । हे सञ्जय ! दुर्योधन के पास युद्ध मज्जन भी है और पानुदिवानं दुर्जन भी है ।

दुर्योधन शत्रुओं को भी धन देता है, तब यह म हाँकी की गणति मा प्रविशति म टोगा ! आर लोग होद वा भाव नहीं रखते, हम बाल्य दुर्योधन वा आरने होद रचना हीह नहीं कहा जा सकता । आशु दुर्योधन अत्र मत्पथिगे मे द्वेष करके मित्रदेद के पर वा

अथ पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—समागताः पाण्डवाः सृजयाश्च जनार्दनो युयुधानो विराटः ।

यत्ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं गावल्गणे ब्रूहि तस्मूतपुत्र ॥ १ ॥

संजय उवाच—अजातशत्रुं च वृकोदरं च धनंजयं माद्रवतीसुतो च ।

आमंत्रये वासुदेवं च शौरिं युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥

पंचालानामधिपं चैव वृद्धं धृष्टद्युम्नं पार्यतं याज्ञसेनिम् ।

सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन्कुरूपाम् ॥ ३ ॥

शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्दन्नयोजयन्वरमाणो रथं मे ।

सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञस्तद्रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ ४ ॥

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः संस्थानेन मार्दवेनाऽऽर्जवेन ।

जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या ऱ्हीनिपेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ॥ ५ ॥

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः ।

उद्भासते ह्यंजनर्धिवुवत्तल्लुभ्रे वस्त्रे यद्भवेत्किल्बिषं वः ॥ ६ ॥

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः ।

कस्तत्र कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्पराजयो यत्र समो जयश्च ॥ ७ ॥

पञ्चीसवा अध्याय ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सञ्जय ! पाण्डव, सञ्जय, कृष्णचन्द्र, सात्यकि, विराट आदि सब लोग यहा उपस्थित हैं । अब तुम महाराज धृतराष्ट्र की कही हुई बातें कहो ॥१॥

सञ्जय ने कहा—मैं अजातशत्रु, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, वृद्ध पाञ्चालनरेश द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि सबको प्रणाम करके कौरवों के भले की बातें कहता हूँ । आप लोग सुनिए । राजा धृतराष्ट्र आपस में सन्धि कर लेना चाहते हैं । इसी से शत्रु ही रथ पर बिठाकर उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है । भाई, पुत्र, स्वजन, इष्ट मित्र आदि के साथ राजा युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र की इच्छा का अनुमोदन करना चाहिए । २।४।

पाण्डव लोग उसे स्वीकार कर लें, जिसमें युद्ध की आशङ्का मिट जाय और शान्ति स्थापित हो । पाण्डव लोग आकृति, सरलता, कृपा आदि से युक्त, अच्छे कुल में उत्पन्न, शान्त, उदार, शीलमङ्गलचयुक्त और सब कामों में चतुर दूरदर्शी हैं । हे सेनायुक्त पाण्डवो ! हिंसा या और कोई हीन कार्य आपसे नहीं हो सकता, क्योंकि आपकी बुद्धि ऐसी ही परिमार्जित और दृढ़ है । जो ऐसा काम आपसे हो जाय तो वह श्वेत वस्त्र में काले दाग की तरह सदा दूर से दिखाई देगा—कलङ्क बन जायगा । युद्ध में ज्ञाति का क्षय होने की आशङ्का है । उसे कौरवों का पापोदय कहना चाहिए । ऐसे युद्ध में हारना और जितना दोनों ही समान शोक का कारण होंगे, क्योंकि सब

दारेगा । जीतने या हारने में दोनों पक्षों का कुछ कल्याण नहीं देख पड़ता ।] ॥११।१२॥

पाण्डव लोग, नीच कुल में उत्पन्न छोटे मनुष्यों की तरह, धर्म और अर्थ के विरुद्ध युद्ध ऐसे घोर कर्म में कैसे प्रवृत्त होंगे ? इसलिए मैं (धृतराष्ट्र) श्रीकृष्ण और वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद को प्रणत-भाव से मनाता हुआ, हाथ जोड़कर, शरणागत होकर, कहता हूँ कि [युद्ध छोड़कर मन्धि का ही उद्योग होना चाहिए ।] कुरुवंश और सृञ्जयवंश की भलाई

का उपाय करना चाहिए । मुझे विश्वास है कि मेरी बात का श्रीकृष्ण और अर्जुन को स्मरण अवश्य होगा । क्योंकि ये तो याचना करने से अपने प्राण तक दे सकते हैं; तब यह प्रार्थना मान लेना कौन बड़ी बात है । मैं आपस में सन्धि होने के लिए ही ये बातें कह रहा हूँ । हे धर्मराज ! भौग्य और महा-राज धृतराष्ट्र की यही इच्छा है कि यह विरोध सदा के लिए शान्त हो जाय ॥१३।१५॥

—०—

उद्योगपर्व का पचीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

अथ पद्भिर्वशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कां नु वाचं संजय मे शृणोषि युद्धैषिणी येन युद्धाद्भिभेपि ।

अयुद्धं वै तात युद्धाद्वरीयः कस्तल्लव्ध्वा जातु युद्धयेत सूत ॥ १ ॥

अकुर्वतश्चेत्पुरुषस्य संजय सिद्धयेत्संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत् ।

न कर्म कुर्याद्विदितं ममैतदन्यत्र युद्धाद्बहु यल्लधीयः ॥ २ ॥

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्को देवशतो हि वृणीत युद्धम् ।

सुखैषिणः कर्म कुर्वति पार्था धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥

धर्मादयं सुखमाशंसमानाः कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम् ।

सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं य इन्द्रियाणां प्रीतिवशानुगामी ॥ ४ ॥

कामाभिध्या स्वशरीरं दूनोति यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम् ।

यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो भूयो चलं वर्धते पावकस्य ॥ ५ ॥

छवरीसवा अध्याय ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे संजय ! तुमने मेरे मुंह से युद्ध की इच्छा की कौनसी बात सुनी है, जो युद्ध से यों भयभीत होते हो ? युद्ध की अपेक्षा सन्धि कर लेना ही श्रेष्ठ है । जो यों ही कार्य सिद्ध हो जाय तो युद्ध करना कौन उचित समझेगा ? यदि मनुष्य की इच्छा, कुछ किये बिना, स्वयं सिद्ध हो जाय तो फिर कौन उद्योग करना चाहेगा ? जो युद्ध करने से बहुत और युद्ध न करने से कम लाभ हो तो वह कम लाभ

ही सब तरह श्रेष्ठ है, यह मुझे विदित है ॥१।२॥

कौन पुरुष युद्ध करने की इच्छा करेगा ? किसे देवताओं का शाप हुआ है, जो छोड़कर युद्ध करना चाहेगा ? हे सूत ! पाण्डवों का नियम है कि वे सदा सुख की इच्छा से बड़ी काम करते हैं जो धर्म के विरुद्ध नहीं होता और जिससे किसी को हानि नहीं पहुंचती । हम लोग बड़ी सुल चाहते हैं जिससे धर्म का अम्बुदय हो अथवा जो धर्मकार्य से प्राप्त हो ।

गांडीवविस्फारितशब्दमाजावशुण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियंते ।
 क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥
 इंद्रोऽप्येतन्नोत्सहेत्तात हर्तुमैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने
 धनंजये नकुले चैव सूत तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ ॥ २६ ॥
 स चेदेतां प्रतिपद्यते बुद्धिं वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत
 एवं रणे पांडवकोपदग्धा न पश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः ॥ २७ ॥
 जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं त्वां पूजयन्संजयाऽहं क्षमेयम् ।
 यच्चाऽस्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत् ॥ २८ ॥
 अद्यापि तत्तत्र तथैव वर्त्ततां शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ ।
 इंद्रप्रस्थे भवतु समैव राज्यं सुयोधनो यच्छतु भारताग्न्यः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये पट्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

उसे सब कौरव और अन्य राजा लोग भी जानते हैं । अर्जुन का धनुष चार हाथ लम्बा है और वे धनुर्विद्या को बहुत अच्छी तरह से जानते हैं । दुर्योधन उन अर्जुन से युद्ध करके पाण्डवों के भाग को ले लेना सहज समझता है, इससे बड़कर मूर्खता क्या होगी ? वास्तव में दुर्योधन आदि कौरव जब तक गाण्डीव धनुष का शब्द नहीं सुनते, और क्रोधित भीमसेन का भयानक मुख नहीं देखते, तभी तक वे जीवित हैं और राज्यप्राप्ति के प्रयोजन को सिद्ध समझते हैं ॥ २१-२५ ॥

हे सञ्जय ! भीमसेन, अर्जुन, सहन न करनेवाले वीर सहदेव और नकुल के जीते रहते हमारे राज्य और ऐश्वर्य को साक्षात् इन्द्र भी नहीं ले सकते ।

जो दुर्योधन सहित राजा घृतराष्ट्र यह समझे कि पाण्डवों को राज्य न देने से कौरवों का नाश होना अनिवार्य है तो कौरव लोग युद्ध में पाण्डवों के कोप की आग्नि में भस्म होने से बच सकते हैं । हमने अब तक जो क्लेश सहें हैं उन्हें तुम अच्छी तरह से जानते ही हो । दुर्योधनकृत पहले के अपने अपकारों को मैं क्षमा कर सकता हूँ, क्योंकि मुझे तुम्हारी बात रखनी है । तुम्हारे कहने से मैं सन्धि कर लूँगा । पहले कौरवों के साथ हमारा जैसा भाव और व्यवहार था वैसा ही अब भी रहेगा । कौरवश्रेष्ठ दुर्योधन मेरा इन्द्रप्रस्थ का राज्य मुझे दे दे ॥ २६-२९ ॥

—०—

उद्योगपर्व का छठवीं सर्वां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

संजय उवाच—धर्मनित्या पांडव ते विचेष्टा लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ।

महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्य संपश्य त्वं पांडव मा व्यनीनशः ॥ १ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

सन्जय ने कहा—हे पाण्डव ! आपके सब काम के इस काम को जानते हैं । आप अपने उस यश धर्म के अनुकूल ही देख पड़ते हैं और सब लोग आप का विचार करके और जीवन को अनित्य समझकर

नाऽधर्मं ते धीयते पार्थ बुद्धिर्न संरंभात्कर्म चकर्थ पापम् ।
 आत्था किं तत्कारणं यस्य हेतोः प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥
 अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि यशोमुपं पापफलोदयं वा ।
 सतां पेयं यन्न पिवित्यसंतो मन्युं महाराज पिव प्रशाम्य ॥ २३ ॥
 पापानुबंधं को नु तं कामयेत क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
 यत्र भीष्मः शांतनवो हतः स्याद्यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥
 कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
 एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्याद्यद्विदेथास्तदनुब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥
 लब्ध्वाऽपीमां पृथिवीं सागरांतां जरामृत्यू नैव हित्वं प्रजह्याः ।
 प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्नेवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
 अमात्पानां यदि कामस्य हेतोरेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
 अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां मागास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥ २७ ॥
 इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

हे धर्मराज ! आपकी बुद्धि कभी अधर्म की ओर
 नहीं झुकी और आपने कभी क्रोध के वश होकर
 कोई पापकर्म नहीं किया । बताइए, इस समय किस
 कारण आप यह बुद्धि के विरुद्ध कार्य (युद्ध) करना
 चाहते हैं ? हे महाराज ! यह क्रोध बिना व्याधि की
 पीड़ा, कड़वा, सिर को घुमा देनेवाला, यश को हरने-
 वाला और पाप-फल के उदय का कारण है । सज्जन
 लोग इसे भी जाते हैं, दुर्जन नहीं भी सकते । हे
 युधिष्ठिर ! आप इसे भी जाइए और शान्त बनिए ।
 जिस युद्ध में शान्तनु के पुत्र भीष्म पितामह, गुरु
 द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा मारे जायें उस पापमय
 युद्ध को कौन चाहेगा ? हे राजेन्द्र ! आपका राज्य-

उद्योगपर्व का सप्तविंशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—असंशयं संजय सत्यमेतद्धर्मो वरः कर्मणां यत्त्वमात्थ ।

ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भांति ॥ १६ ॥
 जानन्निसं सर्वलोकस्य धर्मं विप्रैर्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
 स कस्मात्त्वं जानता ज्ञानवान्सन्ध्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥
 आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य तथाऽश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
 संयुज्यते धनुषा वर्मणा च हस्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
 ते चेदिमे कौरवाणामुपायमवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
 धर्मत्राणं पुण्यमेपां कृतं स्यादार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥
 ते चेत्पिठ्ये कर्मणि वर्तमाना आपद्येरन्दिष्टवशेन मृत्युम् ।
 यथाशक्त्या पूरयंतः स्वकर्म तदप्येषां निधनं स्यात्प्रशस्तम् ॥ २० ॥
 उताऽहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतंत्रम् ।
 अयुद्धे वा वर्तते धर्मतंत्रं तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥
 चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभागमवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
 निशम्याऽथो पांडवानां च कर्म प्रशंस वानिंद वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥
 अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत दद्यादीयात्तीर्थमुख्यानि चैव ।

मान हैं । कहां तक कहें, रुद्र, आदित्य, वसु, विधे-
 देवा, यम, राजराज कुबेर आदि देवता और गन्धर्व,
 यक्ष, अप्सरा आदि सब कर्म के प्रभाव से ही अपने-
 अपने स्थान में स्थित होकर ऐश्वर्य-भोग कर रहे
 हैं । इस लोक में भी देखो, ऋषि लोग ब्रह्मज्ञान का
 अभ्यास, ब्रह्मचर्य का पालन और यज्ञ आदि करके,
 कर्म के प्रभाव से ही, श्रेष्ठ समझे जाते हैं । हे सञ्जय ।
 तुम सब संसार के—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि
 के—इस धर्म को जानकर भी, ज्ञानी होकर भी,
 कौरवों का पक्ष लेकर क्यों युधिष्ठिर पर दबाव डालना
 चाहते हो ? ॥१५१-१७॥

ये युधिष्ठिर नित्य वेद-शास्त्र पढ़ते-सुनते रहते
 हैं; अश्वमेध और राजसूय यज्ञ भी कर चुके हैं;
 धनुष-कवच-रथ-शस्त्र-हाथी-घोड़े आदि के रखने और
 चलाने में भी निपुण हैं । इनमें विद्या, धर्म और

वीरता बहुत कुछ है; इसलिए इन्हें न कोई कुछ सिखा
 सकता है और न सहज में इन पर विजय पा सकता
 है । ये पाण्डव यदि कौरवों की हत्या बिना किये ही
 राज्य लेने का कोई और उपाय ढीक कर सकें और
 भ्रामसन का क्रोध शान्त करके उन्हें अहिंसा की राह
 पर ला सकें तो बहुत ही अच्छा है । इस तरह कार्य
 सिद्ध हो जाने पर धर्म की रक्षा और पुण्य दोनों वांते
 होंगी । ये पाण्डव इस प्रकार पैतृक धर्म की राह पर
 चलकर अपनी शक्ति भर अपना कार्य सिद्ध करने में
 यदि दैवयोग से मृत्यु के मुख में चले जायेंगे तो वह
 भी प्रशंसनीय है ॥१८१-२०॥

अथवा जो तुम सन्धि को ही पसन्द करते हो
 तो बताओ, क्षत्रिय के लिए युद्ध करना धर्म है या
 युद्ध न करना ? जिसे तुम श्रेष्ठ कहोगे उसे मैं कहूंगा ।
 हे सञ्जय ! तुम चारों वर्णों के प्रथम अर्थात् प्राचीन

अभी तक शांति धारण किये हुए हैं । जो उन्हें करने को भी तैयार और समर्थ हैं ॥५६॥५८॥
आधा राज्य देकर सन्धि न की जायगी तो वे युद्ध

उद्योगपर्व का अन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

संजय उवाच—आमंत्रये त्वां नरदेवदेव गच्छाम्यहं पांडव स्वस्ति तेऽस्तु ।

कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचिदुच्चारितं मे मनसोऽभिपंगात् ॥ १ ॥

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।

आमंत्रय गच्छामि शिवं सुखं वः सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ न न स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन् ।

विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे शृङ्खात्मानं मध्यगतं सभास्थम् ॥ ३ ॥

आसौ दूतः संजय सुप्रियोऽसि कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च ।

न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या न च कुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः ॥ ४ ॥

न मर्मगां जातु वक्ताऽसि रुक्षां नोपश्रुतिं कटुकां नोतु मुक्ताम् ।

धर्मारामामर्षवतीमहिंन्नामेतां वाचं तव जानीम सूत ॥ ५ ॥

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत इहाऽऽगच्छेद्विदुरो वा द्वितीयः ।

अभीक्षणदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं धनंजयस्याऽऽत्मसमः सखाऽसि ॥ ६ ॥

तीसवा अध्याय ॥ ३० ॥

संजय ने कहा—हे महाराज ! आपका भला हो । अब मैं आपसे जाने की आज्ञा मांगता हूँ । मन की चञ्चलता के कारण मेरे मुँह से जो कुछ अनुचित निकल गया हो तो उसके लिए मैं आप लोगों से क्षमा मांगता हूँ । श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि और चेकितान आदि से आज्ञा मांगकर मैं जाता हूँ । आप लोगों को सुख और कल्याण प्राप्त हो । आप सब लोग युद्ध पर कृपा-दृष्टि रखें ॥१॥२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे संजय ! तुम्हारा कल्याण हो । जाओ, मैं तुम्हें जाने की आज्ञा देता हूँ । तुम बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुष हो, इसलिए कभी

हमारा अनिष्ट नहीं चाहोगे । हम जानते हैं कि तुम्हारा हृदय शुद्ध है और तुम मध्यस्थ दूत बनकर हमारी सभा में आये हो, इसलिए तुमने जो कुछ कहा है, घृताग्र और दुर्योधन की ओर से कहा है । हे संजय ! तुम विश्वामपात्र दूत, प्रीतिपात्र, कल्याण की बात कहनेवाले, सुशील और सन्तोषी हो । तुम्हारी बुद्धि कभी मोह का नहीं प्राप्त हो सकती और सच्ची रचित बात कहने पर तुम कभी अपमन्न नहीं हो सकते । तुम कभी मर्मस्थल में चोट पहुंचानेवाली, कड़वी, कड़ी और अपद्रव्य बात नहीं कह सकते ॥१॥५॥

हे पुरु ! तुमने जो कुछ हमसे कहा है उसे

गंधर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं तमश्चत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३ ॥
 शरद्वतस्याऽऽवसथं स्म गत्वा महारथस्याऽऽत्मविदां वरस्य ।
 त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन्वै कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥
 यस्मिन्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
 पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥
 प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
 तस्मै राज्ञे स्थविरायाऽभिवाद्य आचक्षीथाः सजय मामरोगम् ॥ १६ ॥
 ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मंदो मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
 प्रशास्ता वै पृथिवी येन सर्वा सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥
 भ्राता कनीयानपि तस्य मंदस्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
 महेष्वासः शूरतमः कुरूणां दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥
 यस्य कामो वर्तते नित्यमेव नाऽन्यच्छमाद्भारतानामिति स्म ।
 स वाल्हिकानामृषभो मनीषी त्वयाऽभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥
 गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो विज्ञानवात्रैव च निष्णुरो यः ।
 स्नेहादमर्षं सहते सदैव स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

अल्लविद्या के पूर्वोक्त चारों अङ्ग के ज्ञाता, पराक्रमी और गन्धर्वपुत्र के समान दर्शनीय तथा सज्जित-विद्या के जानकार हैं। उनसे हमारी ओर से उनकी कुशल पूछना ॥१०१३॥

फिर महारथी और आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ कृपाचार्य के घर पर जाकर बारम्बार मेरा नाम लेकर मेरी ओर से उनके चरण छूना। हमारे पितामह भीष्म दशवीर दयालु, तपस्वी, प्राज्ञ, सुशील, सुरूप, धीर और शालज हैं। उन कुरुद्व के पाव छूकर मेरी ओर से प्रार्थना करना। हे सञ्जय ! कौरवों के मुखिया प्रज्ञाचक्षु, वृद्धों की उपासना करनेवाले, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र के पाव मेरी ओर से छूना और कहना कि मैं अपने भाइयों के साथ सकुशल हूँ ॥१४१६॥

जिसकी निन्दा पृथ्वी भर पर फैली हुई है उस धृतराष्ट्र के बड़े बेटे, अभाग, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ, पापप्रकृति दुर्योधन से भी मिलकर मेरी ओर से कुशल प्रश्न करना। हे सञ्जय ! दुर्योधन का छोटा भाई दुःशासन महारथी और कौरवों में प्रधान शूर होने पर भी बड़े भाई के ही समान नीच प्रकृतिवाला और मन्दबुद्धि है। उससे भी मेरी ओर से मिलकर कुशल पूछना। भरतवंश में शान्ति की अत्यन्त इच्छा रखनेवाले, बुद्धिमान्, बाह्यकश्रेष्ठ राजा बाह्यक से भी मिलकर मेरी कुशल कहना। मधुर वचन कहकर मेरी ओर से उनका सत्कार करना [जिस में वे प्रसन्न होकर मुझ से फिर मिलें।] अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त; ज्ञानी फोमलहृदय, कौरवों पर होनेवाले क्रोध को सदा खेद के कारण शांत रखनेवाले सोमदत्त मेरे पूजनीय हैं।

तथा भीष्मं शांतनवं भारतानां पितामहम् ।
 शिरसाऽभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
 अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
 भवता शांतनोर्वंशो भिमघ्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
 स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
 यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमंत परस्परम् ॥ १० ॥
 तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मंत्रधारिणम् ।
 अयुद्धं सौम्य भापस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥
 अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
 मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥
 अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
 तद्दुःखमतितिक्षाम मा वधीष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥
 एवं पूर्वापरान्क्लेशानतितिक्षंत पांडवाः ।
 बलीयांसोऽपि संतो यत्तत्सर्वं कुरवो विदुः ॥ १४ ॥
 यन्नः प्रत्राजयेः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
 तद्दुःखमतितिक्षाम मा वधीष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

विश्व किसी एक के अधीन नहीं रह सकता। इसलिए हम कौरवों से मिलकर भाग बांटकर जीना और राज्य भोगना चाहते हैं। धृतराष्ट्र और दुर्योधन से कह देना कि वे काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के वश में न हों ॥१३॥

हे सञ्जय ! तुम भरतवंश के पितामह, महाराज गान्तनु के पुत्र, भीष्म से कहना कि युधिष्ठिर ने आपके चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया है। इस प्रकार प्रणाम करके तुम पितामह से मेरी ओर से कहना कि "आपने नष्ट होने से भरतवंश को बचा लिया है। इसलिए अब आप विचार करके अपने मत से वह उपाय कीजिए जिसमें आपके पोते पाण्डव और

कौरव आपस में सन्धि करके सुख से जीवित रहें।" इसी तरह तुम कौरवों के मन्त्री महारथ विदुर से कहना कि "हे सौम्य ! युधिष्ठिर के हित की इच्छा से आप दुर्योधन और धृतराष्ट्र को युद्ध न करके सन्धि कर लेने की सम्मति दीजिए।" ॥८।११॥

हे सञ्जय ! सभा में कौरवों के बीच में बैठे हुए अभिमानी, असहजशील, राजपुत्र दुर्योधन से बहुत अनुनय-विनय के साथ कहना—सभा में गुलाफ़र बिना किसी अरसाह के तुमने द्रौपदी का जो अपमान किया और कष्ट दिया उसे पाण्डव लोग इस लिए मूल जाने को तैयार हैं कि कौरवों की हत्या न करनी पड़े। यह बात मम कौरव जानते हैं कि

हंसी-खुशी मनाते हुए कौरवों से मिलें। मैं कौरवों और पाण्डवों को अक्षत शरीर से हेल्-मेल के साथ देखना चाहता हूँ। हे भरतश्रेष्ठ ! सब लोग सन्धि और शान्ति को पसन्द करते हैं। इसी में सबको प्रसन्नता प्राप्त होगी। हे सञ्जय ! मैं सन्धि और

युद्ध दोनों के लिए तैयार और समर्थ हूँ। मैं कोमल और कठोर दोनों तरह के काम कर सकता हूँ। जैसे धर्मोपार्जन के लिए मैं समर्थ हूँ वैसे ही धनोपार्जन भी कर सकता हूँ ॥२०॥२३॥

—०—

उद्योगपर्व का इकर्तासर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अनुज्ञातः पांडवेन प्रययौ संजयस्तदा ।

शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महारमनः ॥ १ ॥

संप्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।

अंतःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।

सकाशात्पांडुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ॥ ३ ॥

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।

निवेद्यमत्राऽत्ययिकं हि मेऽस्ति द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाद ॥ ४ ॥

द्वाःस्थ उवाच—संजयोऽयं भूमिपते नमस्ते दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।

प्राप्तो दूतः पांडवानां सकाशात्प्रसाधि राजन्किमयं करोतु ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय ।

न चाऽहमेतस्य भवाभ्यकल्पः स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः ॥ ६ ॥

चर्त्तिसर्वा अध्याय ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार धृतराष्ट्र की आज्ञा के अनुसार सब काम करने के पश्चात् बुद्धिमान् सञ्जय युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर हास्तिनापुर को लौटे। वेग से चलने-वाले घोड़े जिसमें जुते हुए थे उस रथ पर बैठकर सञ्जय शधि ही दुर्योधन की राजधानी में पहुँच गये। रनिवास के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने द्वारपाल से कहा—हे द्वारपाल ! तुम इसी समय महाराज धृतराष्ट्र को मेरे याने की सूचना दो। कहे, सञ्जय पाण्डवों के पास

से लौटकर आ गया। यदि महाराज जागृत हों तो उनसे जाकर यह कहना। उनकी आज्ञा मिलने पर मैं भीतर जाकर उनसे मिलूँगा। मुझे उनसे विशेष प्रयोजन की कुछ बातें कहनी हैं ॥१॥४॥

द्वारपाल ने सञ्जय की बातें सुनकर राजा धृतराष्ट्र के पास जाकर कहा—मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे राजेन्द्र ! पाण्डवों के पास से लौटकर आये हुए दूत सञ्जय आपसे मिलने के लिए द्वार पर खड़े हुए हैं। उनके लिए आप क्या देते हैं ? धृतराष्ट्र ने

धृतराष्ट्र उवाच—संजयो विदुर प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।

अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ९ ॥

तस्याऽव्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।

तन्मे दहति गात्राणि तदकार्पात्प्रजागरम् ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो तदनुपश्यासि ।

तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः संजयः पांडवेभ्यो न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः ।

सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि किं वक्ष्यतीत्येव मेऽव्य प्रचिन्ता ॥ १२ ॥

विदुर उवाच—अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।

हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।

कच्चिच्च परवित्तेषु गृह्यन्न परितप्यसे ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।

अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसंमतः ॥ १५ ॥

विदुर उवाच—राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।

जोड़कर चिन्तित धृतराष्ट्र से कहा—हे महाप्राज्ञ ! मैं आपकी आज्ञा से सेवा में उपस्थित हूँ। यदि मेरे करने योग्य कुछ कार्य हो तो मैं उपस्थित हूँ, आज्ञा कीजिए ॥७।८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! सजय पाण्डवों के पास से लौट आया है; वह मेरी निन्दा करके अभी अपने घर को गया है। वह प्रातः काल सभा में युधिष्ठिर का सदेश सुनावेगा। अभी मुझे नहीं ज्ञात हुआ कि महारमा युधिष्ठिर ने उससे क्या-क्या कहा है। उसी चिन्ता से मुझे निद्रा नहीं आती और शरीर में अग्नि ही लगी हुई है। मैं जगकर चिन्ता की अग्नि में जल रहा हूँ। हे भाई ! तुम धर्म और अर्थ की बातों में निपुण हो। जिस तरह जिस बात में तुम्हें मेरा मला देस पड़ता हो वह मुझे

कहो। जब से सजय पाण्डवों के पास से आया है तब से मेरे मन को चैन नहीं है। सब इन्द्रिया विकल भी हो रही हैं। इस समय मुझे यही चिन्ता सता रही है कि सजय प्रातः काल न जाने क्या कहेगा ॥९।१२॥

विदुर ने कहा—जो व्यक्ति कामी है, जो चोर है, जिसका सर्वस्व हर लिया गया है और जिस असहाय दुर्बल पुरुष पर बलवान् का आक्रमण होनेवाला है, इन्हीं चार तरह के मनुष्य को निद्रा नहीं आती। हे राजेन्द्र ! इन महान् दोषों में से किसी दोष ने तो आपको अपना शिकार नहीं बना लिया ? अथवा पराये धन पर लोभ करके तो आप व्याकुल नहीं हो रहे हैं ? ॥१३।१४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! मैं तुमसे धर्मयुक्त कल्याणदायक बातें सुनना चाहता हूँ। राजर्षि भरत

यस्य कृत्यं न विघ्नंति शीतमुष्णं भयं रतिः ।

समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पंडित उच्यते ॥ २४ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।

कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते ॥ २५ ॥

- यथाशक्ति चिकीर्षति यथाशक्ति च कुर्वते ।

न किंचिदवमन्यते नराः पंडितबुद्धयः ॥ २६ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।

नासंपृष्टो व्युपयुक्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य ॥ २७ ॥

नाप्राप्यमभिवांच्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।

आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पंडितबुद्धयः ॥ २८ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नांतर्वसति कर्मणः ।

अबंध्यकालो वश्यात्मा स वै पंडित उच्यते ॥ २९ ॥

आर्यकर्माणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।

हितं च नाभ्यसूयन्ति पंडिता भरतर्षभ ॥ ३० ॥

कर सकते, वही पण्डित है। जिसके कार्य या सम्पत्ति को शत्रु लोग पहले से नहीं जान पाते, कार्य हो चुकने पर ही उन्हें उसकी सूचना होती है, वही पण्डित है। गर्मी, जाड़ा, भय, आसक्ति, ऐश्वर्य या निर्धनता जिनके काम में विघ्न नहीं डाल सकती, वही पण्डित है। जिसकी बुद्धि धर्म और अर्थ का अनुसरण करती है और जो पेटिहक सुख की अपेक्षा दोनों लोकों में सुख देनेवाले धर्म—रूपी अर्थ को पसन्द करता है वह पण्डित है। तात्पर्य यह है कि 'काम' का दर्जा धर्म और अर्थ से नीचे है ॥२२।२५॥

पण्डित लोग यथाशक्ति करना चाहते हैं और यथाशक्ति ही करते हैं, वे किसी को तुच्छ भी नहीं समझते। पण्डित की पहली पहचान यह है कि वह शीघ्र समझ लेता है, देर तक चुनता है, कामना से

प्रेरित होकर नहीं, किन्तु अर्थ पर ध्यान रखकर कर्तव्य करता है। वह किसी के अच्छी तरह पूछे बिना निरर्थक बकबक नहीं करता या अपनी ओर से नहीं कहने लगता। जो पण्डित—अर्थात् भले-बुरे का ज्ञान रखनेवाले—हैं वे शक्ति से बाहर की वस्तु को नहीं चाहते, जो नष्ट हो गया है उसका सोच नहीं करते, आपत्ति के समय मूढ़ नहीं हो जाते, उनकी बुद्धि अष्ट नहीं होती। जो यह निश्चय करके कि मेरा यत्न सिद्ध हो जायगा, आरम्भ करता है, कार्य पूरा किये बिना बीच में नहीं रुकता, बिना प्रयोजन का काम किसी समय नहीं करता और आत्मा को वश में किये हुए है, वह पण्डित कहलाता है। हे भरतश्रेष्ठ! पण्डित लोग श्रेष्ठ और बढ़ती के काम करते हैं और हित की सम्पत्ति को अच्छी दृष्टि से देखते हैं, हित की बातें कहने-

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
 चिरं करोति क्षिप्रार्थं स मूढो भरतर्षभ ॥ ३९ ॥
 श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
 सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४० ॥
 अनादृतः प्रविशति अपृष्टो बहु भापते ।
 अविश्वस्ते विश्वासिति मूढचेता नराधमः ॥ ४१ ॥
 परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
 यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ४२ ॥
 आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
 अलभ्यमिच्छन्नैकम्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ४३ ॥
 अशिष्यं शास्ति यो राजन्यश्च शून्यमुपासते ।
 कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४४ ॥
 अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
 विचरत्यसमुद्भ्रष्टो यः स पांडित उच्यते ॥ ४५ ॥
 एकः संपन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
 योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४६ ॥

को मित्र बनानेवाला, मित्र से द्वेष और उसकी हत्या करनेवाला, और निन्दित कर्म करनेवाला मूढ़ कहा जाता है। कर्तव्य कार्यों को नौकर-चाकरों से करानेवाला, सब बातों में सन्देह करनेवाला, शक्ति के कार्य में देर लगानेवाला मूढ़ है। पितरों का श्राद्ध और देवताओं की पूजा न करनेवाला, हितचिन्तक मित्र को न खोजनेवाला मूढ़ है। बिना बुलाये किसी के पास जानेवाला, बिना पूछे बहुत कुछ कह जानेवाला, अविश्वास के योग्य मनुष्य पर विश्वास करनेवाला मूढ़ नराधम है ॥३६।४१॥

आप स्वयं कोई दोष का काम करके भी उसी दोष के लिए दूसरे पर आक्षेप करनेवाला और निर्बल

होकर भी क्रोध करनेवाला सबसे बड़कर मूढ़ है। जो मनुष्य अपने बल को न जानकर, धर्मार्थ शून्य होकर भी, बिना यत्न किये अलभ्य या दुर्लभ वस्तु को प्राप्त करना चाहता है वह मूढ़ है। हे राजेन्द्र! जिसका शासन न करना चाहिए उसको जो उपदेश करता है, छिपकर राज-द्वाराओं से सम्बन्ध रखता है और कञ्जूम की सेवा करता है वह मूढ़ है। हे राजेन्द्र! जो मनुष्य सम्पत्तिशाली होकर अकेला स्वादिष्ट वस्तु खाता है, अकेला सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र पहनता है, और मरण-पोषण के योग्य व्यक्तियों को अन्न-वस्त्र नहीं देता, उससे बड़कर निटुर और नीच कौन होगा? ॥४२।४६॥

क्षमा वशीकृतिलोके क्षमया किं न साध्यते ।	
शांतिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५५ ॥	
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।	
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५६ ॥	
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शांतिरुत्तमा ।	
विद्यैका परमा तृप्तिर्हिंसैका सुखावहा ॥ ५७ ॥	
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव ।	
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५८ ॥	
द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।	
अब्रुवन्परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५९ ॥	
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।	
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ६० ॥	
द्वाविमौ कंटकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।	
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ६१ ॥	
द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।	
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांचैव भिक्षुकः ॥ ६२ ॥	

बोलना स्वर्ग की सीढ़ी है। खेद है कि यह बात आपकी समझ में नहीं आती। क्षमा करनेवाला असमर्थ समझा जाता है, यही एक दोष है। परन्तु इस दोष का ख्याल न करना चाहिए; क्योंकि क्षमा ही मनुष्य का परम बल है। क्षमा आशक्तों के लिए गुण है और समर्थों के लिए आमूषण है। क्षमा एक उत्तम वशीकरण है। क्षमा से कौन काम नहीं सिद्ध होता ! जिसके हाथ में क्षमा रूपी खड्ग है उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है ? ॥५०॥५१॥

पाप-दूष से शून्य जगह पर गिरकर अग्नि आप ही बुझ जाती है। जिसमें क्षमा नहीं है, वह दूरों में और अपने में सँकड़ों दोष उत्पन्न कर

लेता है। हे महाराज ! धर्म ही परम कल्याण-दाता है, क्षमा ही उत्तम शान्ति है, विद्या ही परम तृप्ति है और अहिंसा ही परम सुल देती है। सर्प जैसे बिल में रहनेवाले जीवों को खा लेता है वैसे ही यह भूमि युद्ध-विमुक्त राजा और प्रवासविमुक्त ब्राह्मण को ग्रस लेती है ॥५६॥५८॥

इस लोक में कटु वचन न बोलने से और दुष्टों का आदर न करने से मनुष्य की प्रशंसा होती है। हे पुरुषसिंह ! दूसरी के चाहे हुए पुरुष को चाहनेवाली स्त्रियाँ और पूजित की पूजा करनेवाले (अर्थात् दुर्योधन से सम्मान-प्राप्त कर्ण को तुम भी मानते हो) मूर्ख पुरुष, ये दोनों दूसरों को विधात

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ७१ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।

शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ७२ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।

त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ७३ ॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पंडितस्तानि विद्यात् ।

अल्पप्रज्ञैः सह मंत्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रैरभसैश्चारणैश्च ॥ ७४ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसंतु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्य धर्मं ।

वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७५ ॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।

पृच्छते त्रिदशेंद्राय तानीमानी निबोध मे ॥ ७६ ॥

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम् ।

विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७७ ॥

को आधा राज्य दे सकते हैं । हे महाराज ! पराये धन को हरना, पराई स्त्री को खराब करना और हितचिन्तक मित्र को दूर कर देना, ये तीन दोष सर्वसंहार का कारण होते हैं ॥६९,७०॥

काम, क्रोध और लोभ, ये तीनों नरक के द्वार और आत्मविनाश के कारण हैं । इसलिए इनसे सदा बचना ही चाहिए । वर देना, राज्यलाभ और पुत्र का जन्म, इन तीनों के बराबर शत्रु को कष्ट से छुड़ाना है । भक्त, उपासक (आश्रय में रहनेवाला) और 'मैं तुम्हारा हूँ' कहनेवाला, इन तीनों शरणागतों को महाविपत्ति के समय भी न छोड़ना चाहिए । हे राजेन्द्र ! पण्डित को यह बात जान रखनी चाहिए कि महाबली राजा निम्नलिखित चार पुराणों को मंत्रों न बनावे—जो अल्प बुद्धीवाला हो, जो शीघ्र के कार्य में देर लगानेवाला हो, जो

'करूंगा करूंगा' कहकर समय गँवानेवाला आलसी हो, और जो खुशामदी हो, उससे सम्पत्ति न लेना ही भला है । हे तात ! सदा गृहस्थधर्म में अनुरक्त और सम्पत्तिशाली आपके घर में वृद्ध जातिवाला, विपत्ति का सताया कुलीन पुरुष, दरिद्र मित्र और बिना बालबच्चों की बहन, ये चार मनुष्य सदा रहें । क्योंकि वृद्ध जातिवाला कुल-धर्मों का उपदेश करता है, कुलीन व्यक्ति बच्चों को सदाचार सिखाता है, मित्र हित की बात कहता है और बहन धन की रक्षा करती है ॥७१,७५॥

हे राजेन्द्र ! इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने कहा है कि स्वर्गवासी देवताओं का सङ्कल्प, बुद्धिमान् तेजस्वियों का प्रभाव कृतविद्य का विनय और पापकर्म करनेवालों का विनाश लुप्त फलता है; ये चारों बातें कर्मो निष्फल नहीं जाती । विधिपूर्वक धृद्धा से किया हुआ

पडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
 सत्त्वं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८६ ॥
 पडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
 गावः सेवा कृपिभार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८७ ॥
 पडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
 आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८८ ॥
 नारी विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
 नावं विस्तीर्णकांतारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८९ ॥

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः।
 स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः पद् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ९० ॥
 ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः ।
 परभाग्योपजीवी च पडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९१ ॥
 अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
 वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या पद् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ९२ ॥
 पणामास्मानि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
 न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ९३ ॥

रहनेवाले नाई को उधी तरह छोड़ देना चाहिए, जैसे समुद्र में टूटी हुई नाव को लोग छोड़ देते हैं ॥ ८१।८५ ॥

हे महाशय ! सत्य, दान, आलस्य का त्याग, ईर्ष्या न करना, क्षमा और धैर्य इन छ गुणों को कभी न छोड़ना चाहिए । भाग्य, खेती, भार्या, सेवा, विद्या और शूद्रसङ्गति, ये छ वस्तुएँ तनिक सी लापरवाही होते ही नष्ट हो जाती हैं । हे राजेन्द्र ! ये छ मनुष्य अपने पहले के उपकार करनेवाले को मूल जाते हैं, उसका आदर नहीं करते,—विद्या पढ़ चुकने पर शिष्य अपने गुरु को, विवाह कर लेने पर पुत्र अपनी माता को, भोग कर चुकने पर पुरुष-स्त्री को, कार्य सिद्ध हो जाने पर कृतार्थ पुरुष

अपनी सहायता करनेवाले को, पार पहुँचे हुए लोग नाव को और आराम हो जाने पर रोगी वैद्य को छोड़ देते हैं । हे महाशय ! आरोग्य, ऋणी न होना, प्रवास में न रहना, सज्जनों का सङ्ग, अपने विचार से ठीक की गई जीविका और निर्भय निवास, ये छ मनुष्य-लोक के सर्वोपरि सुख हैं ॥ ८६।९० ॥

ईर्ष्याकरनेवाला, घृणित कार्य करनेवाला, असन्तोषी, क्रोधी, नित्य शक्ति रहनेवाला और दूसरे के दुःख खानेवाला, ये छ मनुष्य सदा दुःखित रहते हैं । हे राजेन्द्र ! नित्य धन की आमदनी, सदा आरोग्य रहना, प्रिया और प्रियवादिनी भार्या, आज्ञाका पालन करनेवाला पुत्र और वर्धकरी विद्या, ये बातें मूलोक में

समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
 पुत्रेण च परिव्वंगः सन्निपातश्च मैथुने ॥१०२॥
 समये च प्रियालापः स्वयूध्येषु समुन्नतिः ।
 अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥१०३॥

अग्रौ गुणाः पुरुषंदीपयन्ति प्रजा चकौल्यं च दमः श्रुतं च ।
 पराक्रमश्चावहुभापिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥१०४॥
 नवद्वारमिदं वेदम त्रिस्थूणं पंचसाक्षिकम् ।
 क्षेत्रज्ञाधिप्रितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१०५॥
 दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्रं निबोध तान् ।
 मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रांतः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०६॥
 त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
 तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पंडितः ॥१०७॥
 अत्रैवोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ।
 पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥१०८॥

कुछ मॉगते भी है तो उन्हें डाँट-फटकार बतलाता है ।
 ॥१०६॥१००॥

हे महाराज ! बुद्धिमान् पुरुष को सदा विचार-पूर्वक इन दोषों से बचना चाहिए । हे राजेन्द्र ! इसी तरह मित्र का मिलना, बहुत से धन की प्राप्ति, पुत्र को छाती से लगाना, स्त्रीसम्भोग, यथासमय स्त्री से प्रिय चार्त्तालाप, अपन पक्ष की उत्पत्ति, वाञ्छित वस्तु का लाभ और लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करना, ये आठ बातें सुख का साराश हैं । इनमें बढ़कर सुख मनुष्य के लिए नहीं है । हे कुरुकुन्-तिलक ! समझ-दारी, कुलीनता, इन्द्रियदमन, शास्त्र का ज्ञान, पराक्रम, व्यर्थ बहुत बकबक न करना, यथाशक्ति दान करना और श्रुतज्ञता, ये आठ गुण मनुष्य के तेज और प्रभाव को बढ़ाने हैं । हे राजेन्द्र ! यह मनुष्य का शरीर एक पर है । इसमें नव द्वार हैं । धान, विष्,

और श्लेष्मा ये तीन धूनिया हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाच विषय साक्षी हैं । इस पर मैं क्षेत्रज्ञ जीव रहता है । जो मनुष्य इस शरीरतत्त्व को जानता है वही पण्डित है ॥१०१॥१०५॥

हे राजेन्द्र ! गदिरा आदि से मतवाला, अन्य विषय की आसक्ति से असावधान, उन्मत्त, यका हुआ, क्रोध में भरा हुआ, मूखा, शीघ्र में पड़ा हुआ, लोभी, भयभीत और कामपीडित, ये दस तरह के मनुष्य धर्म को नहीं जानते । इस कारण पण्डित पुरुष को इन दसों भावों से दूर रहना चाहिए । हे धृतराष्ट्र ! यदा पर पक्ष प्राचीन इतिहास कटा जाता है । असुरेन्द्र सुधन्वा ने अपने पुत्रसे जो कुछ कहा है वह मैं आपको सुनाता हूँ । जो राजा काम-लोभ में बचकर सुधन्व को दान करता है, विशेषज्ञ होता है, शास्त्रों का ज्ञाता और बर्नेत्य कार्य को शीघ्र कर

न मूर्च्छितः कटुकान्याह किञ्चित्प्रियं सदा तं कुरुतेजनो हि ॥ ११६ ॥
 न वैरमुद्दीपयति प्रशांतं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
 न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥ ११७ ॥
 न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
 दत्त्वा न पश्चात्कुरुते न तापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥ ११८ ॥
 देशाचारांसमयान्जातिधर्मान्बुभूपते यः स परावरज्ञः ।
 स यत्र तत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥ ११९ ॥
 दंभं मोहं मत्सरं पापकृत्यं राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
 मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं यः प्रज्ञावान्ब्रजयेत्स प्रधानः ॥ १२० ॥
 दानं होमं दैवतं मंगलानि प्रायश्चित्तान्विविधाँल्लोकवादान् ।
 एतानि यः कुरुते नैत्यकानि तस्योत्थानं देवताराधयन्ति ॥ १२१ ॥
 समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
 गुणैर्विशिष्टाँश्च पुरो दधाति विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥ १२२ ॥
 मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
 ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहात्यनर्थः ॥ १२३ ॥

कहता और क्लेश को शांत करना चाहता है, वही सर्वश्रम प्रशंसा पाता है ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

जो उद्वेग भाव प्रकट करनेवाली घोषणा नहीं पढ़नता, पौरुष में प्रपल होकर भी औरों की निन्दा या अपनी प्रशंसा नहीं करता, किसी के बुरे वचनों से क्रोधित होकर भी कटु वचन नहीं कहता, उभी मनुष्य पर सब लोगों का प्यार होता है । जो शांत वैर को नहीं उभारता, दर्प छोड़कर शान्ति का आश्रय लेता है, अपनी दुर्गति की दशा में भी अनुचित काम नहीं करता, उस आर्य पुरुष की सब लोग प्रशंसा करते हैं । जो अपने सुख में अत्यन्त प्रसन्नता नहीं दिखता, दूसरे के दुःख में आनन्द नहीं मनाता और देकर धिंसे परताता नहीं है, वह सत्पुरुष आर्य कहलाता है । देशान्तर, समय की गति और जानियों

के धर्म आदि विषयों की जानकारी प्राप्त करने में लगा हुआ पुरुष श्रेष्ठ ज्ञानी माना जाता है । वह जहाँ जाता है वही नेता बन जाता है । जो चतुर पुरुष मतवाले, उन्मत्त और दुर्जनों से वाद-विवाद नहीं करता, दम्भ (पाखण्ड), मोह, मत्सर, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलवाजी और बहुत लोगों से वैर नहीं करता, वही प्रधान पुरुष है ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

जो मनुष्य नित्य [पवित्रता के मार्ग] देवताओं की आराधना और अन्य महत्कृत्य करता है, दैनिक पाप के प्रायश्चित्त के लिए पत्र महायज्ञ करता है और तादन्ताद के लोक व्यवहार करता है, उसके अशुद्धय को देवता चाहते हैं और उनकी महायज्ञता भी करते हैं । जो पुरुष बगवद्वाचों से विवाद, मिथ्या, व्यवहार और वान-वीन करता है—हीनो में नहीं;

त्वं मां यथावद्विदुर प्रशाधि प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरुणाम् ॥ २ ॥
पापाशंकी पापमेवानुपश्यन्पृच्छामि त्वां व्याकुलेनारमनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

विदुर उवाच-शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ ४ ॥
तस्माद्ब्रूयामि ते राजन् हितं यत्स्यात् कुरुन्प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥
मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्धयेयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥
तथैव योगाविहितं यत्तु कर्म न सिद्धयति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥
अनुबंधानपेक्षत सानुबंधेषु कर्मसु ।
संप्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥
अनुबंधं च संप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमारमनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

चौत्तिसवा अध्याय ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भाई विदुर ! इस प्रकार निद्रा न आने पर चिन्ता से पीड़ित मनुष्य को क्या करना चाहिए ? तुम धर्म-अर्थ की बातों में विपुण हो । मेरे इस प्रश्न का उत्तर विस्तार के साथ दो । हे विदुर ! तुम युधिष्ठिर और कौरवों का हित जिसमें समझते हो, वह विचार करके मुझसे कहो । अपने पहले के अपराध से मुझे कुल का विनाश ही देख पड़ता है । इसी से शङ्कित और व्याकुल होकर मैं यह तुमसे पूछता हूँ । हे चतुर ! अब तुम मुझसे युधिष्ठिर का निश्चय अच्छी तरह से कहो ॥१॥३॥

विदुर ने कहा—जो अपना अनादर न चाहता

हो उसे चाहिए कि बिना पूछ किसी से शुभ या अशुभ, प्रिय या अप्रिय, कुछ न कहे । आप पूछते हैं, इससे अब मैं कौरवों के भले के लिए धर्मसम्मत श्रेयस्कर बातें कहता हूँ—सुनिष्ट । कपटघूत आदि कर्म, जो बुर उपायों से सिद्ध होते हैं, उनमें मन न लगाईए । ऐसे ही जो काम युक्ति के साथ उपयुक्त उपायों से किये जाने पर भी सिद्ध न हों, तो उस असफलता से मन में ग्लानि न लाना चाहिए । प्रयोजनीय कार्यों में पहले प्रयोजन को देखना चाहिए । इस प्रकार विचार और निश्चय करके कार्य करना चाहिए । कोई कार्य एकाएक कर बैठना बड़ी मूर्खता

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
 मालाकार इवारामे न यथांगारकारकः ॥ १८ ॥
 किन्तु मे स्यादिदं कृत्वा किन्तु मे स्यादकुर्वतः ।
 इति कर्माणि संचित्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥
 अनारभ्या भवंत्यर्थाः के चिन्नित्यं तथाऽगताः ।
 कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥ २० ॥
 प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
 न तं भर्तारमिच्छन्ति पढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥
 कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
 क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥
 ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषाऽनुपिवन्निव ।
 आसीनमपि तृष्णाकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥
 सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः ।
 अपकः पकसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥
 चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
 प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

ले लेता है वैसे ही चतुर राजा प्रजा को सताता या मारता नहीं है, सहज उपाय से धन प्राप्त कर लेता है। माली की तरह राजा को फूल फूल चुन लेना चाहिए, जड़ न काट डालनी चाहिए। जैसे कोयले बुझानेवाला जड़ से काटकर पेड़ को जला देता है वैसे प्रजा का संहार करना उचित नहीं। मनुष्य को चाहिए, प्रत्येक कार्य में पहले यह सोच ले कि इसके करने से क्या लाभ होगा और न करने से क्या हानि होगी। यों सोचने के पश्चात् चाहे उस कार्य को करे और चाहे न करे। कुछ ऐसे अप्राप्य मनोरथ होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए उद्योग ही न करना चाहिए। क्योंकि उनमें किया गया पौरुष

व्यर्थ होता है ॥१७॥२०॥

जैसे स्त्रियाँ नपुंसक पति को नहीं चाहती वैसे ही जिस राजा की प्रसन्नता व्यर्थ और क्रोध निष्फल होता है उसे प्रजा अपना स्वामी बनाये रखना नहीं चाहती। कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनकी जड़ (आरम्भ) छोटी और फल भारी होता है। प्राज्ञ पुरुष ऐसे कामों में देर नहीं लगाते, शीघ्र उन्हें आरम्भ कर देते हैं। जो राजा स्नेहपूर्ण सरल दृष्टि से सबको देखता है वह चाहे चुपचाप भी बैठा रहे, प्रजा उस पर अनुराग रखती है। राजा को चाहिए कि वृक्षकी तरह अच्छीतरह फलरुकर भी (वाणी और जालों से अनुग्रह दिखाकर भी) फलहीन रहे (आश्रित

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
 संचिन्वन् धीर आसीत् शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥
 गंधेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
 चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥
 भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
 अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदंत्यपि ॥ ३५ ॥
 यदतसं प्रणमति न तत्संतापयंत्यपि ।
 यच्च स्वयं न तं दारु न तत्संतापयंत्यपि ॥ ३६ ॥
 एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
 इंद्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥
 पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मंत्रिवांधवाः ।
 पतयो वांधवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदवांधवाः ॥ ३८ ॥
 सत्येन रक्षयते धर्मो विद्यायोगेन रक्षयते ।
 मृजया रक्षयते रूपं कुलं वृत्तेन रक्षयते ॥ ३९ ॥
 मानेन रक्षयते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुकमः ।
 अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचेततः ॥ ४० ॥

बिनकर जीविका चलानेवाले तपस्वी दाने बिनते रहते हैं वेसे ही धीर पुरुष को सबसे बड़े मनुष्यों के वचन या उपदेश और सत्कार्य सुनकर ग्रहण कर लेने चाहिएँ। गायें गन्ध से, ब्राह्मण वेद से, राजा लोग जासूसों से और अन्य लोग आँखों से देखते हैं। दुहने के समय जो गाय उत्पात करती है उसको बहुत बलेश सहने पड़ते हैं, और जो गाय सहज में दुह लेने देती है उसे कोई कुछ भी कष्ट नहीं देता। ॥३१।३५॥

जो बिना ताप पहुँचाये ही शुकता है उम ताप न पहुँचाना चाहिए। जो लकड़ी स्वयं शुकती हुई हो उसे शुकाना पण्डित का काम नहीं। इस उपमा

का म्बाल करके धीर पुरुष को अपने से बलवान् के आगे शुकना चाहिए। जो प्रबल से शुकता है वह बल के अधिष्ठाता देवता इन्द्र को प्रणाम करता है। पशुओं के स्वामी (घास चारा उत्पन्न करके पालनेवाले) मेघ हैं, राजाओं के बन्धु मन्त्री लोग हैं, स्त्री का मित्र पति है और वेद ब्राह्मणों के बान्धव हैं। सत्य से धर्म की, अभ्यास से विद्या की, स्वच्छ करने से रूप की और सदाचार या अच्छे चरित्र से कुल की रक्षा होती है। परिणाम से अन्न आदि पदार्थ, चलाने और कसरत कराने से घोड़े, बार बार की देखभाल से गायें और मलिन वस्त्रों से स्त्रियाँ सुरक्षित रहती हैं ॥३६।४०॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।	
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः ॥ ४८ ॥	
आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।	
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥	
संपन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुजंते सदा ।	
क्षुत्स्वादुतां जनयति साचाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥	
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।	
जीर्यत्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥	
अवृत्तिर्भयमत्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।	
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ॥ ५२ ॥	
ऐश्वर्यमदपापिष्ठा सदाः पानमदादयः ।	
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नाऽपतित्वा त्रिबुध्यते ॥ ५३ ॥	
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।	
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥	
योजितः पंचवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।	
आपदस्तस्य वर्धते शुक्लपक्ष इवोडुराद् ॥ ५५ ॥	

नष्ट हो जाता है उसका जीवन, ऐश्वर्य और बन्धु आदि सब व्यर्थ हैं। धनी लोग मांस अधिक खाते हैं, मध्यवित्त लोग गोरस का अधिक सेवन करते हैं और दरिद्र लोग तेल को ही श्रेष्ठ समझकर खा लेते हैं। सत्य तो यह है कि निर्धन लोग ही सबसे मजे में सुख का कौर खाते हैं। मूल ही आहार में स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह मूल धनी पुरुषों को नहीं लगती, इसलिए वह निर्धनों को मिलनेवाला स्वाद धनी पुरुषों को दुर्लभ है ॥४६।५०॥

प्रायः देखा जाता है कि श्रीमान् लोगों को अजीर्ण सताये रहता है, उनमें खाने की शक्ति ही नहीं देखी जाती। किन्तु दरिद्र लोग लकड़ी भी खा

ले तो पच जाती है। अधम पुरुष जीविका की हानि से, मध्यम पुरुष मृत्यु से और उत्तम पुरुष अपमान से बहुत भयभीत होते हैं। विद्या-मद, पानमद आदि से ऐश्वर्य का मद अधिक हानि पहुँचानेवाला है। क्योंकि ऐश्वर्य के मद में मतवाला पुरुष अपने अधः पतन का देखकर भी सचेत नहीं होता। सूर्य आदि ग्रहों से जैसे नक्षत्रों को पीड़ा पहुँचती है (अर्थात् उनके प्रताप से नक्षत्रों की प्रभा क्षीण हो जाती है), वैसे ही अपने विषयों में आसक्त और बश में न आनेवाली इन्द्रियां सब लोगों को कष्ट में डाल देती हैं। स्वभाव से ही मन को अपनी ओर खींचनेवाली इन्द्रियों के बश में जो पुरुष रहता है उसकी आप-

इंद्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥
 आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
 आत्मा ह्येवात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥
 बंधुरात्माऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
 स एव नियतो बंधुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६५ ॥
 भुद्राक्षेणोव जालेन झपावपिहितावुरू
 कामश्च राजन्क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः ॥ ६६ ॥
 समवेक्ष्येह धर्मार्थौ संभारान्योऽधिगच्छति ।
 स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥
 यः पंचाभ्यंतरान्शत्रून्विजित्य मनोमयान् ।
 जिगीषति रिपून्न्यान्रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥
 दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
 इंद्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

असंत्यागात्पापकृतामपापांस्तुल्यो दंडः स्पृशते मिश्रभावात् ।
 शुष्केणाद्रं दह्यते मिश्रभावात्तस्मात्पापैः सह संधिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥
 निजानुत्पत्ततः शत्रून्पंच पंच प्रयोजनान् ।

को वश में न रख सकने के कारण, ऐश्वर्य से अष्ट हो जाता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में रखकर मनुष्य को अपने हृदय में अपने सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। मनुष्य आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु होता है, अर्थात् अपनी मलाई या बुराई उसी के हाथ में है। जिसने आत्मविचार से अपने मन को वश में कर लिया है वही अपने आत्मा का मित्र है। मन ही अपना मित्र है, और वही अपना शत्रु है ॥६१॥६५॥

हे भरतश्रेष्ठ ! छोटे छेदवाले जाल को जैसे बड़ी मछलिया फाड़ डालती हैं वैसे ही ज्ञान को काम और क्रोध मिटा देते हैं। जो पुरुष धर्म और

अर्थ को अच्छी तरह देखकर जयसाधक कार्यों का आरंभ करता है वह विजय और ऐश्वर्य पाकर सदा सुख पाता है। जो पुरुष मन के अनुगामी, अपने हृदय में रहनेवाले शत्रुरूप पापों इन्द्रियों को जीते बिना अभ्य बाहरी शत्रुओं को जीतना चाहता है वह शत्रुओं के वश होकर कष्ट भोगता है। बड़े बड़े राजा लोग इन्द्रियों को जीतने में असमर्थ होने के कारण राज्य के मोह में, ऐश्वर्य-विलास में, मग्न होकर अपने कर्मों से ही शत्रु के मुँह में जीते देख पड़ते हैं। जैसे सूखी लकड़ी के साथ गली लकड़ी भी अग्नि में जलती है, वैसे ही पापियों के साथ में पुण्यात्माओं को भी पापियों के समान

वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥
 वाक्सायका वदन्नास्त्रिष्पतंति यैराहतः शोचति राज्यहानि ।
 परस्य नामर्मसु ते पतंति तान्पंडितो नावसृजेत्परभ्यः ॥ ८० ॥
 यस्मै देवाः प्रयच्छंति पुरुषाय पराभवम् ।
 बुद्धिं तस्यापकर्षति सोऽत्राचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥
 बुद्धौ क्लृपभृतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
 अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥
 सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
 पांडवानां त्रिरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥
 राजा लक्षणसंपन्नश्चैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
 शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥
 अतीव सर्वान्पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
 तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥
 अनुक्रोशादानुशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
 गौरवाच्च राजेन्द्र वदून्केशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

कर्णाकार, नालीक, नाराच आदि बाण शरीर से निकाल लिये जा सकते हैं, परन्तु हृदय में चुभे हुए बाणी के बाण किसी तरह नहीं निकलते, हृदय में खटक करते हैं। मुँह से निकले हुए वचनबाण जिसके कलेजे में लगते हैं वह दिन-रात शोक से व्याकुल रहता है। वे बाण औरों के मर्मस्थल पर ही चोट करते हैं। उन बाण्य बाणों को पण्डित पुरुष औरों पर न छोड़े ॥७६।८०॥

देवता लोग जिसका परामर्श चाहते हैं उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर देते हैं तब उसे नीच कर्म सूझने लगते हैं। जब बुद्धि क्लृपित हो जाती है और विनाश सिर पर आ जाता है तब अनुचित कार्य उचित सा जान पड़ता है और वह किसी तरह हृदय से नहीं हटता। हे भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रों को उसी

बुद्धि ने घेर रक्खा है; वे पाण्डवों से विरोध बढ़ाना ही अच्छा समझते हैं। परन्तु आपको इन लोगों का पता नहीं लगता। हे धृतराष्ट्र! शिष्य की तरह आपकी आज्ञा माननेवाले महाराम युधिष्ठिर त्रिलोकी का राज्य करने की योग्यता रखते हैं और उनमें वे सब लक्षण हैं। आप उन्हें उनका राज्य दे दीजिए। राज्य में पहले उनका भाग है। वे धर्म-अर्थ के ज्ञाता और तेज तथा बुद्धि में आपके सब पुत्रों से बढ़कर हैं। वे धर्मात्मा दयालु स्वभाव से क्रूर प्रकृति न होने के कारण और आपके बढ़पन का खयाल कान्के, अनेक क्लेशों का सह रहे हैं; युद्ध नहीं छोड़ते ॥८१।८६॥

—०—

उद्योगपर्व का चौतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

- विरोचन उवाच—प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥
- केशिन्मुवाच—इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन
सुधन्वा प्रातरागंता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥
- विरोचन उवाच—तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भापसे ।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातरर्द्रष्टाऽसि संगतौ ॥ ११ ॥
- विदुर उवाच—अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमंडले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥
सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनीं तथा ।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥
- सुधन्वोवाच—अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसंपन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥
- विरोचन उवाच—तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाऽप्यथवा वृसी ।
सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥
- सुधन्वोवाच—पिता पुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रो क्षत्रियावपि ।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण श्रेष्ठ है या दैत्य ? तुमसे पहले के प्रार्थी सुधन्वा नयों न मेरे पति हों ? विरोचन ने कहा—हे केशिनी ! प्रजापति से उत्पन्न हम दैत्य ही श्रेष्ठ हैं । ये सब लोक हमारे ही हैं । देवता कौन हैं और ब्राह्मण कौन होते हैं ? केशिनी ने कहा—मैं यहीं पर तुम दोनों प्रार्थियों की प्रतीक्षा करूँगी । तुम यहीं उठरो, प्रातः काल सुधन्वा भी आवेंगे । तुम दोनों को एक साथ देखकर मैं निश्चय करूँगी ॥६१०॥

विरोचन ने कहा—हे भद्रे ! मैं तुम्हारे कहे के अनुसार कार्य करूँगा । कल तुम मुझे सुधन्वा के साथ प्रातः काल देखोगी । विदुर कहते हैं कि

। रात्रि व्यतीत हो गई, सूर्योदय हुआ । उस समय सुधन्वा भी वहा आ गये । विरोचन और केशिनी के पास सुधन्वा के पहुँचने पर केशिनी ने उठकर उनका सत्कार किया । अब सुधन्वा ने विरोचन से कहा—मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय आसन को केवल स्पर्श से स्वीकार किये लेता हूँ किन्तु तुम्हारे साथ एक आसन पर बैठ नहीं सकता । विरोचन ने कहा—ठीक है, तुमको तो लकड़ी का या कुश का आसन चाहिए । सुधन्वा, तुम मेरे साथ आसन पर नहीं बैठ सकते ॥१११५॥

सुधन्वा ने कहा—हे विरोचन ! पिता और

विदुर उवाच—तस्माद्राजेंद्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
 मागमः स सुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमद्रुवन् ॥ ३९ ॥
 न देवा दंडमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
 यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ॥ ४० ॥
 यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
 तथा तथाऽस्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ॥ ४१ ॥

नैनं छंदांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
 नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छंदांस्येनं प्रजहत्यंतकाले ॥ ४२ ॥
 मद्यपानं कलहं पूगवैरं भार्यापत्योरंतरं ज्ञातिभेदम् ।
 राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं वर्ज्यान्याहुर्व्यश्च पंथाः प्रदुष्टः ॥ ४३ ॥
 सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं शलाकधूर्तं च चिकिरसकं च ।
 अरिं च मित्रं च कुशीलवं च नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सत ॥ ४४ ॥
 मानाग्निहोत्रमुत् मानमौनं मानेनार्थीतमुत् मानयज्ञः ।
 एतानि चत्वार्यभयंकराणि भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ॥ ४५ ॥
 अगारदाही गरदः कुंडाक्षी सोमविक्रयी ।

केशिनी इन्दी की भार्या हो और ये मेरे आगे केशिनी के पाव हल्दी से घोवे ॥३७३८॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! इसलिए भूमि के वास्ते आप असत्य न बोले और मिथ्या निर्णय न करें। जो पुरुष भूमि के लिए असत्य बोलता है उसका नाश हो जाता है। आप भी पुत्र का पक्ष लेकर भूमि के लिए अन्याय न कीजिए, नहीं तो पुत्र, परिवार, मन्त्री आदि सदित आपका सत्यानाश हो जायगा। देवता पशुपालकों की तरह लाठी लेकर किसी की रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे अच्छी बुद्धि दे देते हैं ॥३९४०॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणदायक कामों में मन लगाता है जैसे-जैसे उनके सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं। जो मायावी पुत्र छल-कपट करता है उसको

कष्ट को वेद नहीं दटा सकते। जैसे पशु निकलने पर पक्षियों के बच्चे घोसला छोड़कर उड़ जाते हैं वैसे ही वेद भी अन्तकाल में उस कपटी को छोड़ जाते हैं ॥४१॥४२॥

हे महाराज ! शास्त्र में लिखा है कि मद्यपान, कलह, बहुत मनुष्यों से वैर, स्त्री और पति में मनमुटाव जाति-माझ्यों में घृष्ट, राजद्रोह, स्त्री पुरण में वैर और दुषित मार्य, इनसे सदा बनना चादिए। इसके सिवा हस्तेन्वा देखनेवाले को, पहलू के चोर बनिये को, शलाका (मन) फेंककर मनुज आदि बनाने शालू धूर्त को, पैघ को, शत्रु को, मित्र को और अधिक भद्र आदि को कभी भवाह न बनाना चादिए। अग्निहोत्र मोनमन, अध्ययन और यज्ञ, ये चार काम विधिपूर्वक करने से अभय देने हैं, किन्तु विधिके विपरीत करने से

राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।

चत्वार्येषामन्वेतानि सद्भिश्चत्वारि चैषामनुयांति संतः ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।

दमः सत्यमार्जवमानृशंस्य चत्वार्येतान्यनुयांति संतः ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।

अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दंभार्थमपि सेव्यते ।

उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

न सा सभा यत्र न संति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।

नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।

शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।

पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यंतमश्नुते ॥ ६० ॥

तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।

दमन, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, कम बोलना, यथाशक्ति दान की प्रवृत्ति और कृतज्ञता, इन आठ गुणों से मनुष्य का चरित्र उज्ज्वल होता है । हे महाराज ! इन सब गुणों से बढ़कर एक गुण यह है कि राजा सचका सत्कार करे । इस गुण के साथ ही और सब गुण भी रहते हैं । हे राजेन्द्र ! इस लोक में आगे कहे गये आठ गुण स्वर्ग के चिह्न हैं । इनमें से चार तो सज्जनों के स्वाभाविक गुण हैं और चार को सीखना पड़ता है । यज्ञ, दान की प्रवृत्ति, अध्ययन और तप, ये स्वाभाविक गुण हैं और जितेन्द्रियता, सत्य, सरलता और कोमलता, इनका अभ्यास करना पड़ता है ॥५१॥५५॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और जितेन्द्रियता, ये आठ बातें धर्म का मार्ग हैं । इनमें से पहले की चार बातें तो दिलाने के लिए पाखण्डी भी करते हैं, पर पीछे की चार बातें सब महाराजों के सिवा औरों में नहीं पाई जाती । जिसमें वृद्धे (अनुभवी) लोग नहीं हैं वह सभा ही नहीं है, जो धर्म का उपदेश नहीं करते वे वृद्ध ही नहीं हैं, जिसमें सत्य नहीं वह धर्म ही नहीं है और जिसमें छल का रेश भी है वह सत्य ही नहीं है । सत्य, रूप (विनय का भाव), शास्त्र का ज्ञान, विद्या, कुल, शील, बल, धन, श्रुता और युक्तिपुक्त बात करना—ये गुण स्वर्ग के हैं । पाप करनेवाला यहा बदनामी उठाकर

जीर्णमन्त्रं प्रशंसन्ति भार्या च गतयौवनाम् ।
 शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥
 धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
 असंबृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥
 गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
 अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥
 ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
 प्रभवो नाधिगंतव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥
 द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
 क्षत्रियः शीलभाद्राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥
 सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
 शूरश्च कृतवियश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥
 बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
 तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥
 दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
 कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

कटें । पहली अवस्था में वह करना चाहिए जिससे बुढ़ापा सुख से कटे और जन्म भर वह काम करना चाहिए जिससे परलोक में सद्गति हो । पच जाने पर भोजन की, जवानों व्यतीत हो जाने पर भार्या की, समर जीत लेने पर शूर की ओर सिद्धि पा जाने पर तपस्वी की प्रशंसा होती है । अधर्म से प्राप्त किये गये धन के द्वारा जो दोष ढका जाता है, वह तो खुला ही रहता है, बल्कि और छिद्र भी खुल जाते हैं ॥६६॥७०॥

आरमज्ञानियों का शासक गुरु है, दुष्टों का शासक राजा है, किन्तु जो लोग गुप्त रूप से पाप करते हैं उनको दण्ड देनेवाले साक्षात् यमराज ही

हैं । ऋषि, नदी, कुल और महात्माओं की वरपति तथा स्त्रियों के कुचरित्र का हाल नहीं जाना जा सकता । हे राजेन्द्र ! जो सुशील राजा ब्राह्मणों का सत्कार करता है, जातिवालों को धन आदि देकर सन्तुष्ट रखता है, सरल और सुशील है, वह बहुत समय तक राज्य करता है । शूर, विद्वान् और सेवा के दक्ष को जाननेवाला, ये तीन प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर सपत्ति प्राप्त कर सकते हैं । बुद्धि के कार्य श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबल के काम मध्यम होते हैं, जाँघ का काम नीच है और बोझ देने का काम महा अधम है । आप दुर्योधन, शकुनि, मूढ़ दुःशासन और कर्ण को राज्य का मुखिया बनाकर भलाई की

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथाऽसून् रूक्षावाचो निर्दहंतीह पुंसाम् ।
 तस्माद्वाचमुपतीं रूक्षरूपां धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥
 अरुंतुदं परुषं रूक्षवाचं वाक्कंटकैर्वितुदंतं मनुष्यान् ।
 विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निवद्धां निऋतिं वैवहंतम् ॥ ८ ॥
 परश्रेदेनमभिविद्धयेत वाणैर्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदत्तैः ।
 स विद्धयामानोऽप्यतिदह्यमानो विद्यात्कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥
 यदि संतं सेवति यद्यसंतं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
 वासो यथा रंगवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥
 अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
 हंतुं च यो नेच्छति पापकं वै तस्मै देवाः स्पृहयंत्यागताय ॥ ११ ॥
 अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्द्वितीयम् ।
 प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥
 यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
 यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

देनेवाले या निन्दा करनेवाले को भस्म कर देता है
 और सहनेवाला गाली देनेवाले के पुण्य को हर लेता
 है । न किसी को कटु वचन कहे, न किसी का
 अनादर करे, न मित्रद्रोह करे, न नीच की सेवा
 करे, न अभिमानी हो, न चरित्र से हीन हो और
 न किसी को रूखी चुभती हुई बातें कहकर कष्ट
 पहुँचावे । रूखी और चुभती हुई बातें दूसरों के
 मर्मस्थल में, हृदयों में और हृदय में खटकती हैं
 और जलन भी उत्पन्न कर देती हैं । इसलिए धर्मात्मा
 पुरुष को लगती हुई रूखी बात मुँह से न निकालनी
 चाहिए ॥१३॥

मर्मस्थल में चोट पहुँचानेवाली, कठोर, रूखी
 बातें कहनेवाले और वाक्य-वाण से मनुष्यों को व्यथित
 करनेवाले मनुष्य को महा अभाग्य समझना चाहिए ।
 उसके मुँह में दरिद्र या मृत्यु का निवास रहता है ।

जो कोई अग्नि और सूर्य के समान प्रज्वलित तीक्ष्ण
 वाक्य-वाण मारकर पीड़ा पहुँचावे तो बुद्धिमान् पुरुष
 को समझना चाहिए कि वह उसका उपकार कर
 रहा है । मनुष्य सज्जन या दुर्जन, तपस्वी या चोर,
 जिसका सङ्ग करता है वैसा ही हो जाता है; जैसे
 उजले वस्त्र को जिस रङ्ग से रंगो वही रङ्ग उस पर
 चढ़ जाता है ॥८।१०॥

जो पुरुष न बुरे वचन कहता है और न किसी
 से कहलाता है, जो न किसी को मारता है और न
 स्वयं मार खाता है, जो अपने ऊपर प्रहार करनेवाले
 पर भी प्रहार करना नहीं चाहता, उसका देवगण
 भी आदर करते हैं । बोलने से शांत रहना श्रेष्ठ है ।
 सत्य बोलना उससे श्रेष्ठ है । सत्य यदि प्रिय हो तो
 और भी अच्छा । और जो सत्य और प्रिय धर्मसङ्गत
 हो तो सबसे श्रेष्ठ है । मनुष्य जैसे लोगों के पास

प्राप्नोति वै वित्तमसद्वलेन नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।

न त्वेव सम्यग्लभते प्रसंशान वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—महाकुलेभ्यः स्पृहयंति देवा धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।

पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवंति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

विदुर उवाच—तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।

येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

येषां न वृत्तं व्यथते न योनिश्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।

ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।

कुलान्यकुलतां यांति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।

कुलान्यकुलतां यांति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।

कुलान्यकुलतां यांति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

स्वजनों से भी चौकला रहता है और जो कुतन्त्र है, वह अधम है । मनुष्य को सदा उत्तम पुरुषों से भी मिलना चाहिए अवसर पड़ने पर समय के अनुसार मध्यम पुरुषों से भी मिलना आवश्यक होता है । किन्तु जिसे अपना अभ्युदय अभीष्ट हो वह अधमों का साथ कभी न करे ॥१९॥२०॥

मनुष्य असत् लोगों के बल, बुद्धि, पौरुष और उद्योग से सम्पत्ति और राज्य पा सकता है, किन्तु कीर्ति या श्रेष्ठ कुलों के प्रशंसनीय चरित्र को नहीं पा सकता ॥२१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! धर्मार्थ के ज्ञाता शास्त्रज्ञान-संपन्न देवगण महाकुल की इच्छा किया करते हैं । इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि महाकुल कौन होते हैं ? उनके लक्षण क्या हैं ? ॥२२॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र ! तप (कृच्छ्र-

चान्द्रायण आदि), जितेन्द्रियता, वेदों का पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ, विवाह (श्रेष्ठ सम्बन्ध), सच्चरित्रता और अन्नदान की प्रवृत्ति, ये गुण महाकुल के लक्षण हैं । जिनका चरित्र नीतिश्रेष्ठ नहीं होता, जिनका जन्म व्यभिचार से नहीं हुआ, जो अपनी प्रसन्नता के लिए धर्म करते हैं, जो अपने कुल की कीर्ति को 'सदा' 'बढ़ाना' ही चाहते हैं और जो 'मिथ्या' नहीं बोलते उनके घराने महाकुल हैं ॥२३॥२४॥

हे महाराज ! यज्ञ न करने से, नीच कुल में विवाह करने से, वेद न पढ़ने से, धर्म का उल्लंघन करने से, देवता का द्रव्य ले लेने से, ब्राह्मण का धन हर लेने से, ब्राह्मणों का अनादर और निन्दा करने से, और दूरे की धरोहर मार लेने से कुलों की श्रेष्ठता जाती रहती है । जो कुल विद्या, धन और परिवार से पूर्ण होने पर भी चरित्र से श्रेष्ठ हैं

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यंदनो वै शक्तो बोद्धु न तथाऽन्ये महीजा ।

एवं युक्ता भारसहा भवंति महाकुलीना न तथाऽन्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्धिभेति यद्वाऽमित्र शकितेनोपचर्यम् ।

यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्रसीत तद्वै मित्रं सगतानीतराणि ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसंबद्धो मित्रभावेन वर्तते ।

स एव बहुस्तन्मित्रं सागतिस्तत्परायणम् ॥ ३८ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।

पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।

अर्थाः समाभिवर्तते हंसाः शुष्क सरो यथा ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदंत्यनिमित्ततः ।

शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लव यथा ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवंति ये ।

तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसतिवा धने ।

नानथेयन्प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

वे वृक्ष छोटे होने पर भी बाझ सह सकते हैं, और पेड़ बड़े होने पर भी बाँझ को नहीं सह सकते। इसी प्रकार कुलीन पुरुष जैसे बाँझ उठा सकते हैं—सहनशील हो सकते हैं—वैसे और लोग नहीं हो सकते। जिसके क्रोध से भय हो और शक्ति रहकर जिस मित्र के पास रहना हो वह मित्र नहीं है। जिस पर माता पिता का सा भरोसा किया जा सके वही सच्चा मित्र है, और सब कहने भर के मित्र हैं। कोई सबष न रहने पर भी जो मित्रता का व्यवहार करता है वही सम्बन्धी, मित्र, गति और आश्रय है। जिसका चित्त चञ्चल है, जो घूर्णों के पास नहीं बैठता-उठता, जो अम में पड़कर डूँवाँडोल

रहता है, उसके मित्रों का होना अनिश्चित है। जैसे इस रूखे सरोवर को छाड़ जाने हैं वैसे ही चञ्चल चित्तवाले, मूढ़ और इन्द्रियों क अनुगामी पुरुष का अर्थमिद्धि छोड़ जाती है ॥३५४०॥

दुर्जनों की बुद्धि मेघ की तरह अस्थिर होती है। वे अकस्मात् क्रोध कर बैठत है और अकारण प्रसन्नता प्रकट करते हैं। मित्रों से सत्कार और महायत्न पाकर, कृतार्थ होकर, भी जो लग मित्रों का हित नहीं करते उन कृतघ्नों को मरने पर मास-मात्री कुत्ते-सियार आदि भी नहीं खाते। मित्र चाहे धनी हो और चाहे निर्धन, उससे कुछ माँगना न चाहिए। क्योंकि माँगने से मित्रता का महत्त्व घट

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विंदते महत् ।
 गुरुशुश्रूपया ज्ञानं शांतिं योगेन विंदति ॥ ५२ ॥
 अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
 रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरंतीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥
 स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
 तपसश्च सुतप्तस्य तस्यांते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते।
 न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवंति न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥
 न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवंतीह भिन्नाः।
 न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवंति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥
 न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
 भिन्नानां वै मनुजैर्द्र परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात् ॥ ५७ ॥
 संपन्नं गोषु संभाव्यं संभाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
 संभाव्यं चापलं स्त्रीषु संभाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥ ५८ ॥

व्याकुलता मिटे और शान्ति मिले ॥४६॥५०॥

विदुर ने कहा—हे निष्पाप ! विद्या, तप,
 इन्द्रियदमन और लोभ के त्याग (अर्थात् सन्तोष)
 के सिवा आपको शान्ति मिलने का कोई उपाय
 मुझे नहीं देख पड़ता । ज्ञान से भय चला जाता है ।
 तप से ब्रह्मज्ञान मिलता है । गुरु की सेवा से ज्ञान
 बढ़ता है । चित्त की सब वृत्तियों को रोकने से
 शान्ति प्राप्त होती है । मोक्ष की इच्छा रखनेवाले
 महात्मा पुरुष न दान के पुण्य का आश्रय लेते हैं
 और न वेदोक्त यज्ञ आदि का अनुष्ठान करते हैं ।
 वे तो रागद्वेष को छोड़कर इस पृथ्वी पर विचरते
 हैं । अच्छे पढ़ने लिखने का, धर्मयुद्ध करने का, पुण्यकर्म
 करने का और श्रेष्ठ तपस्या करने का फल यह
 होता है कि अन्त में मनुष्य को सुख और समृद्धि
 प्राप्त होती है । भेदभाव से भरे हुए लोग मूल्यवान्

कोमल पलंग पर लेटकर भी सुख की नदि नहीं
 सोते; उन्हें स्त्रियां या मागध सूत बन्दीजन की
 स्तुतियां नहीं भाती ॥५१॥५५॥

जिनके मन में भेदभाव है वे धर्म का आचरण
 नहीं करते, सुख भी नहीं पाते; न उन्हें गौरव
 मिलता है और न शान्ति रुचती है । उनसे हित
 की बात कही तो वह उन्हें अच्छी नहीं लगती ।
 जो नहीं मिला उसको प्राप्त और जो मिल गया है
 उसकी रक्षा वे नहीं कर सकते । भेदभान के भक्त
 विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं । जैसे शायों
 में दूध का होना, ब्राह्मण में तप का होना, स्त्रियों
 में चञ्चलता का होना सम्भव है वैसे ही जाति-
 भाइयों से भय की आशङ्का करनी चाहिए । पाण्डव
 लोग बाल्यावस्था में आपके पास रहकर पले हैं
 और अब आपके ही अन्याय से वन में रहकर पेलश

न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्सधनतामृते ।

अनातुरस्वाद्भद्रं ते नृत्तकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि पापानुबंधं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।

सतां पेषं यन्न पिवंत्यसंतो मनुं महाराज पिव प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियंते न वै लभंते विषयेषु तत्त्वम् ।

दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव न बुध्यंते धनभोगान्न सौख्यम् ॥ ६९ ॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।

दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां कितवस्त्वं पंडिता वर्जयति ॥ ७० ॥

न तद्वलं यन्मृदुना विरुध्यते सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।

प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्भृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पांडवान्पालयंतु पांडो. सुनास्तव पुत्रांश्च पांतु ।

एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या जीवंतु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।

पार्थान्वालांनवनवासप्रतप्तान् गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

करने पर भी इनका त्याग कर देना ही सचमे बड़ा और कड़ा दण्ड है । धन और अरोग्य के बिना मनुष्य में कोई गुण नहीं रहता । रोगी को तो मुँदे के बराबर माना है । आपका भला हों । आप रोग उत्पन्न करनेवाले इस चिन्ता-जागरण को छोड़िए । बिना व्याधि के ही उपजा हुआ, कटु, भिर में पीड़ा उत्पन्न करनेवाला, पापजनक, कठोर, तीक्ष्ण, गर्भ, सज्जनों के पीने की और दुर्जनों के न पीने की वस्तु जो क्रोध है उसे भी जाइए । क्षमा धारण करने से दान्ति पाहएगा । रोग से पीड़ित मनुष्यों को पुत्र, पशु आदि जीवन के फल सुखदायक नहीं होते । वे किसी विषय के तत्त्व को भी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि उनमें इष्ट अनिष्ट का विवेक नहीं रह जाता । रोगी पुरुष सदा दुःखी रहते हैं । वे धन, भोग (स्त्रीसङ्ग) आदि के सुख का अनुभव भी नहीं कर

सकते । [इसलिए आप रोग उत्पन्न करनेवाले सन्ताप और जागरण को छोड़ दीजिए ।] पहले सभा में कपटवृत्त के समय, द्रौपदी को जीत लेने पर, मैंने आपसे कहा था कि दुर्योधन को रोकिए; लज्ज को बुग समझकर पण्डित लोग उससे बचते हैं । परन्तु आपने उस समय मेरा कहा नहीं किया ॥६६॥७०॥

वह बल ही नहीं जिसका विरोध दुर्बल पुरुष भी कर सके । धर्म की गति सूक्ष्म है, इसलिए जिसमें थोड़ा भी धर्म हो वह काम शक्ति के साथ करना चाहिए । क्रूर पुरुष को मिली हुई लक्ष्मी विनाश का कारण बन जाती है और शक्ति ही नष्ट हो जाती है । और, कोमल प्रकृति चतुर पुरुष को मिली हुई लक्ष्मी पुत्र पौत्र आदि तक स्थिर बनी रहती है । इसलिए आपके पुत्र पाण्डवों की और पाण्डव लोग आपके पुत्रों की रक्षा करें । कौरव और पाण्डव एक

यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी दत्त्वा च यः कथ्यति याच्यमानः ।

यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत एनान्नयंति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।

मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा नृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।

कामो ह्यियं वृत्तमनार्यसेवा क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।

नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

विदुर उवाच—अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।

क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥

एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।

एतानि मानवान् घ्नति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।

वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥

योग्य वस्तु को चाहता है, ॥११॥

जो पराये खेत में बीज बोता है, जो औरों के आगे स्त्री की अत्यन्त निन्दा करता है, जो पाकर भी यह कहता है कि मुझे स्मरण नहीं है, जो किसी को उसके मांगने पर कुछ देकर अपनी प्रशंसा करता है और जो दुष्ट दुर्जनों को समझाकर शांत बनाना चाहता है या असाधु को साधु प्रमाणित करता है । पाश हाथ में लिये यमराज के दूत इन सबको यमपुरी को ले जाते हैं । ये मारना आकाश में धूम मारना चाहते हैं न झुक सकनेवाले इन्द्र के धनुष को झुकाना चाहते हैं, पकड़ी न जाने योग्य सूर्य-चन्द्र आदि की किरणों को पकड़ना चाहते हैं । हे राजेन्द्र ! जिसके साथ जिसका जैसा व्यवहार हो उसके साथ उसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए । यही धर्म है । कपटी से कपटता का और भीषे से

सरलता का व्यवहार करना ही भला है । बुढ़ापा रूप को, आशा (तृष्णा) धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, ईर्ष्या धर्म-कर्म का, कामविकार लज्जा को, नीचों का सज्ज चरित्र को, क्रोध लक्ष्मी को और अभिमान सभी बातों को मिटा देता है ॥१०॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! सब वेदों में मनुष्य की आयु सी वर्ष की लिखी है । फिर किस कारण सब लोग बतने दिन तक नहीं जीने पाते ? ॥९॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र ! अभिमान, अतिवाद, मद्रापाप, क्रोध, घेट मरने की और स्त्रीभोग की ही चिन्ता में लगे रहना और मित्रद्रोह, ये छः तीक्ष्ण तरुवाँ मनुष्य की आयु को क्षीण किया करती हैं । हे महाराज ! यही छः काम मनुष्यों को मारते हैं, मृत्यु नहीं मारती । यह समझकर आप कष्टाण की भाँ पकड़िए ॥१०११॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
 तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥
 काकौरिमाश्रित्रवर्हान्मयूरान्पराजयेथाः पांडवान्धार्तराष्ट्रैः ।
 हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानाः प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥ २१ ॥
 यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
 तस्मिन्भृत्या भर्तारि विश्वसन्ति न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २२ ॥
 न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
 त्यजन्ति ह्येनं वंचिता वै विरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥
 कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वाण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
 संगृह्णीयादनुरूपांस्सहायान् सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४ ॥
 अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः सर्वाणि कार्याणि करोत्यतद्री ।
 वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकंप्यः ॥ २५ ॥

के लिए धन भी व्यय कर डालना चाहिए, किन्तु अपनी रक्षा के लिए धन और स्त्री दोनों का मोह न करना चाहिए ॥१११२८॥

पूष समय के लोगों ने अनुभव करके देखा है कि जुआ मनुष्यों में वैर-भाव उत्पन्न कर देता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष विलग्नियों के लिए भी जुआ न खेले। मैंने सभा में भी कहा था कि यह जुआ खेलना श्रेष्ठ नहीं है; परन्तु रोगी को जैसे पथ्य नहीं रुचता वैसे ही वह मेरा कहना आपको नहीं रुचा ॥११२९०॥

कौओं से विचित्र पङ्खवाले मोरों का हागना और कौरवों से पाण्डवों का परास्त होना एक ही बात है। आप सिंहों को छोड़कर सियारों को पालते हैं। इसके लिए समय पर आपको शोक करना पड़ेगा ॥११२१॥

हे राजेन्द्र ! जो पुरुष अपने भक्त, दितचिन्तक सेवकों पर कभी क्रोध नहीं करते उन पर सेवक भी विश्वास करते हैं और आपत्ति के समय उनको

नहीं छोड़ते। राजा को चाहिए कि सेवकों की वृत्ति छानकर राज्य और सम्पत्ति बढ़ाने की इच्छा न करे। यदि वह सेवकों को धोखा देता है तो वे भोगों से हीन होकर विरोधी बन जाते हैं और पहले स्नेह का व्यवहार करनेवाले से सलाहकर उसे छोड़ देते हैं। राजा को चाहिए कि पहले यह निश्चय कर ले कि मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता। फिर वह आय-व्यय के अनुसार सेवकों की वृत्ति नियत कर दे। उसके पश्चात् योग्य सहायकों का संग्रह करे; क्योंकि सब दुष्कर कार्य सहायकों के बल से ही किये जा सकते हैं ॥१२२१२४॥

जो सेवक, स्वामी के अभिप्राय को जानकर, आलस्य छोड़कर भाव से सब काम करता है, दित की बात कहने में नहीं हिचकता, अनुशासन रखनेवाला तथा सच्चरित्र है और आत्मा की तरह स्वामी की शक्ति को जानता है, उसके साथ राजा को सदा दया और स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। जो

गुणाश्च षण्मिमतभुक्तं भजंते आरोग्ययायुश्च बलं सुखं च ।
 अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यून इति क्षिपंति ॥ ३४ ॥
 अकर्मशीलं च महाशनं च लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
 अदेशकालज्ञमनिष्टवेषमेतान्गृहे न प्रतिवासयेत ॥ ३५ ॥
 कदर्यमाक्रोशंकमश्रुतं च वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
 निष्ठुरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान्भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥ ३६ ॥
 संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
 विष्टप्ररागं पटुमानिनं चाप्येतान्न सेवेत नराधमान् पद् ॥ ३७ ॥
 सहायबंधना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबंधनाः ।
 अन्योन्यबंधनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्धयतः ॥ ३८ ॥
 उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
 स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्वुभूयेत् ॥ ३९ ॥
 हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
 तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

कीर्ति बढ़ती है । हे महाराज ! ये सब गुण एक ही गुण के आश्रित रहते हैं । यदि राजा सक्का सत्कार करता है तो ये सब गुण उसमें विद्यमान होते हैं ॥३१।३२॥

स्नान करनेवाले पुरुष में बल, रूप, स्वरशुद्धि, वर्णशुद्धि, स्पर्श, गन्ध, विशुद्धता, शोभा या सम्पत्ति, सुकुमारता और श्रेष्ठ स्त्रियाँ, ये दस गुण रहते हैं । परिमित भोजन करनेवाले को आरोग्य, आयु, बल, सुख और निर्दोष-पुत्र मिलते हैं और पैदू कदकर लोग उसे ताना नहीं देते । परिमित भोजन करने में ये छः गुण हैं ॥३३।३४॥

निकम्मे, बहुत खानेवाले, सबके शत्रु, मायायी (धूर्त), क्रूर, देश-काल को न जाननेवाले और उग्र वेषवाले पुरुषों को अपने घर में न रखना चाहिए । अत्यन्त कष्ट के समय भी कृपण, कटु

वचन बोलनेवाले या परसन्तापी, शास्त्रज्ञानहीन, बनवासी, धूर्त, जो मान के योग्य नहीं है उसका मान करनेवाले, निष्ठुर, वैर करनेवाले और कृतघ्न से कुछ भी न माँगना चाहिए । आततायी, अत्यन्त असावधान, नित्य मिथ्यावादी, दृढ़ भक्ति से रहित, स्नेहशून्य और अपने को बहुत समझनेवाले की सेवा कभी न करनी चाहिए । ये छ नराधम माने गये हैं ॥३५।३७॥

धन-प्राप्ति सहायक की अपेक्षा रखती है और सहायक भी धन-प्राप्ति की अपेक्षा रखते हैं । ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं । दूसरे की सहायता के बिना एक की सिद्धि नहीं होती । गृहस्थ को चाहिए कि पुत्रों को उत्तरदायक करके, उन्हें ऋण के बोझ से बचाकर, किसी जीविका में लगा दे, और इसी तरह कन्याओं का विवाह अच्छी जगह अच्छे

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चेत्	।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवाप्तम्	॥ ४८ ॥
यस्यात्मां विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः	।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या	॥ ४९ ॥
यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते	।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विंदति	॥ ५० ॥
सन्नियच्छन्ति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः	।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापरसु न मुह्यति	॥ ५१ ॥
बलं पंचविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे	।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते	॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते	।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः	॥ ५३ ॥
यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्	।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम्	॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत	।
यद्वलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते	॥ ५५ ॥
महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः	।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्	॥ ५६ ॥

रहते हैं। जो ऐश्वर्य या धन प्राप्त करना चाहता है उसे पहले धर्म का ही आचरण करना चाहिए। जैसे स्वर्गलोक से ही अमृत मिलता है वैसे धर्म से ही अर्थ की प्राप्ति होती है ॥४७।४८॥

जिसका मन पाप से डटकर कल्याण की राह में—शुभ कार्यों में—लग गया है वह ससार की प्रकृति और विकृति को अच्छी तरह जान गया है। जो यथासमय धर्म, अर्थ और काम, तीनों का सेवन करता है वह इस लोक और परलोक में धर्म, अर्थ और काम तीनों को पाता है ॥४९।५०॥

जो मनुष्य क्रोध और हर्ष के वेग को संभाल लेता है और आपत्ति के समय मोह को नहीं प्राप्त होता, वही राजलक्ष्मी का अधिकारी होता है। मनुष्यों का बल पांच तरह का है। एक बाहुबल, दूसरा अच्छे मन्त्री का बल, तीसरा धन का बल, चौथा बाप दादे से चला आया हुआ सहज स्वाभाविक कुल का बल और पाचवा बुद्धि का बल है। ये चारों बल बुद्धि-बल से ही प्राप्त होते हैं, इसलिए बुद्धि का बल ही प्रधान बल है ॥५१।५५॥

जो मनुष्य अपना भारी अपकार कर सकता

महावृक्ष का आश्रय पाये बिना लता बढ़ नहीं सकती। | सिंह। सिंहों के बिना वन का नाश हो जाता है और
 मैं कह चुका हूँ कि आपके पुत्र वन हैं और पाण्डव | वन के बिना सिंह भी नहीं रह सकते ॥६१॥६४॥
 उद्योगपर्व का सैतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

विदुर उवाच—ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति चूनः स्थविर आयति ।
 प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
 पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
 सुखं पृष्ठा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥
 यस्योदकं मधुपर्कं च गां च न मंत्रवित्प्रतिगृह्णाति गेहे ।
 लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥
 चिकित्सकः शल्यकर्ताऽचकीर्णा स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
 सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च भृशं प्रियोऽप्यतिथिनोदकार्हाः ॥ ४ ॥
 अविक्रेयं लवणं पक्कमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
 तिला मांसं फलमूलानि शाकं रक्तं वासः सर्वगंधा गुडाश्च ॥ ५ ॥
 अरोपणो यः समलोष्टाश्मकांचनः प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः ।
 निंदाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

अष्टतीसवां अध्याय ॥ ३८ ॥

विदुरजी कहते हैं—हे महाराज ! जब कोई
 वृद्ध किसी युवा के पास जाता है तब युवा के प्राण
 ऊपर को निकल जाते हैं । वह युवा प्रत्युत्थान और
 अभिवादन करने से फिर उन प्राणों को पाता है ।
 जो अभ्यागत सज्जन आवे उसे बैठने को आसन
 दे, जल लाकर उसके पांव धोवे, फिर उससे कुशल
 के बारे में पूछकर अपना हाल कहे । इसके पश्चात्
 भोजन देकर उसका सरकार करे । वेदपाठी मन्त्रज्ञ
 ब्राह्मण अथवा अतिथि जिसके घर में लोभ, भय या
 कृपणता देखकर, जल, मिष्टान्न, गाय आदि नहीं
 ग्रहण करता, उसका जीवन आर्थपुरुषों की सम्मति
 में व्यर्थ ही है ॥१॥३॥

किन्तु वैद्य, शास्त्र बनानेवाला, जिसका ब्रह्मचर्य
 भ्रष्ट हो गया हो, चोर, क्रूर, मदिरा पीनेवाला, गर्भ-
 हत्याकारी, शस्त्रविद्या से जीविका चलानेवाला, और
 वेद विक्रय करनेवाला, इतने ब्राह्मण जल देने के
 योग्य नहीं होते । तथापि अतिथि की हालत में इनका
 भी प्रेम के साथ सरकार करना चाहिए ॥४॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मदिरा,
 तेल, घी, तिल, मांस, फल मूल, साग, लाल वस्त्र
 सब प्रकार से गन्धद्रव्य और गुड़, इतनी वस्तुएँ
 बेचना ब्राह्मण के लिए निषिद्ध है ॥५॥

जो क्रोध से हीन, मिट्टी और सुवर्ण को समान
 समझनेवाला, शोकहीन, मेल और वैर से रहित,

क्षमावंतो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।
 यस्य मंत्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
 स राजा सर्वत्रश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
 करिष्यन्न प्रभापेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
 धर्मकामार्थकार्याणि तथा मंत्रो न भिद्यते ।
 गिरिषृष्टमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
 अरण्ये निःशलाके वा तत्र मंत्रोऽभिधीयते ।
 नासुहृत्परमं मंत्रं भारताहति वेदितुम् ॥ १८ ॥
 अपण्डितो वाऽपि सुहृत् पण्डितो वाऽप्यनात्मवान् ।
 नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिच्चामात्मनः ॥ १९ ॥
 अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मंत्ररक्षणमेव च ।
 कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
 धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
 गूढमंत्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥
 अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।

सेवकों को वानिज्य-व्यापार का काम दे और ब्राह्मणों की सेवा का काम पुत्रों से करावे। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है किन्तु अपने उत्पत्तिस्थान में शान्त हो जाता है। सत्कुल में उत्पन्न अग्नि के समान तेजस्वी, क्षमाशील और आकार से कोई भाव प्रकट न करनेवाले सज्जन लकड़ी के भीतर अग्नि की तरह छिपे और शान्त रहते हैं ॥१०१४॥

जिस राजा के मन्त्र को भीतरी या बाहरी कोई मनुष्य नहीं जानता और जो जासूनों के द्वारा सब ओर की सूचना—शत्रु के मन्त्र—को देखता-सुनता रहता है वह बहुत दिन तक राज्य करता है। जो करना हो उसे पहले से न कहे, जो कर चुके उसी को प्रकट होने दे। इस प्रकार धर्म-अर्थ

के काम करने से मन्त्र नहीं फूटता। पर्वत के ऊपर जाकर, महल में या गुप्त स्थान में बैठकर, वन में अथवा एकान्त में सम्पत्ति करनी चाहिए। इ भारत-श्रेष्ठ। ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें शत्रु को किसी तरह सम्पत्ति की सूचना न हो। मूर्ख या पण्डित होने पर अपने मन की वश में न रखनेवाले मित्र से भी सम्पत्ति छिपानी चाहिए। राजा को चाहिए कि परीक्षा किये बिना किसी को अपना मन्त्री न बनावे। ऐश्वर्य की प्राप्ति और मन्त्र की रक्षा मन्त्री पर ही निर्भर है। श्रेष्ठ राजा यही है जिसके धर्मार्थ-काम सम्बन्धी कार्यों को, कर चुकने पर, समाप्त हो जान पति हैं। जो राजा मन्त्र को गुप्त रखता है उसका कार्य अवश्य सिद्ध होता है ॥१५२१॥

जो राजा मोहवश होकर निन्दित काम करना

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
 नियंतव्यः सदा क्रोधो वृद्धवालातुरेषु च ॥ ३० ॥
 निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
 कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥
 प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
 न तं भर्तारमिच्छन्ति पदं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥
 न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
 लोकपर्यायघृत्तांतं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥
 विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
 धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥
 अनार्यघृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
 अनर्थाः क्षिप्रमायांति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥
 अविसंवादं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।
 आवर्त्तयति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥
 अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
 अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

शत्रु से दबता रहे, किन्तु प्रबल होने पर उसे अवश्य
 मार डाले; क्योंकि यदि उस समय वह मारा नहीं
 गया तो उससे शीघ्र कोई महाभय उपस्थित होने
 की आशङ्का रहती है । देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध,
 बालक और रोगी पर उत्पन्न क्रोध को सदा दबा
 देना चाहिए ॥२८॥३०॥

निरर्थक कलह करना मूर्खों का काम है, इस
 लिए बुद्धिमान् मनुष्य को उससे सदा बचते रहना
 चाहिए । ऐसा करनेवाला इस लोक में कीर्ति का
 भागी होता है, उसे किसी अनर्थ का सामना भी नहीं
 करनापड़ता । जिसकी प्रसन्नता और क्रोध दोनों निष्फल
 हैं उसे प्रजा जैसे ही स्वामी नहीं बनाना चाहती,

जैसे नपुंसक पुरुष को स्त्रिया अपना पति बनाना
 नहीं पसंद करती । बुद्धिमान्नी से धनलाभ या मूर्खता
 से निर्धनी होना अनिश्चित है लोक-परम्परा के घृत्तान्त
 को मात्र पुरुष के सिवा दूसरा नहीं जानता ॥३१॥३२॥

जो मूढ़ है वह विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि
 धन और कुल में बड़े बड़े लोगों का सदा अनादर
 करता है । जो पुरुष नीच चरित्रवाला, मूर्ख, ईर्ष्या
 करनेवाला, अधर्मी, क्रोधी और दुष्ट कठोर बचन
 बोलनेवाला है उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थों की भर-
 मार होती है । कलेश न करना, दान, समय को
 न गँवाना और अच्छी मीठी बोली, ये गुण शत्रु को
 भी मित्र बना लेते हैं ॥३४॥३६॥

हित्वा तान्परमेष्वासान् पांडवानमितौजसः ।
 आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥
 तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।
 ऐश्वर्यमदसंमूढं घलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

हे राजेन्द्र ! आपने महातेजस्वी पाण्डवों को छोड़कर दुर्योधन को सब साम्राज्य दे रक्खा है । किन्तु आप शीघ्र ही ऐश्वर्य के मद में मूढ़ हो

रहे दुर्योधन को, त्रिभुवन के राज्य से राजा बालीकी तरह, राजसिंहासन से अग्र होते देखिएगा ॥४६।४७॥

—०—

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवा भवे सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।

धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं तस्माद्दद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

विदुर उवाच—अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।

लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।

मंत्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पंडितः ।

प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।

उनतालीसवां अध्याय ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! ऐश्वर्य का होना या न होना, जय और पराजय प्राप्त करना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है । विधाता ने उसे सूत में बँधी कठपुतली की तरह दैव कं वश में डाल रक्खा है । तुम फिर इस विषय की बातें कहो, मैं सावधान होकर सुनने को तैयार हूँ ॥१॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र ! असमय में कोई बात कहने से साक्षात् बृहस्पति की भी बुद्धि का अनादर और उनका अपमान होता है । कोई

सेवक दान से, कोई प्रिय वचन कहने से और कोई अच्छी सम्पत्ति देने से स्वामी को प्रिय होता है । जो अच्छी सम्पत्ति देने से प्रिय होता है वही वास्तव में प्रिय होने योग्य है । लोग जिससे द्वेष रखते हैं वह सज्जन, बुद्धिमान् या पण्डित कुछ नहीं होता । क्योंकि मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अपने प्रिय पुरुष में सब अच्छे काम और अप्रिय पुरुष में सब पापकार्य देखते हैं ॥२।४॥

दुर्योधन के जन्म के समय ही मैंने आपसे

ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥
 युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्धै नरास्तान् विवर्जयेत् ।
 निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नाचि प्रणश्यति ॥ १४ ॥
 या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत्सुखम् ।
 यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥ १५ ॥
 अल्पेऽप्यपकृते मोहाद्ग शांतिमाधिगच्छति ।
 तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
 निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान्दूराद्विवर्जयेत् ।
 यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
 स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानंत्यमश्नुते ।
 ज्ञातयो वर्द्धनीयास्तैर्य इच्छंत्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
 कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात्साधु समाचार ।
 श्रेयसा योक्षयते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९ ॥
 विगुणा ह्यपि संरक्षया ज्ञातयो भरतर्षभ ।
 किं पुनर्युणवंतस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥ २० ॥
 प्रसादं गुरु वीराणां पांडवानां विशांपते ।

है । उनके पास रहने में बड़ा खटका रहता है ।
 उन्हें धन देना महा भयङ्कर है और उनसे धन
 लेना अनर्थ की जड़ है । वे कामना-परवश, निलज्ज,
 पूर्त और भेदभाव बढ़ाने में तत्पर रहते हैं । अन्य
 महादोषों से परिपूर्ण पापियों का सङ्ग महा निन्दित
 है; इसलिए उनको साथ न रखना चाहिए । नीच
 पुरुष की प्रीति स्वार्थ-मूलक होती है । काम निकल
 जाने पर नीच पुरुष उस प्रीति को भुग्रा देता है ।
 साथ ही प्रीति का फल और सुख भी नष्ट हो जाता
 है । वह नीच फिर निन्दा और विनाश की चेष्टा
 करता है । मूल से उसका थोड़ा भी अयकार हो
 जाय तो वह शान्त नहीं होता, बल्कि मोहवश

विरोध को ही बढ़ाता है । डॉबॉडोल चित्तवाले ऐंम
 नृशंक पुरुष के सङ्ग को विचारपूर्वक दूर से ही
 बराना विद्वानों का कर्तव्य है ॥१०॥१६॥

है राजेन्द्र ! जो कोई दरिद्र, दीन, रोगपीडित
 जातिवाले को आश्रय देता है, उस पर कृपा करता
 है, उस दयालु के पुत्रों और पशुओं की वृद्धि होती
 है और उसका सदा भला होता है । जो लोग
 अपना भला चाहते हैं उन्हें अपनी जातिवालों की
 उन्नति और वृद्धि का यत्न करना चाहिए । इसलिए
 है राजेन्द्र ! आप अपने कुल की वृद्धि कोविष्ट ।
 जाति का सरकार करने से आपका कल्याण होगा ।
 गुणहीन जातिवालों पर भी दाय रखना चाहिए ।

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।	
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥	
न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।	
शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥	
दुर्योधनेन यद्येतरपापं तेषु पुरा कृतम् ।	
स्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥	
तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।	
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥	
सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिंत्य यः ।	
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥	
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।	
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥	
पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्द्धते ॥ ३५ ॥	
यस्तु पूर्वकृतं पापमाविमृश्यानुवर्तते ॥ ३६ ॥	
अगाधपंके दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।	
मंत्रभेदस्य पदं प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ॥ ३७ ॥	

सुना या अपने पुत्रों का मरना सुना, तो दोनों तरह आपको पछताना पड़ेगा । यह जीवन क्षणभंगुर है, इसलिए मनुष्य को पहले वह काम न करना चाहिए जिससे मृत्यु की सज़ में पड़े-पड़े पछताना पड़े । नीति-शास्त्र के प्रणेता भृगु के सिवा और कोई ऐसा नहीं जिसका पाँव नीति की राह से कभी हटा न हो । जो हो गया सो हो गया, अब आगे जिसमें कल्याण हो वही विचारकर लीजिए ॥२६।३०॥

दुर्योधन पाण्डवों के साथ पहले जो अन्याय कर चुका है उसे इस समय आप अपने व्यवहार से मिटा दीजिए; क्योंकि आप इस कुल के मुखिया और वृद्ध हैं । संसार में आपकी वह निन्दा पाण्डवों

को राज्य देने से मिट जायगी । हे नरश्रेष्ठ ! तब बुद्धिमान् लोग आपकी प्रशंसा करेंगे ॥३१।३२॥

जो पुरुष लोगों के हितोपदेश को सुनकर और उसके फल पर विचारकर कर्तव्य का निश्चय करता है वह सदा यश का भागी होता है । जिसे उपदेश किया जाता है वह यदि उसे अच्छी तरह नहीं समझता या उसके अनुसार कार्य नहीं करता तो चतुर पुरुषों का उपदेश भी बृथा ही जाता है । जो पुरुष चुरे फलवाले पापकर्म का आरम्भ नहीं करता, उसकी बढ़ती होती है ॥३३।३५॥

जो मनुष्य पहले किये गये पाप पर विचार न करके फिर भी पाप में ही प्रवृत्त होता है वह धीर

मित्रवंतं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ।
 दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत् ॥ ४७ ॥
 धर्मापेक्षी मृदुर्हीमान् स कुलीनशताद्वरः ।
 ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ॥ ४८ ॥
 समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ।
 दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छत्रं कूपं तृणैरिव ॥ ४९ ॥
 विवर्जयेत् मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ।
 अवलितेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ॥ ५० ॥
 तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ।
 कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमधुद्रं दृढभक्तिकम् ॥ ५१ ॥
 जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ।
 इंद्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनाऽपि विशिष्यते ॥ ५२ ॥
 अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्देवतानपि ।
 मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ॥ ५३ ॥
 आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ।
 अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीपते ॥ ५४ ॥

में असमर्थ होते हैं ॥४१॥४५॥

प्राज्ञ पुरुष की सेवा करनेवाले, विद्वान्, धर्मात्मा, दर्शनीय, मित्रसम्पन्न, अच्छे हित के वचन कहनेवाले सुहृद का प्रतिपाल करना चाहिए। जो शास्त्र और लोक की मर्यादा को नहीं तोड़ता, धर्म का खयाल रखता है, कोमलपकृति और लोकलज्जा से युक्त है वह, चाहे अच्छे कुल में उत्पन्न हो और चाहे नीच कुल में, संकड़ों कुलीनों से श्रेष्ठ है। जिनका चित्त मिला हुआ है, जिनकी बुद्धि भी मेल खाती है, और गूढ़ बातें भी एक सी हैं, उनकी मित्रता सदा बनी रहती है। बुद्धिमान् पुरुष को दुर्मति, अक्रान्त, कच्ची समझवाले या नासमझ के साथ मित्रता न करनी चाहिए। ऐसा

पुरुष पास से टके हुए कुर्छे के समान है। उससे की गई मित्रता बहुत शीघ्र मिट जाती है। घमण्डी, मूर्ख, क्रोधी, साहसी और धर्महीन पुरुष से कभी मित्रता न करनी चाहिए ॥४६॥५०॥

कृतज्ञ, धर्मात्मा, सत्यपरायण, जितेन्द्रिय, दृढ़ भक्तिवाले, उदार और मर्यादापालक पुरुष से ही मित्रता करनी चाहिए। इन्द्रियों को बश में करना अर्थात् विषयों से रोकना मृत्यु से बढ़कर कष्ट सहने के बराबर है। किन्तु इन्द्रियों का विषयों में अत्यन्त प्रवृत्त होना देवताओं के भी विनाश का कारण होता है। सब प्राणियों से कोमलता का व्यवहार करना, किसी से डाढ़ न करना, क्षमा,

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
 न श्रीर्वसत्यदांतेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६२ ॥
 आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात्सव्यपत्रपम् ।
 अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६३ ॥
 अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
 प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६४ ॥
 न चातिगुणवत्स्वेया नात्यंतं निर्गुणेषु च ।
 नैषा गुणान्कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ॥ ६५ ॥
 उन्मत्ता गौरिवांधा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ।
 अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥ ६६ ॥
 रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ।
 अधर्मापार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ॥ ६७ ॥
 न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ।
 कांतारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु संभ्रमे ॥ ६८ ॥
 उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्ववतां भयम् ।
 उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ॥ ६९ ॥
 समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ।

दानि न पहुँचती हो उसे ही यद्येष्ट रूप से भोगना चाहिए । मूढ़ों की तरह भोजनादि के सुख में अत्यन्त आसक्त होकर धर्म और अर्थ को दानि न पहुँचानी चाहिए । दुःखित, मतवाले, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उरसाहर्षान पुरुषों को जो ऐश्वर्य मिल भी जाता है तो ठहरता नहीं है । दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलहृदय और लोकलज्जायुक्त नम्र पुरुष को, अशक्त समझकर, दबाते हैं । अत्यन्त सरल, अत्यन्त दाता, अत्यन्त शूर, अत्यन्त व्रतधारी और अपनी बुद्धिमानी का अभिमान रखनेवाले पुरुषों को लक्ष्मी ढरती है और उनके पास नहीं

फटकती । अत्यन्त गुणी या अत्यन्त निर्गुण के पास लक्ष्मी नहीं ठहरती । लक्ष्मी न तो गुणों को चाहती है और न निर्गुण पर अनुराग रखती है । ६१।६५।

उन्मत्त गाय की तरह अन्धी लक्ष्मी एक जगह देर तक नहीं ठहरती । हे महाराज ! वेदपाठ का फल अग्निहोत्र है, शास्त्रज्ञान का फल अच्छा स्वभाव और अच्छा चरित्र है, स्त्री का फल रति और बालबच्चे उत्पन्न करना है, धन का फल देना और भोग करना है । हे राजेन्द्र ! अधर्म से सञ्चित किये गये धन के द्वारा जो कोई यज्ञ-दान आदि परलोक बनानेवाले कर्म करता है उसे परलोक में

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
 असंभोगो जरा स्त्रीणां वाकृशल्यं मनसो जरा ॥ ७८ ॥
 अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्यान्नतं मलम् ॥ ७९ ॥
 मलं पृथिव्या वाह्नीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
 कौतूहलमला साध्वीविप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ८० ॥
 सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
 ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८१ ॥
 न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
 नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८२ ॥
 यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
 अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८३ ॥
 सहस्रिणोऽपि जीवंति जीवंति शतितनस्तथा ।
 धृतराष्ट्रं विमुंचेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८४ ॥
 यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
 नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्नमुह्यति ॥ ८५ ॥
 राजन्भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।
 समता यदि ते राजन् स्वेषु पांडुसुतेषु वा ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्यं एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

आयु, यश और बल बढ़ता है । हे महाराज ! बड़े कष्ट से, धर्म का उल्लंघन करने से या शत्रु के आगे झुकने से जो सम्पत्ति प्राप्त हो उसके लिए कभी मन न चलाइगा । विद्याहीन पुरुष, पुत्रोत्पत्तिहीन मैथुन, आहारहीन प्रजा और राजा से हीन राज्य शोचनीय है । प्राणियों का बुढ़ापा राइ चलना है, पर्वतों का बुढ़ापा जल है, स्त्रियों का बुढ़ापा भोग न करना है और मन का बुढ़ापा वचन-वाण है ॥७६।७९॥

वेदों का मेल अभ्यास न करना है, ब्राह्मण का मेल ब्रह्मचर्य आदि व्रत न रखना है, पृथ्वी का

मेल वाह्नीक देश है, पुरुष का मेल अमत्य बोलना है, पतिव्रता का मेल कौतूहल है, स्त्रियों का मेल पति का परदेश जाना है, सुवर्ण का मेल चांदी है, चांदी का मेल रांगा है, रांगे का मेल सीसा है और शशे का मेल मेल ही है । सोने से नींद नहीं कम होती । लकड़ियों से अग्नि नहीं बुझती । पीने से मदिरा की प्यास नहीं बुझती । भोग से स्त्रियों का जी नहीं भरता । जो पुरुष दान से मित्र को, युद्ध से शत्रु को, और खाने-पीने-पहनने की वस्तुओं से स्त्री को छत्र देता है उसी का जन्म सफल है । हजारपती

सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।
 नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
 नांतकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥
 आशा धृतिं हंति समृद्धिमंतकः क्रोधः श्रियं हंति यशः कदर्यताम् ।
 अपालनं हंति पशूंश्च राजन्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हंति राग्रम् ॥ ८ ॥
 अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च ।
 वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन एतानि ते संतु गृहे सदैव ॥ ९ ॥
 अजोक्षा चंदनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिणी ।
 विषमौदुंवरं शंखः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
 गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
 देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥
 इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
 न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
 नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
 त्यक्त्वा नित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

अभिमान और लोभ से बचना चाहिए। उनके लिए ये दोष बड़े अनिष्टकारक हैं। जो सुख चाहता है, उसे विद्या कहाँ आ सकती है? विद्यार्थी को सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है? जो सुख चाहता है वह विद्या का पढ़ना छोड़ दे या जो विद्या चाहता है वह आरामतलबी छोड़ दे। हे महाराज। ईधन से अभि, जल से समुद्र, सब प्राणियों से मृत्यु और पुरुषों से स्त्री टूट नहीं होती। आशा से धैर्य, मृत्यु से ऐश्वर्य, क्रोध से लक्ष्मी, कञ्जूबी से यश और पालन न करने से पशु नष्ट होते हैं। किन्तु एक भी ब्राह्मण यदि क्रोध करे तो वह सम्पूर्ण राज्य का नाश कर सकता है ॥५८॥

हे महाराज। बकरी, कासे का बर्तन, चाँदी, मधु, सज्जन, वेदपाठी ब्राह्मण, पक्षी, वृद्ध जातिवाले और मङ्कटग्रस्त कुलीन, ये सदा आपके घर में रहें। हे महाराज। मनुजी की आज्ञा है कि देवता, ब्राह्मण और अतिथि की पूजा और सत्कार के लिए बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मिठाई, घी, लोहा, ताबे के बर्तन, शालग्राम की शिला, दक्षिणावर्त शङ्ख और गोरुचन आदि मङ्गल-पदार्थों को गृहस्थ अपने घर में अवश्य रखे ॥९११॥

हे राजेन्द्र। मैं आपको यह सर्वोत्तम मङ्गलप्रद पवित्र धर्म बताता हूँ कि काम, भय, लोभ आदि के बश होकर धर्म का त्याग न करना चाहिए;

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदया धृतिकूला दयोर्मिः।
 तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥
 कामक्रोधग्राहवर्ती पंचेन्द्रियजलां नदीम् ।
 नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥
 प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्ववंधुं विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
 कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य यः संपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित् ॥ २३ ॥
 धृत्या शिश्रोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
 चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥
 नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
 सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥
 अधीत्य वेदान्परिसंस्तीर्य चाग्नीनिष्ठा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
 गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतांतरात्मा हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥
 वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
 त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुंक्ते ॥ २७ ॥

काम कर्मो तो ससार में श्रेष्ठ यश आपको प्राप्त
 होगा और परलोक में निर्भय भाव से स्वर्गभोग
 कीजिएगा ॥१४२०॥

हे महाराज ! यह आत्मा नदी है । इसमें
 पुण्य ही तीर्थ है । सत्य ही जल है । सन्तोष इसके
 तट हैं । दया को तत्र कह सकते हैं । लोभशून्य
 पुण्यात्मा पुरुष इस नदी में स्नान करके परम पवित्र
 होते हैं । पाँच इन्द्रियों के जल से भरी, काम-क्रोध
 आदि माहों से परिपूर्ण इस नदी की धैर्य की नाव
 पर बैठकर तर जाइए ॥२१॥२२॥

जो मनुष्य बुद्धि, धर्म, विद्या या अवस्था में
 बढ़े अपने हितचिन्तक मित्रों को प्रसन्न करके
 आदरसहित कर्तव्य-अकर्तव्य के बारे में उनसे पूछता
 है वह कभी मोह में नहीं फँसता । धैर्य से भोजन
 और इन्द्रियसुख को वासना को रोके, आँखों से

हाथ-पाँव बचावे, मन से आँख कान की रक्षा करे
 और मन तथा वाणी को कर्म से पवित्र रखे ।
 जो ब्राह्मण नित्य स्नान-सन्ध्या-तर्पण करता है, नित्य
 यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय
 करता है, पतित का भन्न नहीं खाता, सत्य बोलता
 है, गुरु की सेवा करता है वह ब्रह्मतेज और ब्रह्म-
 लोक से कभी नहीं अष्ट होता ॥२३॥२५॥

जो क्षत्रिय वेद पढ़ता है, यज्ञ अभिदोज करता
 है, प्रजा-पालन करता है, गाय और ब्राह्मण के
 लिए प्राण तक दे देता है और युद्ध में मारा जाता
 है वह स्वर्गलोक को जाता है । जो वैश्य वेद-शास्त्र
 पढ़ता है, समय पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और आश्रित
 लोगों की घन से सहायता करता है और यज्ञ करता
 है वह मरने पर स्वर्ग में जाकर सुख भोगता है ।
 जो शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों को सेवा

सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥

स ते गुह्यान्प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।

प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—किं त्वं न वेद तद्भूयो यन्मे ब्रूयात्सनातनः ।

त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत्तव ॥ ४ ॥

विदुर उवाच—शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ।

कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।

न तेन गह्वीं देवानां तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।

कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—चित्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।

स च तच्चितितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥

स चैनं प्रतिजघाह विधिदृष्टेन कर्मणा ।

सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

भगवन् संशयः कश्चिद्धृतराष्ट्रस्य मानसः ।

यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥ १० ॥

पुराण कुमार सनत्सुजात ऋषि का कहना है कि मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। अब वही बुद्धिमानों में श्रेष्ठ महात्मा आपके हृदय के गुप्त और प्रकट सब सन्देशों को दूर करेगा ॥२।३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! क्या तुम वह नहीं जानते जो सनत्सुजात ऋषि कहेंगे ? यदि जानते हो तो तुम्हीं कहो ॥४॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! मेरा जन्म शूद्र जाति की माता से हुआ है, इसलिए मैं उस विषय को नहीं कह सकता। मर्दापि सनत्सुजात के अनादि सिद्धान्त को मैं जानता तो हूँ, पर मुझे उसके कहने का अधिकार नहीं। ब्राह्मणयोनि में उत्पन्न

पुरुष यदि उस गुह्य ज्ञान का वर्णन करता है तो देवगण उसकी निन्दा नहीं करते। इसी से मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि इस विषय को सनत्सुजात ऋषि के मुँह से ही सुनिए ॥५।६॥

धृतराष्ट्र ने कहा—तो फिर विदुर ! तुम्हीं वह उपाय बताओ जिससे इसी शरीर से, यहीं पर मैं सनत्सुजात ऋषि से मिल सकूँ ॥७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब विदुर ने महात्मा सनत्सुजात का ध्यान किया। उसी समय वे महात्मा वहाँ आ गये। विदुर ने विधिपूर्वक मधुपर्क-आसन आदि देकर उनकी पूजा की। जब वे थकन दूर करके सुख-पूर्वक बैठे तब विदुर ने कहा—हे भगवन् !

प्रमादाद्दे असुराः पराभवन्नप्रमादाद्ब्रह्मभूता भवन्ति ।
 नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जंतून् ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥
 यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मा वसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
 पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥ ६ ॥
 अस्यदेशान्निः सरते नराणां क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
 अहं गतेनैव चरन्विमार्गान्न चात्मनो यांगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥
 ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
 ततस्तान्देवा अनुविप्लवन्ते अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥
 कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानु ते यांति न तरन्ति मृत्युम् ।
 सदर्थयोगानवगमार्त्समन्तारप्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥
 तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
 मिथ्यार्थयोगाभिहृतांतरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान्समन्तात् ॥ १० ॥
 अभिध्यावै प्रथमं हन्ति लोकान् कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
 एते वालान्मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्तिमृत्युम् ॥ ११ ॥

और सावधानी को अ-मृत्यु मानता हूँ । प्रमाद से असुर पराभूत और मृत्यु के वश हुए, और अप्रमाद से देवता अमर हैं । मृत्यु बाध की तरह आकर मनुष्यों को नहीं खा जाती । मृत्यु का रूप आज तक किसी ने नहीं जाना । कुछ लोगों की सम्पत्ति में यमराज मृत्यु हैं और आत्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मचर्य ही अ-मृत्यु है । यम देव पितृलोक में रहकर सबका शासन करते हैं । वे पुण्यात्माओं के लिए मङ्गलरूप और पापियों के लिए अमङ्गलरूप हैं । उन्हीं की आज्ञा से, मनुष्य क्रोध, प्रमाद (मोह) और लोभ नाम से प्रभिन्न मृत्यु के वशीभूत होते हैं । अहङ्कार के वश होकर, कुमार्ग पर चलकर, मनुष्य आत्मरूप प्राप्त करने में असमर्थ होता है । इस प्रकार सब लोग मोहित, ज्ञान से अग्र, लोभ आदि मृत्यु के वशवर्ती होकर चारम्भार

नरकयन्त्रणा में पीड़ित और इन्द्रियों के सम्पर्क से रूढ़ित होते हैं । हमी से मृत्यु का नाम मरण है । भोग के साधनरूप कर्म के परिणाम से कर्म में अनुरक्त जीव स्वर्ग को प्राप्त होते हैं । इस शरीर के छूटने पर भी मृत्यु उनका पीछा नहीं छोड़ती । जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है उस योगमार्ग की अभिज्ञता न होने के कारण देहधारी की विषय-वासना प्रकट होती है, और स्वभाव से ही अनित्य विषयों के प्रति अनुगम का सञ्चार होता है । तब उसकी मृत्ति इन्द्रियों को मोहजाल में जकड़कर जड़ सा बना देती है और असार विषयों की खोज में आन्तिवश उसे विषयों का चिन्तन ही विषयसेवा प्रतीत होती है ॥३११०॥

जो चित्त को वश में नहीं कर सका, अर्थात् अजितेन्द्रिय है, उसके लिए विषय-चिन्तन विषय-

सनत्सुजात उवाच—एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तत्रार्थजातं च वदंति वेदाः ।

अनीह आयाति परं परात्मा प्रयाति मार्गेण निहृत्य मार्गान् ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—को सौ नियुक्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।

किंवाऽस्य कार्यमथवा सुखं च तन्मे विद्वन्ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९ ॥

सनत्सुजात उवाच—दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवंति नित्याः ।

तथाऽस्य नाधिक्यमपैति किंचिदनादियोगेन भवंति पुंसः ॥ २० ॥

य एतद्वा भगवान्स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम् ।

तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते तथार्थयोगे च भवंति वेदाः ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—येऽस्मिन्धर्मान्नाचरंतीह केचित्तथा धर्मान्केचिदिहाचरंति ।

धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्विदुताहो धर्मः प्रतिहंति पापम् ॥ २२ ॥

सनत्सुजात उवाच—उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥ २३ ॥

तस्मिन्स्थितौ वाऽप्युभयं हि नित्यज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।

तथाऽन्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

और पवित्र लोक मिलते हैं । बड़ी मोक्ष का कारण है ।
फिर लोग कर्मों का अनुष्ठान क्यों न करें ॥१७॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! कामासक्त
मूढ़ पुरुष ही इस प्रकार मोक्ष पाने की इच्छा
रखते हैं । वेद में तो बहुत से फलों का वर्णन
पाया जाता है । किन्तु निष्काम जीवात्मा को ही
परमात्मा का साक्षात्कार होता है । बड़ी यथार्थ
निवृत्ति मार्ग पर चलकर मोक्ष पाता है ॥१८॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! जिसके प्रभाव
में यह विश्व क्रमशः उत्पन्न होता है, जो जन्म
और मृत्यु से रहित है, उस सनातन जीवात्मा को
नियुक्त कौन करता है ? अर्थात् उसका प्रेरक कौन
है ? उसके कर्मों का अनुष्ठान और सुखमोग का
दङ्ग क्या है ? ॥१९॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! जीवात्मा
और परमात्मा परस्पर अनादि योग से अभिन्न है ।

किन्तु भेद उपस्थित होने पर एकता का सम्पादन
अत्यन्त दुर्घट हो जाता है । परमात्मा ही मायामय
अज्ञान के संयोग से सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण
करके जीवात्मा कहलाता है । किन्तु इस प्रकार
उपाधि के भेद से उसके महत्त्व में कुछ भी अन्तर
नहीं पड़ता वेद में यह निर्णय हो चुका है कि उस
विकार-रहित परमात्मा की भाया से ही यह विश्व
प्रकट हुआ है और उसी की शक्ति इस स्वप्नतुल्य
मिथ्या जगत् को यथार्थ सा दिखा रही है ॥२०॥२१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महर्षिश्रेष्ठ ! इस संसार
में धर्मात्मा और अधर्मी, दोनों प्रकार के मनुष्य हैं ।
मैं आप से पूछता हूँ कि धर्म को पाप नष्ट कर देता
है या पाप को धर्म नष्ट कर देता है ? ॥२२॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! पुण्य और
पाप दोनों के जुड़े-जुड़े फल हैं । संन्यास (विषय-
त्याग) और उपासना के साथ किये गये कर्मों द्वारा

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।
 ब्रह्मस्वं नोपभुंजीत तदन्नं संमतं सताम् ॥ ३२ ॥
 यथा स्वं वांतमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये ।
 एवं ते वांतमश्नंति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥
 नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
 ज्ञातीनां तु वसन्मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥
 को ह्यनंतरमात्मानं ब्राह्मणो हंतुमर्हति ।
 निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥
 तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मा वसति पश्यति ॥ ३६ ॥
 योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
 किं तेन न कृतं पापं चौरैणाऽऽरमापहारिणा ॥ ३७ ॥
 अश्नांतः स्यादनादाता संमतो निरुपदेवः ।
 शिष्टो न शिष्टवत्स स्याद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः ॥ ३८ ॥
 अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ ।
 ते दुर्धर्पा दुष्प्रकंप्यास्तान्विद्याद्ब्रह्मणस्तनुम् ॥ ३९ ॥

की आशङ्का हो उस भयानक स्थान में रहकर भी जो महात्मा अपनी महिमा और गौरव प्रकट नहीं करता है वही सबमें श्रेष्ठ है। और के गौरव या उन्नति को देखकर जिसके मन में डाह नहीं उत्पन्न होती और जो संन्यासी या ब्रह्मचारी को खिलाये बिना आप भोजन नहीं करता, उसका अन्न ही स्वाने लाभक है। कुत्ता जैसे अपने मुँह से उगले पदार्थ को खाकर अमङ्गल का भागी होता है वैसी ही अवस्था उन संन्यासियों की है जो पाण्डित्य या महिमा दिखाकर अपनी जीविका चलाते हैं ॥३१।३२॥

जाति-भाइयों के बीच में रहकर भी जो ब्रह्म-ज्ञानी यद चेष्टा किया करता है कि किसी को मेरे धर्मानुष्ठान की सूचना न हो, उसी को पाण्डितों ने यथार्थ ब्रह्मज्ञानी कहा है। तात्पर्य यह है कि ऐसी

अज्ञातचर्या से बिना वह उपाधिरहित, अद्वैत, अनुभव से परे, असङ्ग और सर्वव्यापक परमात्मा नहीं मिल सकता। इस प्रकार की अज्ञातचर्या के प्रभाव से क्षत्रिय भी ब्रह्मज्ञानी हो सकता है ॥३४।३५॥

जो पुरुष अपने को और का और दिखाता है, वह आत्मापटारी कहलाता है। वह चोर के तुल्य पुरुष सभ पाप कर सकता है। ब्राह्मण को चाहिए कि कर्त्तव्यपालन में थके नहीं, किसी से कुछ दान न ले, सबके अनुकूल रहकर उपद्रवशून्य रहे, शिष्ट होकर भी उसके लिए घमण्ड न करे। वही ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण आत्मज्ञान पाकर कवि कहलाता है। ब्राह्मण वही है जो लौकिक धन से हीन (सर्वसङ्गत्यागी) होकर भी पारलौकिक सम्पत्ति (धर्म आदि) से युक्त है और ईश्वर की

साधन अनेक प्रकार के हैं । उन सबकी रक्षा करना लज्जा, इन्द्रियदमन, पावित्रता और शास्त्र का ज्ञान, ये सहज नहीं है । उन में से सत्य, सरलता, लोक-छः साधन अभिमान और मोह के शत्रु हैं ॥४१॥४६॥
उद्योगपर्व का ध्यालीसर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—कस्यैप मौनः कतरन्नु मौनं प्रवृहति विद्वन्निह मौनभावम् ।

मौनेन विद्वानुत याति मौनं कथं मुने मौनसिहाऽऽचरन्ति ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच—यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततोऽथ मौनम् ।

यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथाऽयं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः ।

पापानि कुर्वन्पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच—नैनं सामान्यृचो वाऽपि न यजूंष्यविचक्षणम् ।

त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।

नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

तेतालीसवा अध्याय ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे पण्डितप्रवर ! मौनः का प्रयोजन और लक्षण क्या है ? लौकिक व्यवहार-सिद्ध मौन और इस वेदोक्त मौन में कौन प्रधान है ? मौनव्रत को प्राप्त पुरुष किस प्रकार करते हैं ? और वे मौनव्रत के द्वारा निर्विकल्प पद पा सकते हैं या नहीं ? ॥१॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! परमात्मा मन और वेद दोनों से परे है । इसी से उसका नाम मौन है । जो वाणी और मन की गति से बाहर है उसकी प्राप्ति ही मौन का प्रयोजन है । बाहरी और भीतरी इन्द्रियों का दमन ही मौन है । बाहरी और भीतरी विषयों का त्याग ही मौन का लक्षण है । इस प्रकार विषयों से बचे रहना ही वाणी और मन से परे उस परम पद के पाने का

*मौन=ब्रह्म, मौन रहना, इत्यादि ।

प्रधान साधन है । गुरु की बताई युक्ति के अनुसार ॐकार के रूप से परब्रह्म का चिन्तन करने से मौनव्रत का अनुष्ठान होता है ॥२॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! ऋक्, यजु और साम नाम के वेदों को जाननेवाले लोग पाप करने पर उसमें लिप्त होते हैं या नहीं ॥३॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! साम, यजु या ऋक्, कोई भी पापकर्म से आविषेकी पुरुष की रक्षा नहीं कर सकते । मेरा यह कहना असत्य नहीं है । जो कपटव्यवहार करता है उस मायावी पुरुष के पाप को वेद किसी तरह नहीं मिटा सकते । पक्षी जैसे पक्ष निकलने पर अपने घोंसले को छोड़कर उड़ जाते हैं वैसे ही वेद भी अन्त समय कपटी पुरुष का साथ छोड़ देते हैं ॥४॥५॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।

तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।

सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच—क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषास्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन् ।

धर्मादयो द्वादशैते पितृणां शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्साऽऽकृपाऽसूये मानशोकौ स्पृहा च ।

ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्तेह मनुष्यान्मनुजर्षभ ।

लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहया लुर्मनस्वी विभ्रत्कोपं च पलोऽरक्षणश्च ।

एतान्पापाः पणराः पापधर्मान्प्रकुर्वते नो त्रसंतः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

कैवल्यसाधन होने से 'केवल' भी कहा जा सकता है । यदि वह श्रद्धादि से युक्त होकर सकाम हो तो 'समृद्ध' कहा जाता है और जो निरे दम्भ के लिए किया जाता है वह 'असमृद्ध' है । तुम्हारा यह मन्त्र तप से सम्बन्ध रखता है । वेद के ज्ञाता लोग तप के प्रभाव से ही अमृत नाम से प्रसिद्ध मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥१२॥१३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन् ! आपसे निर्दोष तपस्या का उपदेश मैं सुन चुका । अब आप मुझसे तपस्या के दोषों का वर्णन कीजिए, जिसमें यह सनातन गुह्य विषय मैं जान लूँ ॥१४॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! क्रोध आदि

वारह, और आत्मइलाषा मिलाकर तेरह, तपस्या के दोष कहे गये हैं । ब्राह्मणों के धर्म आदि वारह गुण प्रसिद्ध हैं । मन्वादि शास्त्रों में भी उनका वर्णन पाया जाता है ॥१५॥

क्रोध, काम, लोभ, मोह, विधित्वा, अकृपा, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा, इन बारह दोषों से सर्वथा बचना चाहिए । बहलिया जैसे मृगों का शिकार करने के लिए अवसर देना करता है वैसे ही इन दोषों में से हर एक दोष मनुष्य पर आक्रमण करने के लिए घात में रहता है ॥१६॥१७॥

अहङ्कारी, स्पृहा-परवश (हजारों यत्न करके पर-स्त्री-भोग आदि की इच्छा), पण्डितमानी, क्रोधी,

*नोष=इच्छा के रुकने से उत्पन्न गाली गलौज और मार पीट का कारण मनस्ताप, काम=स्त्री की अभिलाषा, लोभ=व्यय करने से भयभीत होना, मोह=क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका विवेक न होना, विधित्सा= उत्तरोत्तर एगम होने पर भी सन्तुष्ट न रहना, अकृपा=निर्दयता, असूया=दूषेरे के गुण में दोष देखना, मान= अपने की बड़ा समझना, शोक=प्रिय वस्तु के नाश से मन की विकलता, स्पृहा=भोग्य वस्तुओं में आदर, ईर्ष्या=दूषेरे का उत्पन्न देखकर घुटना ।

विपर्ययाः स्मृता ये ते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
 श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत् ।
 तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥
 श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति ।
 इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
 कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः ।
 अप्यवाच्यं वदंत्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः ॥ २९ ॥
 त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद्भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ।
 न च द्रव्यैस्तद्भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥
 न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च नग्लपेत् ।
 सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥
 अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति ।
 इष्टान्पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥
 अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत् ।
 अप्रमादी भवेदेतैः स चाऽप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
 सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च ।
 अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथाऽसंग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

अठारह दोष रहते हैं। त्याग छ प्रकार का है। पहला, सम्पत्ति मिलने पर हर्ष का त्याग। दूसरा, यज्ञ आदि करना और तालाब खुदवाना आदि। तीसरा, कामना (फल-प्राप्ति की इच्छा) का त्याग। इसका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है, किन्तु केवल इस इच्छा के त्याग से ही सब दुःख दूर हो सकते हैं। वैराग्यवश स्त्री आदि भोग की सब वस्तुओं का त्याग यथार्थ कामत्याग है। नहीं तो कामवश होकर इच्छानुसार उपभोग करने के पश्चात् उनका त्याग करने से अथवा बहुत सा धन प्राप्त कर काम्यवस्तु के लिए वह सब व्यय करने से पश्चात् निर्धन होने पर भोग का त्याग यथार्थ

कामत्याग नहीं सहा जा सकता ॥२६।३०॥

जिस सब गुणों से सम्पन्न और समृद्धिशाली मनुष्य से मन में कार्य यदि सिद्ध न हो तो उसके लिए दुःख और ग्लानि नहीं होती वही वास्तव में कामत्यागी है। चौथा, अप्रिय घटना होने पर भी व्यथा का त्याग। पाँचवाँ भाई-बन्धु या पुत्र-स्त्री आदि में भी याचना का त्याग। छठा, योग्य पात्र को धन देकर शुभलाभ करना। इस प्रकार त्यागचर्या में लगे रहकर प्रमाद में बचना चाहिए। अप्रमाद के भी आठ गुण हैं। सत्य, ध्यान, समाधान, तर्क, वैराग्य, किसी तरह की चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और

सनत्सुजात उवाच—एकस्य वेदस्याऽज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
 सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥
 एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते ।
 दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते ॥ ४४ ॥
 सत्यात्प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत् ।
 ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवाऽवधारणात् ॥ ४५ ॥
 मनसाऽन्यस्य भवति वाचाऽन्यस्याऽथ कर्मणा ।
 संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥
 अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत् ।
 नामैतद्भ्रातुनिवृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥
 ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः ।
 विद्याद्बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥
 तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम् ।
 य एव सत्यान्नाऽपैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥
 छंदांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा पुरा जगौ महर्षिसद्य एवः ।

मत के अनुयायी हैं । इनमें से किसको ब्रह्मज्ञानी माना जाय ? ॥४१।४२॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महागज ! एकमात्र ब्रह्म ही जानने योग्य और सत्यस्वरूप है । उस सत्य का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही लोगों ने उपासना के अनेक मार्गों की कल्पना की है । ब्रह्म की प्राप्ति गृह में नहीं होती । सत्यस्वरूप परब्रह्म का उपासक पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है । लोग उस नित्यानन्दरूप परमपुरुष का ज्ञान न होने के कारण ही अपने को ज्ञाता समझते हैं और बाहरी सुम की इच्छा से दान, अध्ययन, यज्ञ आदि करने में लग जाते हैं । सत्य में अष्ट लोगों का महत्त्व भी ऐसा ही होता है ॥२३।४५॥

कोई मानस यज्ञ, कोई वाक्ययज्ञ और कोई कर्मयज्ञ करता है । सत्यसङ्कल्प ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक आदि श्रेष्ठ लोकों में जाता है । आत्मज्ञान न होने के कारण सङ्कल्प सिद्धि न होने से लोग मस्तकमुण्डन, वाक्यसयग आदि दीक्षाओं के नियम लेते हैं । किन्तु कर्मजनित सत्कार कालपाकर लुप्त हो जाते हैं, इसलिए श्रेष्ठ माधु पुरुष ब्रह्म को ही श्रेष्ठ पदार्थ समझते हैं; क्योंकि ब्रह्मानन्द अत्रिमा और अविनाशी है । शोक, मोह आदि में लुटकारा मिल जाना ज्ञान का प्रत्यक्ष फल है, तप का फल परलोक में मिलता है । इसलिए केवल बहुत पढ़नेवाला बहुपाठी ब्राह्मण होने के सिवा और कुछ महत्त्व नहीं रखता । केवल पढ़ना ही ब्राह्मणत्व का कारण नहीं है । जो सत्य से

तस्य पर्येषणं गच्छेत्प्रत्यर्थिषु कथंचन ।	
अविचिन्वन्नमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥	
तूष्णींभूत उपासीत न चेष्टेन्मनसाऽपि च ।	
उपावर्तस्व तद्ब्रह्म अंतरात्मानि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥	
मौनान्न स मुनिर्भवति नाऽरण्यवसनान्मुनिः ।	
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥	
सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते ।	
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ६१ ॥	
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।	
सस्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद्विद्वान्सर्वविद्भवेत् ॥ ६२ ॥	
धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।	
वेदानां चाऽनुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥	

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥४३॥

के द्वारा प्रतिपदा की चन्द्रकला का ज्ञान होता है, वैसे ही वेद की सहायता से परमात्मा के परम-पुरुषार्थ रूप यथार्थ तत्त्व की उपलब्धि, किसी-किसी को, हो जाती है । जो वेद-वाक्य का भावार्थ बताने में अत्यन्त निपुण है, युक्ति के साथ श्रुतिसङ्गत अर्थ की आलोचना करने में समर्थ है, स्वयं सन्देह-हीन होकर दूसरे के संशय को दूर कर सकता है वही ब्राह्मण है । पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे, आस-पास, कहीं परमात्मा का पता नहीं लगता । ध्यान मग्न तपस्वी लोग ध्यानयोग के मार्ग से उसका साक्षात्कार पाते हैं ॥५३।५८॥

हे महाराज ! तुम शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं

को छोड़कर, शुद्ध मन से, परब्रह्म का ध्यान करो । मौन होने से या वन में रहने से कोई मुनि नहीं होता । जो ब्रह्म को ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण जानता है तथा ब्रह्मको सच्चिदानन्द स्वरूप समझता है वही श्रेष्ठ मुनि है । जो सब विषयों का अर्थ कर सकता है—सब विषयों को प्रत्यक्ष सा देखता है—वह सर्वज्ञ वैयाकरण है । हे राजेन्द्र ! जैसे सीढ़ियों पर चढ़ा जाता है वैसे ही साधक पुरुष धीरे-धीरे धर्म और वेद आदि का ज्ञान प्राप्त करता हुआ अन्त को परब्रह्म का साक्षात्कार पाता है ॥५९।६३॥

—०—

उद्योगपर्व का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—सनत्सुजात यामिमां परां त्वं ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम् ।

परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां प्रवृह्नि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।

आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साऽजराऽमरा ॥ ८ ॥

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णानृतं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयति स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः ।

मानं न कुर्यान्नादधीत रोपमेप प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।

ब्रह्मचर्यव्रतस्याऽस्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात्प्राणैरपि धनैरपि ।

कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरूपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।

तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

आचार्येणाऽऽत्मकृतं विजानञ्ज्ञात्वा चाऽर्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।

यन्मन्यते तं प्रतिहृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥

नाऽचार्यस्याऽनपाकृत्य प्रवासं प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि ।

में लीन होते हैं । जो लोग सत्वगुण ग्रहण करके ब्रह्मपद पाने की प्रत्याशा से जाड़ा-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहते और विषय-वासना को छोड़ते हैं उनका आत्मा, मूज से सिकीं की तरह, शरीर से प्रथक हो जाता है । पिता और माता पहले शरीर को उत्पन्न करते हैं । उसके पश्चात् आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ब्रह्म-प्राप्तिरूप दूसरा जन्म होता है । वह जन्म अजर, अमर और पवित्र है । जो अनुशासन के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और उसका फल मोक्ष देकर सबका द्वैतमय मिटाते और सबकी रक्षा करते हैं, वे गुरुदेव ही सचं माता-पिता हैं, शिष्य को उनका कृतज्ञ रहकर कभी उन से विद्रोह या विरोध नहीं करना चाहिए । तालर्य यह है कि अभिमान और क्रोध छोड़कर, पवित्र और सावधान

होकर, स्वाध्यायपाठ और नित्य गुरु की वन्दना करना शिष्य का सबसे बड़ा और पहला कर्तव्य है । यहीं ब्रह्मचर्य की पहली सीढ़ी है । जो मनुष्य जीविका के लिए गुरु के भोगसे न रहकर, स्वयं पवित्र होकर, प्रात और साय भिक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलाते हुए विद्यालाभ करते हैं, उनका वह अनुष्ठान भी ब्रह्मचर्य की पहली सीढ़ी कहा जाता है ॥६।१॥

मन-वाणी काया से, मन और धन समर्पण करके भी, आचार्य का पिय करना ब्रह्मचर्य की दूसरी सीढ़ी है । गुरु की तरह गुरु की पत्नी और गुरुपुत्र से भी व्यवहार करना चाहिए । यह भी ब्रह्मचर्य की दूसरी सीढ़ी है ॥१२।१३॥

आचार्य विद्यादान आदि के द्वारा जो उपकार

आकांक्ष्याऽर्थस्य संयोगादसभेदार्थिनामिव ।

एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥

य आश्रयेत्पावयेच्चापि राजन्सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।

एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्मृत्युं तथा स जयत्यंतकाले ॥ २३ ॥

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयंति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मलेन ।

ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाऽभ्येति सर्वं नाऽन्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाऽथो कृष्णमथांजनं काद्रवं वा ।

सद्ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्कथंरूपं तदमृतमक्षरं पदम् ॥ २५ ॥

सनत्सुजात उवाच—आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाऽथो कृष्णमायसमर्कवर्णम् ।

न पृथिव्यां तिष्ठति नाऽन्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं विभर्ति ॥ २६ ॥

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाऽभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।

न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चंद्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥ २७ ॥

नैवर्क्षु तन्न यजुषु नाऽप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।

रथंतरं बार्हद्रेथे वाऽपि राजन्महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत् ॥ २८ ॥

इस ब्रह्मचर्य से ही गन्धर्वों और अप्सराओं को रूप मिला है । इसी ब्रह्मचर्य के बल से सूर्यदेव ऐसे तेजस्वी होकर उदय की समृद्धि दिखाते हैं । अभीष्ट फल देनेवाले चिन्तामणि के समान इस ब्रह्मचर्य को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है वे देवताओं से वाञ्छित पदार्थ प्राप्त करते हैं ॥२१२२॥

जो तपस्या के साथ चार चारों से युक्त ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं वे रागद्वेष आदि से शून्य और तत्त्वज्ञान के लाभ में समर्थ होकर अन्त को मृत्यु को जीत सकते हैं । हे राजेन्द्र ! ब्रह्मविद्या से शून्य पुरुष भी विशुद्ध कर्मों के अनुष्ठान के बल से अनित्य लोकों को जीत लेते हैं; किन्तु विद्वान् व्यक्ति विज्ञान के प्रभाव से विश्वात्मा ब्रह्म को ही प्राप्त करता है । तारक्य यह है कि ज्ञान ही भुक्तिनाम का द्वितीय उपाय है ॥२३२४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन् ! मैंने सुना है कि ब्रह्मदर्शी पुरुष के हृदय में ब्रह्म का रूप श्वेत, लाल, श्याम, कज्जल, धूम्र या पिङ्गल रङ्ग का सा भासित होता है । कृपा कर बताइए कि उस सर्वमय नित्य परमात्मा का रूप किस प्रकार का है ॥२५॥

सनत्सुजात ने कहा—हे धृतराष्ट्र ! ब्रह्म का रूप श्वेत, लाल, श्याम, धूम्र या पिङ्गल रङ्ग का सा अवश्य भासित होता है; किन्तु वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सागरजल, तारागण, विजली, मेघमाला, वायुचक्र, देवलोक आदि किसी स्थान में विद्यमान नहीं है । वह सूर्यमण्डल में, चन्द्रमण्डल में, ऋक्ष, यजुः, साम, अथर्व आदि वेदों में या रथन्तर, बार्हद्रेथ या महाव्रत यज्ञों में, कहीं नहीं देख पड़ता । क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है, नाम और रूप से रहित है, अनतिक्रमणीय है और अज्ञानरूप उपाधि से अतीत है ।

नृशंसधर्माः षडिमे जना वै प्राप्याऽप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥ ३ ॥
 संभोगसंविद्धिपमोऽतिमानी दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्वलश्च ।
 बहुप्रशंसी वनिताद्विद् सदैव ससैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥
 धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया ।
 दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥
 यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
 त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाऽर्थितो यो नाऽस्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाऽप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
 एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥
 सद्वाऽसद्वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।
 नरकप्रतिष्ठास्ते स्युर्य एनं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥
 मदोऽष्टादशदोषः स स्यात्पुरा योऽप्रकीर्तितः ।
 लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥
 कामक्रोधौ पारतंत्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।
 अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणपीडनम् ॥ १० ॥

में कोप को छिपाये रखनेवाला और अहङ्कारी, ये छः मनुष्य प्राप्त अर्थ का समुचित व्यवहार नहीं करते; बल्कि ये लोग सज्जनों का अपमान किया करते हैं ॥११३॥

जो मनुष्य स्त्रीसङ्ग को ही परम पुरुषार्थ समझकर दुर्धनस्थित होता है, जो अत्यन्त अहङ्कारी है, जो मनुष्य दान करके अपनी प्रशंसा आप करता है, जो कञ्जुस है, जो बलपूर्वक दूसरे का अनिष्ट करता है, जो अपनी अधिक प्रशंसा करता है और जो स्त्री से द्वेष रखता है, ये सात मनुष्य भी निन्दनीय हैं । धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियदमन, मत्सरहीनता, लोकलज्जा, क्षमा, असूया का त्याग, दान, शास्त्रज्ञान, धर्म और सहनशीलता, ये बारह—ब्रह्मज्ञानी के महाव्रत हैं ॥११५॥

जो इन बारह गुणों को नहीं छोड़ता वह सारी पृथ्वी का अधीश्वर हो सकता है । इनमें से तीन, दो या एक भी गुण जिसमें होता है, उस व्यक्ति की दृष्टि में संसार की कोई भी वस्तु उक्त गुण की समता नहीं कर सकती । दम, त्याग और अप्रमाद, ये तीन मोक्ष की सीढ़ियाँ हैं । विवेकी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण ही इनके अधिकारी हो सकते हैं ॥६॥७॥

सत्य हो या मिथ्या, किसी के दोष को कहना ब्रह्मज्ञानी का कर्तव्य नहीं है । किसी का दोष कहने से अवश्य नरक की गति प्राप्त होती है । पहले इतना कहा जा चुका है कि मद के अठारह दोष हैं । अब उन दोषों का स्पष्ट वर्णन तुमको सुनाता हूँ । पराई स्त्री आदि को हर लेना, धर्म आदि में विभ्र डालना, गुणी पुरुषों पर दोषारोपण

अस्मिन्योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १८ ॥

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्सत्यं जयेज्जुहुयाद्वा यजेद्वा ।

नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन् रतिं चाऽसौ न लभत्यंतकाले ॥ १९ ॥

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसाऽपि न ।

तथा संस्तुतिर्निंदाभ्यां प्रीतिरोषौ त्रिवर्जयेत् ॥ २० ॥

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माऽऽविशति पश्यति ।

वेदेषु चाऽनुपूर्व्येण पतद्विद्वन्ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पंचचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

कोई कर्म का यज्ञ करता है । सत्यसङ्कल्पवाला पुरुष ही ब्रह्म को पाता है ॥१२११७॥

हे राजेन्द्र ! यह मेरा कहा हुआ योगशास्त्र का सारांश ब्रह्म की प्राप्ति का कारण है । यह यज्ञ को बढ़ानेवाला प्रमत्त शिष्यों को पढ़ाना चाहिए । पण्डितों का कहना है कि इस शास्त्र के सिवा और सब शास्त्र वाक्य-विकार मात्र हैं । सभी विषय योग के अधीन हैं । योगशास्त्र में अभिज्ञ पुरुष ही मुक्ति प्राप्त करता है । कर्म के अच्छी तरह अनुष्ठान से

भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती । अविद्वान् पुरुष के किये हुए यज्ञ या हवन से मोक्ष या परलोक का आनन्द नहीं मिल सकता । इस प्रकार चुपचाप अकेले ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए । मन की चेष्टाओं को भी छोड़ देना चाहिए । स्तुति से प्रसन्न और निन्दा से क्रोधित न हो । ब्राह्मण का यही धर्म है । साङ्गोपाङ्ग वेद का अनुशीलन करने से क्रमशः इसी लोक में ब्रह्म का साक्षात्कार पाकर साधक तन्मय हो सकता है ॥१८।२१॥

उद्योगपर्व का पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

अथ पट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

सनत्सुजात उवाच—यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।

तद्वै देवा उपासते तस्मात्सूर्यो विराजते ।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम् ॥ १ ॥

शुक्राद्ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुकेण वर्द्धते ।

छियालीसवा अध्याय ॥ ४६ ॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! महाज्योति और महाशय के नाम से प्रसिद्ध और प्रकाशमान "शुक्र" की उपासना सब देवता करते हैं । उसी से सूर्य भी इतने तेजस्वी और प्रकाशशाली हैं । योगी लोग ही उन सनातन भगवान् शुक्र के दर्शन

पाते हैं । शुक्र से ब्रह्म की उत्पत्ति और वृद्धि होती है । वह शुक्र सूर्य आदि ज्योतिर्मय पदार्थों को ताप पहुँचाता है । वह किसी के द्वारा प्रकाश नहीं पाता, बल्कि वही सबको प्रकाश पहुँचाता है । योगी लोग ही उन सनातन भगवान् शुक्र को देख

ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्	
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम्	॥ ८ ॥
हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः	
ते नत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतांति यथादिशम्	
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम्	॥ ९ ॥
पूर्णात्पूर्नान्युद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे	
हरन्ति पूर्णात्पूर्णानि पूर्णमेवाऽवशिष्यते	
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम्	॥ १० ॥
तस्माद्धै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा	
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः	॥ ११ ॥
सर्वमेव ततो विद्यात्तद्वक्तुं न शक्नुमः	
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम्	॥ १२ ॥
अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चंद्रमाः	
आदित्यो गिरते चंद्रमादित्यं गिरते परः	
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम्	॥ १३ ॥
एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्	
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवंतं सनातनम्	॥ १४ ॥

उसी शुक नाम के अधिष्ठान में विचरते हैं । योगी लोग ही उस सनातन भगवान् को देख पाते हैं । जो जीव परलोक में कर्म का आधा फल भोगकर आधा फल भोगने के लिए इस लोक में जन्म लेता है और सभी प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप से स्थित है, वही यज्ञ आदि का प्रवर्तक है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष को देखते हैं । अविद्या एक वृक्ष है, स्त्री-पुत्र आदि उसके पत्ते हैं और चिदात्मारूप पक्ष-हीन पक्षी उस पर बैठा हुआ है । पक्ष निकलने पर वह इच्छा के अनुसार अनेक स्थानों में विचरता है । योगीजन ही उस सनातन भगवान् को देख

पाते हैं । पूर्णस्वरूप पूर्ण स्वरूप का क्रमशः उद्धार, निर्माण और संहार करता है । अन्त को एकमात्र पूर्ण ही बच रहता है । योगी लोग उस सनातन पुरुष का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं ॥६।१०॥

वायु उसी से उत्पन्न होकर उसी में लीन होता है । अग्नि, सोम और प्राण की भी उत्पत्ति उसी से हुई है । तात्पर्य यह है कि वह पूर्णस्वरूप सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का स्थान और वाणी से परे है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष के दर्शन पाते हैं । अपानवायु प्राणवायु में, प्राण मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि परमात्मा में लीन होती है । योगीजन

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यंति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः ।
 हितो मनीषी मनसा न तप्यते ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवंति ।
 योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ २० ॥
 गृह्णन्ति सर्पा इव गह्वराणि स्वशिक्षया स्वेन घृतेन मर्त्याः ।
 तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा यथाऽध्वानं मोहयन्ते भयाय ।
 योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ २१ ॥
 नाऽहं सदाऽसत्कृतः स्यां न मृत्युर्न चाऽमृत्युरमृतं मे कुतः स्यात् ।
 सत्यानृते सत्यसमानबंधे सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
 योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥
 न साधुना नोत असाधुना वाऽसमानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
 समानमेतदमृतस्य विद्यादेवं युक्तो मधु तद्वै परीप्सेत् ।
 योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥
 नाऽस्याऽतिवादा हृदयं तापयन्ति नाऽनधीतं नाऽऽहुतमग्निहोत्रम् ।
 मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञां चाऽस्मै नाम धीरा लभन्ते ।
 योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

अनन्तपक्षयुक्त है और मन की तरह वेग से गमन करता है वही अन्त स्थित अन्तगत्मा को प्राप्त होता है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष को देख पाते हैं । परमात्मा का रूप अदृश्य है किन्तु विशुद्ध सत्त्व-सम्पन्न होने से उसका दर्शन होता है । जो पुरुष सबका सुहृद् और इन्द्रियदमन में तत्पर होकर, पुत्र-स्त्री आदि के वियोग में भी व्याकुल न होकर, सन्यास धारण करता है वह मुक्ति को पाता है । योगीजन ही उस मुक्तिदाता भगवान् को देखते हैं ॥१६।२०॥

शिक्षा और स्वभाव के कौशल से मनुष्य अपने पाप कर्मों को छिपाते हैं और मूढ़ जन बाहर से अच्छे देख पड़नेवाले विषयों में आर आसक्त होकर औरों को भी उनकी ओर लगाते हैं । किन्तु योगीजन सातुसन्न-

प्राप्ति की प्रत्याशा से उस सनातन भगवान् के दर्शन करते हैं । मैं सुख दुःख, जरा मरण आदि के हाथ से छुटकारा पा चुका हूँ । इस कारण जन्म मरण से भी अतीत हूँ । इसलिए मुझे मोक्ष प्राप्ति की भी इच्छा नहीं है, क्योंकि ईश्वर में ही सत्य मिथ्या और सत्-असत् सबका अन्त है । योगी जन ही उस सनातन पुरुष के दर्शन पाते हैं । कार्यवश मनुष्य में ही उत्कर्ष और अपकर्ष देखा जाता है, चैतन्यरूपी परब्रह्म में यह कुछ नहीं है । तार्क्य यह है कि परब्रह्म उरकृष्ट या अणुकृष्ट नहीं है । वह स्वयं अमृतस्वरूप और सर्वदा समदर्शी है । पाप या पुण्य उस छू नहीं सकता । हे राजेन्द्र ! तुम उसी ब्रह्म को पान का प्रयत्न करो । योगीजन ही उस

अथ यानसधिपर्व ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता	।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी	॥ १ ॥
तस्यां रजन्यां व्युप्रायां राजानः सर्व एव ते	।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपादिदृक्षया	॥ २ ॥
शुश्रूपमाणाः पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः	।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम्	॥ ३ ॥
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूपिताम्	।
चंद्रप्रभां सुरुचिरां सिकां चंदनवारिणा	॥ ४ ॥
रुचिरैरासनेः स्तीर्णां कांचनैर्दारवैरपि	।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सान्तरच्छदैः	॥ ५ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः	।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः	॥ ६ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः	।
सर्वे च साहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ	॥ ७ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम्	।
दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौवलः	॥ ८ ॥
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उल्लूकोऽथ विविंशतिः	।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम्	॥ ९ ॥

सैतालीसवा अध्याय ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । इस प्रकार विदुर और सनत्सुजात से बातचीत करने में ही घृतराष्ट्र ने वह रात्रि व्यतीत कर दी । प्रातः काल होने पर सब प्रसन्नचित्त राजा लोग सज्जय की बातें सुनने के लिए कौरवों की सभा में आये । वह सभाभवन उज्ज्वल, लम्बा चौड़ा, अनेक वस्त्र मालाओं से शोभित, सुवर्ण के चवूतलों से अलंकृत और

सुगन्धित जल के छिड़काव से शीतल था । उसमें सुवर्ण, लकड़ी, पत्थर और हाथीदात के आसन चारों ओर पड़े हुए थे । वहाँ घृतराष्ट्र के साथ भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, महात्मा विदुर, महारथी युयुत्सु और अन्य शू वीर राजाओं ने प्रवेश किया । उसके पश्चात् दुर्योधन के साथ दुःशासन, चित्रसेन,

अथ अपृचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये किमत्रवीद्वाक्यमदीनसत्त्वः।

धनंजयस्तात युधां प्रणेता दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥ १ ॥

संजय उवाच—दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः।

युधिष्ठिरस्याऽनुमते महात्मा धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ॥ २ ॥

अन्वत्रस्तो वाहुवीर्यं विदान उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः ।

अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटीमध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम् ॥ ३ ॥

संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत ।

यो योद्धुमाशंसति मां सदैव मंदप्रज्ञः कालपकोऽतिमूढः ॥ ४ ॥

ये वै राजानः पांडवा योधनाय समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम्।

यथा समग्रं वचनं मयोक्तं सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत् ॥ ५ ॥

यथा नूनं देवराजस्य देवाः शुश्रूषन्ते वज्रहस्तस्य सर्वे ।

तथाऽशृण्वन्पांडवाः संजयाश्च किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम् ॥ ६ ॥

इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो गांडीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः ।

न चेद्राज्यं मुंचति धार्तराष्ट्रो युधिष्ठिरस्याऽऽजमीढस्य राज्ञः ॥ ७ ॥

अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्तादनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः ।

येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां तथाऽश्विभ्यां वासुदेवेन चैव ॥ ८ ॥

अइतालीमवां अध्याय ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सज्जय ! सब गजाओं के सामने मैं तुमसे पूछता हूँ कि उन योद्धा पुरुषों के नेता, दुरात्मा पुरुषों का जीवन हरनेवाले, उरसाही अर्जुन ने क्या कहा है ! ॥१॥

सज्जय ने कहा—युद्ध की इच्छा रखनेवाले वीर अर्जुन ने युधिष्ठिर की आज्ञा से श्रीकृष्ण के सामने मुझसे जो कहा है वह मैं राजा दुर्योधन को सुनाता हूँ। निर्भय अर्जुन ने मुझसे कहा है—हे सज्जय ! जिन दुर्बचन बोलनेवाले, दुरात्मा, मूढ़ सूत-पुत्र कर्ण ने मृद्यु निकट आने के कारण मुझसे

युद्ध की इच्छा प्रकट की है और जो राजा लोग पाण्डवों से युद्ध करने आये हैं, उनके आगे दुर्योधन और उनके मन्त्रियों से कहना कि क्रोध से लाल नेत्र करके गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन ने, देवमण्डली में स्थित वज्रपाणि इन्द्र की तरफ, पाण्डवों और सृष्टियों के सामने कहा है—यदि दुर्योधन अत्रमीढ वंश में उत्पन्न महाराज युधिष्ठिर को उनका राज्य नहीं देंगे तो मैं समझूंगा कि धृतराष्ट्र के पुत्रों के भोगने के लिए उनका पूर्व जन्म का पाप अभी शेष है। उसी का फल भोगने के लिए भीमसेन, अर्जुन, नकुल, महदेव, श्रीकृष्ण,

सेनाग्रं दंशितं भीमसेनं स्वालक्षणं वीरहणं परेषाम् ।
 घ्नंतं चमूमंतकसन्निकाशं तदा स्मर्ता वचनस्याऽतिमानी ॥ १७ ॥
 यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान् निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान् ।
 कुंभैरिवाऽसृग्मतो भिन्नकुंभास्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १८ ॥
 महासिंहो गाव इव प्रविश्य गदापाणिधार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
 यदा भीमो भीमरूपो निहंता तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १९ ॥
 महाभये वीतभयः कृतास्त्रः समागमे शत्रुबलावमर्दी ।
 सकृद्रथेनाऽप्रतिमान् रथौघान् पदातिसंघान् गदयाऽभिनिघ्नन् ॥ २० ॥
 शैक्येन नागांस्तरसा निघ्नन् यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम् ।
 छिंदन्वनं परशुनेव शूरस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २१ ॥
 तृणप्रायं ज्वलनेनेव दग्धं ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य ।
 पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ॥ २२ ॥
 हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम् ।
 शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २३ ॥
 उपासंगानाचरेद्दक्षिणेन वरांगानां नकुलश्चित्रयोधी ।

संहार करेंगे तब दुर्योधन को पछताना पड़ेगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि साक्षात् काल के समान महाबली, पराक्रमी, गदा-पाणि, शत्रु-सेना का नाश करनेवाले भीमसेन कवच पहनकर भीमवेश से रथ पर सवार हैं और शत्रु-सेना के सामने पहुंचकर क्रोध का दारुण विष उगल रहे हैं, तब उनको पछताकर मेरा कहा स्मरण करना पड़ेगा ॥ १६ ॥ १७ ॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि भीमसेन पर्वत-शिखर ऐसे हाथियों को गिरा रहे हैं, उन हाथियों के फटे हुए मस्तकों से रक्त बह रहा है, तब उन्हें अवश्य पछताना पड़ेगा ॥ १८ ॥

जब महाबली भयंकर स्वभाववाले भीमसेन, गाँवों के झुण्ड में घुसे हुए सिंह की तरह, सेना में

घुसकर घृतराष्ट्र के पुत्रों का संहार करेंगे, तब दुर्योधन को पछताना पड़ेगा ॥ १९ ॥

जब अस्त्र-विद्या में सुशिक्षित वीर भीमसेन अकेले रथ पर बैठकर रथों और पैदलों का विध्वंस करेंगे, खाँड़े से वेग के साथ हाथियों को काँटेगे और कुल्हाड़ी से कटे हुए वन की तरह दुर्योधन की सेना को छिन्न-भिन्न करेंगे, तब दुर्योधन को इस युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥ २० ॥ २१ ॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि भीमसेन शस्त्र की आग्नि से, कृप के बने शोषकोंवाले गाँव की तरह, उनकी सेना को मरम कर रहे हैं और महाबली पराक्रमी योद्धा लोग भय के मोर रणभूमि छोड़-छोड़कर भागे चले जा रहे हैं, तब युद्ध के लिए उनकी पछताना

यदाऽभिमन्युः परवीरघाती शरैः परान्मेघ इवाऽभिवर्षन् ।
 विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्रस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३२ ॥
 यदा द्रष्टा बालमवालवीर्यं द्विपञ्चमं मृत्युमिवोत्पतंतम् ।
 सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३३ ॥
 प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो विशारदाः सिंहसमानवीर्याः ।
 यदाक्षेप्तारो धार्तराष्ट्रान्ससैन्यांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३४ ॥
 वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ पृथक्चमूभ्यामभिवर्तमानौ ।
 यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान्ससैन्यांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३५ ॥
 यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन् शिरांसि यूनां समरे रथस्थः ।
 क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तैस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३६ ॥
 यदा विराटः परवीरघाती ममत्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा ।
 मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपैस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३७ ॥
 ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात् ।
 यदा द्रष्टा दंशितं पांडवाथं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३८ ॥

शकुनि पर जब आक्रमण करेंगे और उनके प्रहार से कौरवों की सेना इधर-उधर भाग खड़ी होगी, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३०॥

जब महाबलनुद्धर, कृतास्त्र, युद्धविशारद द्रौपदी के पुत्र तीक्ष्ण विपबाले काले नागों की तरह समर-भूमि में उतरेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३१॥

जब श्रीकृष्ण के तुल्य अस्त्र निपुण और शत्रुनाशन अभिमन्यु वर्षा की तरह बाण-वर्षा करके शत्रुसेना का संहार करेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३२॥

बालकहोकर भी युवा की भांति जिस समय सुभद्रा अभिमन्यु को कालरूप पुत्र के समान शत्रु सेना के ऊपर गिरता हुआ दुर्योधन देखेगा तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३३॥

सिंह-सदृश वीर्यशाली, फुरतिले, युद्धविशारद प्रभद्रक नाम के युवक योद्धा जब सेना-सहित धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार भगावेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३४॥

जब सेना-सहित कौरवगण महारथी राजा विराट और राजा द्रुपद को अलग-अलग अपनी सेना लेकर युद्धभूमि में आते देखेंगे तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३५॥

अस्त्रविद्या में निपुण राजा द्रुपद जब रथ पर चढ़कर, क्रोध से बिह्वल होकर, अनायास वाणों से नौजवानों के सिर काटेंगे तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३६॥

जब शत्रुदमन राजा विराट अपने पुत्र उत्तर और मत्स्यदेश के सर्जिले सैनिकों के साथ शत्रुसेना में प्रवेश करेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए

प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४६ ॥
 यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा ।
 सिंहस्येव गंधमाप्राय गावः संचेष्टंते शत्रवोऽस्माद्रणाग्रे ॥ ४७ ॥
 स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा भिंध्याद्विरीनसंहरेत्सर्वलोकान् ।
 अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो दिवि स्थितः सूर्य इवाऽभिभाति ॥ ४८ ॥
 चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य अस्त्रे योगो वृष्णिर्सिंहस्य भूयान् ।
 यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ॥ ४९ ॥
 हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भिर्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य ।
 द्रुप्रा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्रास्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मंदः ॥ ५० ॥
 यदा रथं हेममणिप्रकाशं श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम् ।
 दृष्ट्वा ममाऽप्यास्थितं केशवेन तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मंदः ॥ ५१ ॥
 यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेपमुग्रं महाशब्दं वज्रनिष्पेपतुल्यम् ।
 विधूयमानस्य महारणे मया स गांडिवस्य श्रोष्यति मंदबुद्धिः ॥ ५२ ॥
 तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्रस्तप्ता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः ।
 दृष्ट्वा सैन्यं वाणवर्षाधिकारे प्रभञ्ज्यंतं गोकुलवद्रणाग्रे ॥ ५३ ॥

है । वे दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता, शत्रुदल-दलन, महा-
 रथी, निर्भय और अद्वितीय योद्धा हैं । सात्यकि जब
 मेरी आज्ञा मे जलधारा की तरह वाणवर्षा से शत्रु-
 सेना को छा देंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए
 पछताना पड़ेगा ॥४५।४६॥

सिंह की गन्ध पाकर जैसे गाँवों इधर-उधर भाग
 खड़ी होती हैं वैसे ही उस समय कौरवों की सेना
 इधर-उधर भागन लगेगी जिस समय दृढ़ धनुष धारण
 करनेवाले महाभुज सात्यकि युद्ध के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा
 करके युद्धभूमि में उपस्थित होंगे, और तब दुर्योधन
 को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४७।४८॥

सूर्यतुरग तेजस्वी सात्यकि अस्त्रविद्या में अद्भुत
 योग्यता रखनेवाले और फुरतीले हैं । वे अनायास
 सब लोकों का संहार कर सकते हैं । बुद्धिमानों ने

जिन अस्त्रों को उत्तम और दिव्य बताया है उन
 अस्त्रों को सात्यकि अच्छी तरह जानते हैं । युद्ध
 के समय जब मूढ़ दुर्योधन वृष्णिवंशश्रेष्ठ सात्यकि
 के श्वेत चार घोड़ों से युक्त रथ को देखेंगे तब उन्हें
 युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४९।५०॥

जब दुर्योधन दलेंगे कि सर्वशक्तिशाली श्रीकृष्ण
 सुवर्ण और मणियों की प्रभा से प्रकाशित, श्वेत घोड़ों
 से शोभित, वानर की ध्वजा से अलंकृत मेरे श्रेष्ठ
 रथ पर बैठे हैं तब उन्हें पछताना पड़ेगा ॥५१॥

महायुद्ध में गाण्डीव धनुष की दृढ़ डोरी से
 जब वज्रपात की भी कटार ध्वनि निकलकर दुर्योधन के
 कानों को वहग काँगी तब उन्हें पछताना पड़ेगा ॥५२॥

जब वाणवर्षा से विह्वल होकर दुर्योधन के
 सैनिक इधर-उधर भाँगे—मेघमाला से निकली हुई

कांदिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम् ।
 हताश्ववीरान्गन्यनरैर्द्रनागं पिपासितं श्रांतपत्रं भयार्तम् ॥ ६२ ॥
 आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
 प्रजापतेः कर्म यथार्थनिष्ठितं तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मंदबुद्धिः ॥ ६३ ॥
 यदा रथे गांडिवं वासुदेवं दिव्यं शंखं पांचजन्यं हयांश्च ।
 तूणावक्ष्यथौ देवदत्तं च मां च दृष्ट्वा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ६४ ॥
 उद्धर्तयन्दस्युसंधानसमेतान्प्रवर्तयन्युगमन्यद्युगांते ।
 यदा धक्ष्यान्पद्मिवत्कौरवेयांस्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ॥ ६५ ॥
 सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः ।
 दर्पस्यांऽते निहतो वेपमानः पश्चान्मंदस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ६६ ॥
 पूर्वाह्निं मां कृतजप्यं कदाचिद्विप्रः प्रोवाचोदकांते मनोज्ञम् ।
 कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ॥ ६७ ॥
 इंद्रो वा ते हरिवान्वज्रहस्तः पुरस्ताद्यातु समरेऽरीन्विनिघ्नन् ।
 सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते पश्चात्कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ॥ ६८ ॥

तक छा गई है और गाण्डीव धनुष के द्वारा उनकी सेना छिल भिल हो गई है, तब उनको पछताना पड़ेगा ॥६१॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि उनकी सेना में कोई भागा जा रहा है, कोई घायल हो गया है, कोई बेहोश पड़ा है—घोड़े, हाथी, श्रेष्ठ वीर राजा लोग जगह-जगह घरती पर मरे पड़े हैं—किसी के वाहन थक गये हैं, कोई भय या प्यास से व्याकुल हो रहा है, कोई करुण म्वर से चिल्लाकर मर रहा है, कोई युद्धभूमि में मरा पड़ा है और उसके केश, हड्डियाँ और मस्तक अस्त व्यस्त हो गया है—रणभूमि वाजपेय यज्ञ की भूमि के समान दिखाई पड़ रही है, तब उन्हें युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥६२॥६३॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि दिव्य पाद्यत्रय शंख

लिये श्रीकृष्ण और अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष, देवदत्त शंख लेकर मैं दोनों मित्र दिव्य घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथ पर सवार हुए हैं, तब उन्हें अवश्य उस के लिए पछताना पड़ेगा ॥६४॥

अग्नि जैसे प्रलय के समय दस्युओं का विनाश करके अन्य युग की स्थापना करती है—वैसे ही जब मैं कौरवों को भस्म करता हुआ युगान्तर उपस्थित करूँगा, तब धृतराष्ट्र और दुर्योधन, दोनों को पछताना पड़ेगा ॥६५॥

क्रोधी, क्षुद्रमूकति दुर्योधन जब ऐश्वर्य और दर्प से हीन होकर, सेना और माइयों सहित घायल होकर, घरती पर गिरेंगे, तब उन्हें युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥६६॥

मैं एक दिन मात काल सन्ध्या-तर्पण और गायत्री-जप करके बैठा था, इतने में एक ब्राह्मण ने

अयं कपाटेन जघान पांड्यं तथा कलिङ्गान्दंतकूरे ममर्द ।
 अनेन जग्धा वर्षपूगान्विनाथा वाराणसी नगरी संबभूव ॥ ७६ ॥
 अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं तमेकलव्यं नाम निपादराजम् ।
 वेगेनैव शैलमभिहत्य जंभः शोते कृष्णेन हतः परासुः ॥ ७७ ॥
 तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं वृष्ण्यंधकानां मध्यगतं सभास्थम् ।
 अपातयद्वलदेवद्वितीयो हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम् ॥ ७८ ॥
 अयं सौभं योधयामास खस्थं विभीषणं मायया शाल्वराजम् ।
 सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतर्षीं दोभ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः ॥ ७९ ॥
 प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं पुरं घोरमसुराणामसह्यम् ।
 महाबलो नरकस्तत्र भौमो जहाराऽदित्या मणिकुंडले शुभे ॥ ८० ॥
 न त देवाः सह शक्रेण शेकुः समागता युधि मृत्योरभीताः ।
 दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य बलं तथैवाऽस्त्रमवारणीयम् ॥ ८१ ॥
 जानंतोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य न्ययोजयन्दस्युवधाय कृष्णम् ।
 स तत्कर्म प्रतिशुश्राव दुष्करमैश्वर्यवान्तिद्धिषु वासुदेवः ॥ ८२ ॥

जितकर, नमजित् राजा के पुत्रों को परास्त करके देवताओं के मिय राजा सुदर्शन को बन्धन से छुड़ाया है ॥७५॥

श्रीकृष्ण ने कपाट नगर में पाण्ड्य राजा को, कलिङ्गदेशवासियों की सेना को और दन्तवक्र को मारा है। इन्होंने कुपित होकर काशीपुरी को जलाया है। इसके पश्चात् बहुत दिन तक काशीपुरी बिना राजा के ही रह चुकी है ॥७६॥

श्रीकृष्ण ने अपने को अजेय समझनेवाले निपादराज एकलव्य को मार डाला है। पर्वत पर इन्द्र के पटक हुए अम्बासुर के समान श्रीकृष्ण के हाथ से मरा हुआ एकलव्य मृत्युशय्या पर सोया है ॥७७॥

श्रीकृष्ण ने बलदेव के साथ जाकर वृष्णि और अन्धक वंश के यादवों की समा में प्रचण्ड उग्रसेन

के पुत्र कस को मारा और उग्रसेन को राजा बनाया है ॥७८॥

श्रीकृष्ण ने आकाश में सौभविमान पर स्थित शाल्व का माया के युद्ध में मारा है। सौभ के द्वार पर रक्खे हुए शतर्षी नाम के भयानक अस्त्र को जब शाल्व ने कृष्ण पर चलाया तब इन्होंने उसे हाथों से तोड़ डाला है। मला इनके पराक्रम को कौन सह सकता है? कौन श्रीकृष्ण का सामना कर सकता है? ॥७९॥

असुरों की प्राग्ज्योतिष नाम की एक दुर्गम नगरी थी। अदिति के मणिमय दिव्य कुण्डल छीन लानेवाला महाबली भौमासुर उसमें रहता था ॥८०॥

मृत्यु से निहर इन्द्र सहित सब देवता भी युद्ध करने के लिए आकर उस दानवराज का सामना नहीं कर सके। देवताओं ने श्रीकृष्ण के

शारद्वतायाऽप्रतिद्विने च योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः ॥ ९० ॥
 धर्मेणाऽऽसं निधनं तस्य मन्ये यो योत्स्यते पाण्डवैः पापबुद्धिः ।
 मिथ्याग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः संवत्सरान्वै द्वादश राजपुत्राः ॥ ९१ ॥
 वासः कृच्छ्रो विहिनश्चाऽप्यरण्ये दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम् ।
 ते हि कस्माज्जीवितां पाण्डवानां नंदिष्यन्ते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ॥ ९२ ॥
 ते चेदस्मान्युद्धयमानाञ्जयेयुर्देवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः ।
 धर्मादधर्मश्चरितो गरीयांस्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु ॥ ९३ ॥
 न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं न चेदस्मान्मन्यतेऽसौ विशिष्टान् ।
 आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो दुर्योधनं सानुबंधं निहंतुम् ॥ ९४ ॥
 न चेदिदं कर्म नरेन्द्र वंध्यं न चेद्भवेत्सुकृतं निष्फलं वा ।
 इदं च तच्चाऽभिसमीक्ष्य नूनं पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ॥ ९५ ॥
 प्रत्यक्षं वः कुरवो यद्ब्रवीमि युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न संति ।
 अन्यत्र युद्धात्कुरवो यदि स्युर्न युद्धे वैशेष इहाऽस्ति कश्चित् ॥ ९६ ॥
 हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान्सकर्णात्राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
 यद्गः कार्यं तत्कुरुध्वं यथास्वमिष्टान्दारानात्मभोगान्भजध्वम् ॥ ९७ ॥

खयाल करके उन बातों को टाल जाते हैं । जो मूर्ख
 व्यक्ति श्रीकृष्ण में और मुझमें विरोध उत्पन्न करना
 और श्रीकृष्ण के हृदय से पाण्डवों का खेद हरना
 सहज समझता है वह युद्ध में जाकर उसका हाल
 जानेगा । मैं राज्यप्राप्ति की इच्छा से पितामह भीष्म,
 द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, अर्जुन वीर कृपाचार्य आदि
 को प्रणाम करके युद्ध का आरम्भ करूंगा ॥८६।९०॥
 मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि जो कोई
 धर्मात्मा पाण्डवों से युद्ध करने आगेवा वह धर्म के
 हाथ से मारा जायगा । नीचे दुर्योधन आदि ने कपट
 के जुए में हराकर जिन पाण्डवों को बारह वर्ष वन
 में और एक वर्ष अज्ञातवास में रखकर अनेक कष्ट
 दिये हैं उनके जीते रहते दुरात्मा घृतराष्ट्रपुत्र जैसे
 राज्यासन पर बैठकर सुखपूर्वक पेश्वर्य भोग सकते

हैं ? यदि दुरात्मा कौरव लोग इन्द्र आदि देवताओं
 की सहायता से हम लोगों को हरा देंगे तो इसमें
 भी सन्देह न रह जायगा कि धर्म से अधर्म अष्ट
 है—अच्छे काम करना गिरी नादानी है । यदि
 सब पुरुष कर्म-पाश में बंधे हुए नहीं हैं और हम
 लोग सब बातों में कौरवों से अष्ट नहीं हैं, तो अवश्य
 इस युद्ध में दुर्योधन को जय प्राप्त होगी । यदि हम
 को अधर्म से राज्य से अष्ट करने का और इस समय
 हमें राज्य न देने का फल कौरवों को अवश्य भोगना
 है तो हम श्रीकृष्ण की सहायता से दुर्योधन को समूल
 नष्ट कर सकेंगे । इन दोनों कार्यों के फल पर विचार
 करके मैंने निश्चय किया है कि दुर्योधन का हारना
 ही ठीक है ॥९१।९५॥

मैं सब कौरवों के सामने कहता हूँ, कि युद्ध में

अहं ह्येकः पार्थिवान्सर्वयोधाऽशरान्वर्षन्मृत्युलोकं नयेयम् ॥ १०५ ॥

समाददानः पृथगस्त्रमार्गान्यथाऽग्निरिद्धो गहनं निदाघे ।

स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं ब्राह्मं चाऽस्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे ॥ १०६ ॥

वधे धृतो वेगवतः प्रमुञ्चन्नाऽहं प्रजाः किञ्चिदिहाऽवशिष्ये ।

शांतिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान् ॥ १०७ ॥

ये वै जय्याः समरे स्मृत लब्ध्वा देवानपीन्द्रप्रमुखान्समेतान् ।

तैर्मन्यते कलहं संप्रसह्य स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ॥ १०८ ॥

वृद्धो भीष्मः शांतनवः कृपश्च द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान् ।

एते सर्वे यद्वदन्ते तदस्तु आयुष्मंतः कुरवः संतु सर्वे ॥ १०९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिबेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

वचन सुन पढ़ते हैं कि "हे अर्जुन ! तुम्हारा रथ कब जोता जायगा ?" शत्रु को सियारनिधा लगाता अशुभ शब्द करती हैं । आकाश से राक्षस पृथ्वी पर गिरते हैं । मृग, सियार, नीलकण्ठ, कौपर, गिद्ध, बगले, तेंदुए और सुनडरे पंखवाले अन्य अनेक पक्षी धेत घोड़ों से जोते गये मेरे रथ को देखकर पीछे उड़ते हैं । मैं अकेला ही युद्ध-भूमि में वाणवर्षा करके सब शत्रुओं को यमलोक भेजूंगा ॥ १०१।१०५ ॥

जैसे गर्मियों में प्रज्वलित दावानल सब वन जलाकर अन्त को शान्त होता है, वैसे ही मैं भी कौरव-वध के लिए सुमजिजत होकर, अस्त्रप्रयोग के

मिल-मिल कौशलों द्वारा—वेगशाली स्थूणाकर्ण, पाशुपत, ब्रह्मास्त्र और इंद्र के दिये अस्त्रों के द्वारा सर्वसंहार करके शान्ति प्राप्त करूँगा । हे सज्जय ! कौरवों से यह मेरा दृढ सङ्कल्प कष्ट देना । इन्द्र आदि देवताओं की सहायता पाकर भी जिन्हें हराना असंभव है उनसे यों युद्ध करने के लिए तैयार होना दुर्योधन का भारी भ्रम है । चाहे जो हो, अब मेरी प्रार्थना ईश्वर से यही है कि पितामह भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर जिसके लिए कहते हैं वह सन्धि ही हो और कुरुवंश के सब लोग विनाश से बचकर चिरजीवी हों ॥ १०६।१०९ ॥

उद्योगपर्व का अठ्ठालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

अथ ऊनपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच—समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।

दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शांतनवोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहस्पतिश्चाशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ ।

उनचासवा अध्याय ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! एक समय बृहस्पति, शुक्राचार्य, इन्द्र, अग्नि, इसके पश्चात् भीष्म पितामह ने कहा—हे दुर्योधन ! सप्तऋषि, वासु, वसु, आदित्य, साध्य, अप्सराएँ

अयाचत महात्मानो नरनारायणौ वरम्	॥ ११ ॥
तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम	।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति	॥ १२ ॥
ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि	।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान्	॥ १३ ॥
नर इंद्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून्परतपः	।
पौलोमान्कालखंजांश्च सहस्राणि शतानि च	॥ १४ ॥
एष भ्राते रथे तिष्ठन् भलेनाऽपाहरच्छिरः	।
जंभस्य प्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे	॥ १५ ॥
एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत्	।
जित्वा पट्टिं सहस्राणि निवातकवचात्रणे	॥ १६ ॥
एष देवान्सहेंद्रेण जित्वा पुरपुरंजयः	।
अतर्पयन्महाबाहुर्जुनोऽजातवेदसम्	॥ १७ ॥
नारायणस्तथैवाऽत्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह	।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ	॥ १८ ॥
वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ	।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः	॥ १९ ॥

रहा था। देवगण भयभीत हुए-हुए थे। इन्द्र आदि देवगण वहाँ पर पहुँचे जहाँ नर-नारायण तप कर रहे थे। इन्द्र आदि देवताओं ने उनके पास पहुँचकर वर माँगा ॥१०११॥

नर-नारायण ने कहा—हे देवगण ! तुम वर माँगो। इन्द्र ने कहा—हे नर-नारायण ! आप हमारी सहायता कीजिए। तब नर-नारायण ने कहा—हे इन्द्र ! तुम जो चाहते हो वही होगा। इन्द्र ने नर-नारायण की सहायता से दैत्यों और दानवों को हराया। शत्रुदमन, नर ने इन्द्र के शत्रु सैकड़ों-हजारों पौलोम और कालखञ्ज असुरों को

मारा। जम्भासुर उन्हें प्रसने के लिए उद्यत हुआ, तब भ्रमण-शील रथ पर बैठकर उन्होंने मल्ल बाण से उसका सिर काट डाला ॥१२११५॥

नर ने समुद्र पार जाकर साठ हजार निवात-कवच असुरों को मारकर हिरण्यपुर नगर को उजाड़ा है। शत्रुदमन महाबाहु नर ने इन्द्रसहित देवताओं को परास्त करके अग्नि को तृप्त किया है। इसी तरह नारायण ने भी अन्य बहुत से बड़े-बड़े दानवों और दैत्यों को मारा है। वही नर अर्जुन और नारायण श्रीकृष्ण है। उन दोनों पराक्रमी पुरुषों को एक साथ देखो। मैं यह बात अपने मन से

तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥ २८ ॥

कर्ण उवाच—नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामास्य पितामह ।

क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥ २९ ॥

किं चाऽन्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे ।

न हि मे वृजिनं किञ्चिद्द्वार्तराष्ट्रा विदुः क्वचित् ॥ ३० ॥

नाऽचरं वृजिनं किञ्चिद्द्वार्तराष्ट्रस्य नित्यशः ।

अहं हि पांडवान्सर्वान्हनिष्यामि रणे स्थितान् ॥ ३१ ॥

प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः ।

राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया ।

तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शांतनवः पुनः ।

धृतराष्ट्रं महाराज संभाष्येदं वचाऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥

यदयं कथ्यते नित्यं हंताऽहं पांडवानिति ।

नाऽयं कलाऽपि संपूर्णा पांडवानां महारमनाम् ॥ ३४ ॥

अनयो योऽयमागंता पुत्राणां ते दुरात्मनाम् ।

तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ३५ ॥

कहे में हैं । किन्तु तुम परशुराम के शाप से कलङ्कित हीनजाति, सूतपुत्र कर्ण, शकुनि और पापबुद्धि दुःशासन को अपना मन्त्री बनाये हुए हो ॥२३॥२८॥

कर्ण ने कहा—हे पितामह ! आप अब फिर ऐसी बात मुँह से न निकालिएगा । मैं अपने धर्म से अग्र न होकर, क्षत्रधर्म धारण किये हुए हूँ; दुर्योधन को क्षत्रिय का धर्म पालने की सम्मति दे रहा हूँ । विशेषकर मुझमें ऐसा कोई दोष या दुराचार नहीं है जिसके कारण आप मेरी मिन्दा कर सकें । दुर्योधन आदि कौरवों ने कभी कुछ भी पाप मुझमें नहीं देखा ॥२९॥३०॥

मैंने कभी दुर्योधन का कुछ अनिष्ट नहीं किया;

बल्कि दुर्योधन आदि का यह प्रिय कहूँगा कि रण में अर्जुन आदि पाण्डवों को मारूँगा । पहले जिनके साथ विरोध हो चुका है उनसे अब संधि कैसे हो सकती है ? महाराज धृतराष्ट्र का सब तरह दित करना ही मेरा कर्तव्य है । राजपद पर प्रतिष्ठित दुर्योधन का प्रिय करने के लिए मैं सब तरह तैयार हूँ ॥३१॥३२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कर्ण के ये वाक्य सुनकर भीष्म ने राजा धृतराष्ट्र से कहा— कर्ण यह कहकर नित्य अपनी प्रशंसा किया करता है कि मैं पाण्डवों को मारूँगा; किन्तु वह पाण्डवों के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है । तुम निश्चय

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत्क्रियतां नृप ।
 न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ४४ ॥
 परा युद्धात्साधु मन्ये पांडवैः सह संगतम् ।
 यद्वाक्यमर्जुनैर्नोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥ ४५ ॥
 सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पांडवः ।
 न ह्यस्य त्रिपु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥ ४६ ॥
 अनादृत्य तु तद्वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।
 ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पांडवान् ॥ ४७ ॥
 तदैव कुरुवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
 भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ॥ ४८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये ऊनपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इच्छा के अनुसार कार्य करना आपको उचित नहीं।
 युद्ध छिड़ने से पहले ही पाण्डवों से सन्धि कर लेना
 मैं अच्छा समझता हूँ। सञ्जय ने अर्जुन के जो
 वाक्य कहे हैं उनकी यथार्थता को मैं अच्छी तरह
 जानता हूँ। अर्जुन अवश्य वैसे ही कार्य करेगा; क्योंकि
 त्रिभुवन में अर्जुन के समान धनुर्विद्या में प्रवीण योद्धा

दूसरा कोई नहीं है ॥४२।४६॥

महात्मा भीष्म और द्रोण की बातों पर ध्यान
 न देकर राजा धृतराष्ट्र सञ्जय से पाण्डवों की बातें
 पूछने लगें। धृतराष्ट्र ने जब भीष्म और द्रोणाचार्य
 के वचनों का अनुमोदन नहीं किया तभी सब कुरुवंशी
 अपने जीवन से निराश हो गये ॥४७।४८॥

उद्योगपर्व का उनचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

अथ पंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—किमसौ पांडवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।

श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं न समागताः ॥ १ ॥
 किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
 के वाऽस्य भ्रातृपुत्राणां पश्यंत्याज्ञेप्सवो मुखम् ॥ २ ॥
 कंस्विदेनं वारयंति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः ।

पंचासवा अध्याय ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! हमारी प्रसन्नता और
 सहायता के लिए यहाँ अनेक राजाओं की अपार सेना के
 आने का हाल सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने क्या कहा !

युद्ध के लिए वे कैसा उद्योग कर रहे हैं ? भाइयों
 और पुत्रों में से कौन-कौन उनकी आज्ञा का राह
 देख रहे हैं ? मेरे मन्दबुद्धि पुत्रों ने छल करके पाण्डवों

	संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।	
	वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ॥ १२ ॥	
धृतराष्ट्र उवाच—	अपश्यत्संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान्महारथान् ।	
	तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्देजितं मनः ॥ १३ ॥	
वैशम्पायन उवाच—	संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्रस्येदमब्रवीत् ।	
	धृतराष्ट्र महाराज सभायां कुरुसंसदि ॥ १४ ॥	
संजय उवाच—	दृष्टवानस्मि राजेंद्र कुन्तीपुत्रान्महारथान् ।	
	मत्स्यराजगृह्णावासानिरोधेनाऽवकर्शितान् ॥ १५ ॥	
	शृणु यैर्हि महाराज पांडवा अभ्ययुंजत ।	
	धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुंजत ॥ १६ ॥	
	यो नैव रौपाय लोभान्नाऽर्थकारणात् ।	
	न हेतुवादाद्धर्मात्मा सत्यं जह्यात्कदाचन ॥ १७ ॥	
	यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।	
	अजातशत्रुणा तेन पांडवा अभ्ययुंजत ॥ १८ ॥	
	यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।	
	यो वै सर्वान्महीपालान्वशे चक्रे धनुर्धरः ।	
	यः काशीनङ्गमगधान्कलिगांश्च युधाऽजयत् ॥ १९ ॥	
	तेन वो भीमसेनेन पांडवा अभ्ययुंजत ।	

गिर पड़े ॥१०।११॥

तब विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा—हे महाराज ! संजय बेहोश होकर गिर पड़े हैं । इमी से कुछ बोल नहीं सकते ॥१२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—संजय शायद महारथी पाण्डवों को देखकर व्याकुल से हो गये हैं, इसी से इस समय बेहोश हो गये हैं ॥१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इतने में संजय को होश आ गया । उन्होंने ठठकर कौरवों के सामने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजेन्द्र ! मैंने

जाकर देखा कि विराट के घर में एक वर्ष अज्ञातवास करने के कारण पाण्डव दुबले हो रहे हैं ॥१४।१५॥

हे राजेन्द्र ! उन पाण्डवों ने कौरवों से युद्ध करने के लिए जिन राजाओं को एकत्र किया है उनका वर्णन सुनिए । उन्होंने धृष्टद्युम्न को अपना लिया है । जो महात्मा क्रोध, भय, लोभ और अर्थ या हेतुवाद आदि किसी कारण से सत्य को नहीं छोड़ते, जो श्रेष्ठ धार्मिक महात्मा धर्म के बारे में प्रमाण माने जाते हैं, वे अजातशत्रु युधिष्ठिर कौरवों से युद्ध करने को तैयार हैं ॥१६।१७॥

तेन वो दर्शनीयेन वीरेणाऽतिधनुर्भृता ।
 माद्रीपुत्रेण कौरव्य पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३० ॥
 यः काशीनङ्गमगधान्कलिर्गांश्च युधाऽजयत् ।
 तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३१ ॥
 यस्य वीर्येण सहशाश्रुत्वारो भुवि मानवाः ।
 अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रव्युम्न एव च ॥ ३२ ॥
 तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन्महात्ययम् ।
 यवीयसा नृवीरेण माद्रीनंदिकरेण च ॥ ३३ ॥
 तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती ।
 भीष्मस्य वधमिच्छंती प्रेत्याऽपि भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
 पांचालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान् ।
 स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्रः यः स वेद गुणागुणान् ॥ ३५ ॥
 यः कलिगान्समापेदे पांचाल्यो युद्धदुर्मदः ।
 शिखंडिना वः कुरुवः कृतास्त्रेणाऽभ्ययुञ्जत ॥ ३६ ॥
 यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया ।
 महेष्वासेन रौद्रेण पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३७ ॥

के लिए उद्यत हैं ॥२५।२७॥

जो म्लेच्छों से पूर्ण पश्चिम दिशा को अपने बाहुबल से जीत चुके हैं वे विचित्र युद्ध करनेवाले परम सुन्दर नकुल कौरवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हैं ॥२८।२९॥

जिसने काशी, अङ्ग, मगध व कलिङ्ग देश के निवासियों को समर में जीत लिया उन्हीं की सहायता से पाण्डव लोग तुमसे युद्ध करने को उद्यत हैं ॥३०॥

पृथ्वी पर अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी और प्रव्युम्न, यही चार योद्धा जिनकी बराबरी कर सकते हैं वे सहदेव भी कौरवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हैं ॥३१।३२॥

काशिराज की सती कन्या अम्बा पहले घोर तप करके भीष्म की मृत्यु के लिए प्राण दे चुकी है। वही फिर पाञ्चालराज द्रुपद के घर कन्या के रूप में उत्पन्न हुई। अन्त को वह दैव की कृपा से स्त्री से पुरुष हो गई। वही स्त्री और पुरुष के सब गुण-दोषों को जाननेवाले, कलिङ्ग निवासियों को डरानेवाले, भीष्म को मारने के लिए वन में यक्ष से पुरुष-भाव प्राप्त करनेवाले, महाधनुर्धर, अममूर्ति शिखण्डी कौरवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हैं ॥३३।३६॥

जिसे भीष्म के वध की इच्छा से कुबेर ने पुरुष बनाया उसी बड़े धनुर्धर की सहायता से पाण्डव लोग तुम्हारे साथ युद्ध करने को उद्यत हुए हैं ॥३७॥

करकर्पेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुंजत ॥ ४७ ॥

जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ ।

युद्धे प्रतिरथे वीरौ पांडवार्थे व्यवस्थितौ ॥ ४८ ॥

द्रुपदश्च महातेजा वलेन महता वृतः ।

त्यक्त्वात्मा पांडवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः ॥ ४९ ॥

एते चाऽन्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः ।

शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

से युद्ध करने के लिए तैयार हैं ॥४७॥

युद्ध में जिनका सामना करना अत्यंत दुष्कर है वे

जरासन्ध के पुत्र सहदेव और राजा जयत्सेन पाण्डवों

की सहायता करने को तैयार हैं ॥४८॥

बहुत सी सेना साथ में लिए महाबली और

उद्योगपर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

तेजस्वी राजा द्रुपद भी अपना सर्वस्व पाण्डवों को

देकर कौरवों से युद्ध करने को तैयार हैं ॥४९॥

इनके सिवा पूर्व और उत्तर दिशा के रहनेवाले

असंख्य राजा पाण्डवों की ओर होकर कौरवों से युद्ध

करने को तैयार हैं ॥५०॥

अथ एकपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

घृतराष्ट्र उवाच—सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः ।

एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः ॥ १ ॥

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत् ।

क्रुद्धादमर्षणात्तात व्याघ्रादिव महारुरोः ॥ २ ॥

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।

भीतो वृकोदरात्तात सिंहात्पशुरिवाऽपरः ॥ ३ ॥

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः ।

सैन्येऽस्मिन्प्रतिपश्यामि य एनं विपहेद्युधि ॥ ४ ॥

इक्यावनवां अध्याय ॥ ५१ ॥

घृतराष्ट्र ने कहा—हे सज्जय ! तुमने जिनके नाम लिये वे सब बड़े वीर हैं; किन्तु अकेले भीमसेन उन सबके बराबर हैं। जैसे बाघ से मृग और सिंह से अन्य पशु डरते हैं वैसे भीमसेन से मैं भयभीत होता

हूँ। भय के मोरे रात्रि को मुझे निद्रा नहीं आती ॥१॥२॥

इन्द्र के तुल्य तेजस्वी, महाबाहु भीमसेन का सामना कर सकने वाला एक मनुष्य भी मुझे अपनी ओर नहीं देख पड़ता। वे महाउत्साही, बली,

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे ।
 महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद्भीममाहवे ॥ १४ ॥
 संजयाऽऽचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम् ।
 अतिलाभं तु मन्येऽहं यत्तेन रिपुघातिना ॥ १५ ॥
 तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना ।
 येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः ॥ १६ ॥
 कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति ।
 न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय ॥ १७ ॥
 किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः संप्रति पांडवः ।
 निष्ठुरो रोपणोऽत्यर्थं भज्येताऽपि न संनमेत् ।
 तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शास्येद्वृकोदरः ॥ १८ ॥
 शूरस्तथाऽप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः ।
 प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाऽधिकोऽर्जुनात् ॥ १९ ॥
 जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनाऽत्येति कुंजरान् ।
 अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पांडवो बली ॥ २० ॥
 इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात्पुरा ।
 रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पांडवः ॥ २१ ॥

मैं मानों देख रहा हूँ कि क्रोधित भीमसेन युद्ध में अमंज्य मनुष्यों, हाथियों और घोड़ों की नाश कर रहे हैं । अस्त्रशिक्षा में द्रोणाचार्य के समान, वेग में वायु के तुल्य और क्रोध में साक्षात् रुद्र के सदृश वीर भीमसेन को युद्ध में कौन मार सकेगा ! ॥१३।१४॥

मैं हमी को बड़ा भारी लाभ समझता हूँ जो महाबली भीमसेन ने उसी वलेश के समय मेरे पुत्रों को नहीं मार डाला । महाबली यक्षों और राक्षसों को मारनेवाले भीमसेन के वेग को साधारण मनुष्य कैसे सह सकेंगे भीमसेन बाल्यावस्था में भी कभी

मेरे वश में नहीं रहे । इस समय तो मेरे पुत्रों ने उन्हें इतने वलेश दिये हैं; अब वे कैसे मेरा कटा मान सकते हैं । वे अत्यन्त निष्ठुर और क्रोधी हैं । वे जीते जी झुक नहीं सकते । क्रोध के मार सदा टढ़ी दृष्टि से देखनेवाले और सटी हुई मौड़ोंवाले भीमसेन मला कैसे शान्त रह सकते हैं ? ॥१५।१८॥

व्यास के मुँह से सुनकर बाल्यावस्था से ही भीमसेन का रूप, बल और पराक्रम मैं जानता हूँ व्यास ने कहा है कि मैंने पाण्डव वृकोदर अद्वितीय शूर और बली हैं, उनका रङ्ग गौरा है और वे ताड़ के पेड़ ऐसे ऊँचे हैं । भीमसेन अर्जुन से मुट्टी

सृक्किणी लेलिहानस्य वाष्पमुत्सृजतो मुहुः ॥ २९ ॥
 उद्दिश्य नागान्पततः कुर्वतो भैरवात्रवान् ।
 प्रतीपं पततो मत्तान्कुंजरान्प्रतिगर्जतः ॥ ३० ॥
 विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः ।
 अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ॥ ३१ ॥
 वीथीं कुर्वन्महाबाहुर्द्रावयन्मम वाहिनीम् ।
 नृत्यन्निव गदापाणिर्युगांतं दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥
 प्रभिन्न इव मातंगः प्रभंजन्पुष्पितान्द्रुमान् ।
 प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ॥ ३३ ॥
 कुर्वन्स्थान्विपुरुषान्विसारथिहयध्वजान् ।
 आरुजन्पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ॥ ३४ ॥
 गंगावेग इवाऽनूपांस्तीरजान्विविधान्द्रुमान् ।
 प्रभंक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ॥ ३५ ॥
 दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः ।
 मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ॥ ३६ ॥
 येन राजा महावीर्यः प्रविश्याऽन्तःपुरं पुरा ।
 वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ॥ ३७ ॥
 कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता ।

चाटते और नाक से जौर-जौर से सांस छोड़ते हुए वे भयङ्कर शब्द करनेवाले हाथियों के झुण्ड की ओर झपटेंगे तब उनका सामना करने के लिए जो मेरे पुत्र जायेंगे वे अवश्य मारे जायेंगे ॥२९।३०॥

महापराक्रमी, क्रोधी भीमसेन मेरी सेना को मारकर अपनी राह साफ करते और गदा हाथ में लिये नाचते हुए प्रलयकाल का सा घोर दृश्य उपस्थित कर देंगे। जैसे मस्त हाथी फूले हुए पेड़ों को कुचलता है वैसे ही पराक्रमी भीमसेन रणभूमि में घुसकर जब मेरे पुत्रों की सेना का मंहार करेंगे—

जब वे रथों को सारथी, घोड़े, ध्वजा और रथी से शून्य करेंगे तथा हाथियों पर बैठे हुए योद्धाओं को पीड़ित करेंगे—तब उनके सामने कौन ठहर सकेगा! जैसे गङ्गा का प्रवाह किनारे के पेड़ों को बहाता और उखाड़ता चलता है वैसे ही भीमसेन अपने आस-पास की कौरवसेना को नष्ट करते चलेगे ॥३१।३५॥

मेरे पुत्र, सेवक और सहायक राजा लोग भीमसेन के भय से युद्ध छोड़कर इधर-उधर भाग खड़े होंगे। ३६।

मगध-नरेश बुद्धिमान् प्रतापी जरासन्ध ने अपने बाहुबल और प्रभाव से सारे राजाओं को अपने अधीन

वलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः ।
 पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत्सुतान् ॥ ४७ ॥
 ते पुराणं महेश्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः ।
 त्यक्ष्यन्ति तुमुले प्राणान् रक्षन्तः पार्थिवं यशः ॥ ४८ ॥
 यथैष मामकास्तात तथैषां पांडवा अपि ।
 पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ४९ ॥
 ये त्वस्मदाश्रयं किञ्चिद्दत्तमिष्टं च संजय ।
 तस्याऽपचितिमार्थत्वात्कर्तारः स्थविरास्त्रयः ॥ ५० ॥
 आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः ।
 निधनं क्षत्रियस्याऽऽजौ वरमेवाऽऽद्भुरुत्तमम् ॥ ५१ ॥
 स वै शोचामि सर्वान्वै ये युयुत्सन्ति पांडवैः ।
 विक्रुष्टं विदुरेणाऽऽदौ तदेतद्भयमागतम् ॥ ५२ ॥
 न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय ।
 भवत्यति बलं ह्येतज्ज्ञानस्याऽप्युपघातकम् ॥ ५३ ॥
 ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान् ।
 सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ ५४ ॥

यद्यपि मेरी ही तरह भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य भी भीमसेन के बल-पराक्रम को जानते हैं तो भी वे आर्य लोगों के सदाचार के अनुसार मेरे पुत्रों की सेना में रहकर पाण्डवों से युद्ध करेंगे ॥४५॥४६॥

पुरुष का भाग्य बढ़ा ही प्रबल है । मैं पाण्डवों की जीत सारासर देखकर भी अपने पुत्रों को नहीं रोकता, यह भी होना ही है । भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि योद्धा चिरप्रसिद्ध स्वर्गमार्ग में जाने के लिए क्षत्रिय-कीर्ति की रक्षा करते हुए सभ्राम में प्राणत्याग करेंगे ॥४७॥४८॥

इनके लिए जैसे मेरे पुत्र हैं वैसे ही पाण्डव हैं । कौर्ध-पाण्डव दोनों ही कृपाचार्य और द्रोणाचार्य

के शिष्य हैं ॥४९॥

भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य तीनों वृद्ध पुरुष हमारे आश्रय में रहते हैं । इनके साथ जो कुछ कौरवों ने किया है उसका बदला देना आर्यधर्म जानकर ये तर्कों महापुरुष दुर्बोधन का साथ देंगे ॥५०॥

पाण्डवों का कहना है कि शस्त्र हाथ में लेकर युद्ध में प्राणत्याग करना क्षत्रियधर्म पर चलने-वाले का और क्षत्रिय का प्रधान धर्म है । पाण्डवों के साथ जिन्हें युद्ध करना पड़ेगा उन सबके लिए मैं शोकविह्वल हो रहा हूँ । विदुर ने पहले ही पुकार-कर जिसकी सूचना दे दी थी वह विपत्ति सिर पर आ गई है ॥५१॥५२॥

अथ द्विपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

घृतराष्ट्र उवाच—यस्य वै नाऽनृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम ।
 त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद्योद्धा यस्य धनंजयः ॥ १ ॥
 तस्यैव च न पश्यामि युधि गांडीवधन्वनः ।
 अनिशं चिंतयानोऽपि यः प्रतीयाद्रथेन तम् ॥ २ ॥
 अस्यतः कर्णिनालीकान्मार्गणान्हृदयच्छिदः ।
 प्रत्येता न समः कश्चिद्युधि गांडीवधन्वनः ॥ ३ ॥
 द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ ।
 कृतास्त्रौ वलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ॥ ४ ॥
 महान्स्यात्संशयो लोकेन त्वस्ति विजयो मम ।
 घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ॥ ५ ॥
 समर्थो बलवान्पार्थो हृदधन्वा जितक्लमः ।
 भवेत्सुतमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ॥ ६ ॥
 सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद्यशः ।
 अपि सर्वाभरैश्चर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ॥ ७ ॥
 वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च ।

बावनवां अध्याय ॥ ५२ ॥

घृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! मैंने युधिष्ठिर के मुँह से कभी कोई असत्य बात नहीं सुनी । उनकी ओर युद्धकरनेवाले महावीर सव्यसाची अर्जुन हैं । राजा युधिष्ठिर अर्जुन की सहायता से त्रैलोक्य का राज्य प्राप्त कर सकते हैं । बारम्बार सोचने पर भी मुझे ऐसा कोई वीर नहीं देख पड़ता जो रथ पर चढ़कर अर्जुन से युद्ध कर सके । जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन कर्णों, नालीक, शिर्षामुल आदि वाण चलावेंगे और दिव्य अस्त्रों का कौशल दिखावेंगे तब कोई उनका सामना न कर सकेगा । अपराजित पुरुषश्रेष्ठ द्रोणाचार्य और कर्ण दोनों ही अर्जुन से युद्धकरने जायें तो अन्य

लोगों को जय-पराजय के बारे में सन्देह हो सकता है किन्तु मुझे तो निश्चय है कि विजय अर्जुन की ही होगी । क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और द्रोणाचार्य एक तो बूढ़े, दूसरे कौरव और पाण्डव दोनों के गुरु हैं । किन्तु अर्जुन समर्थ, बलवान् और परिश्रमी हैं । उनका धनुष भी श्रेष्ठ और दृढ़ है । तीनों वीर अपराजित, अस्त्रविद्या में निपुण, शूर, उत्साही और यशस्वी हैं । ये लोग देवताओं के राज्य को भले ही छोड़ दें, परन्तु जय की इच्छा को नहीं छोड़ सकते ॥१॥७॥

द्रोण और कर्ण की मृत्यु हो जाय या अर्जुन की मृत्यु हो जाय, तभी वह समर बन्द हो सकता

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ॥ १६ ॥

गांडीवोत्थं दहेताऽऽजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।

अपि सा रथघोषेण भयार्ता स्वयसाचिनः ॥ १७ ॥

वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।

यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत्सर्वतश्चरन् ।

महार्चिरनिलोद्धृतस्तद्वद्धक्षयति मामकान् ॥ १८ ॥

यदोद्गमन्निशितान्बाणसंधांस्तानाततायी समरे किरीटी ।

सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा यथा भवेत्तद्वदपारणीयः ॥ १९ ॥

यदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून्प्रकाराञ्श्रोताऽस्मि तानावसथे कुरूणाम् ।

तेषां समंताच्च तथा रणाग्रे क्षयः किलाऽयं भरतानुपैति ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

कर पृथ्वी पर गिरा रहे हैं ॥१५॥

अर्जुन के गाण्डीव धनुष से छूटे हुए तेजोमय प्रज्वलित बाण मेरी सेना को भस्म कर रहे हैं और कौरवों की सेना, अर्जुन के रथ के शब्द को सुनकर व्याकुल हुई-हुई इधर-उधर भाग रही है ॥१६।१७॥

वायु से बढ़ी हुई अग्नि जैसे इधर-उधर घूमकर जङ्गल को जलाती है, वैसे ही पाण्डवों का तेज मेरे

पुत्रों को भस्म कर डालेगा । जब फुटीले अर्जुन तीक्ष्ण बाण बरसावेंगे तब वे सबका संहार करनेवाले यमराज की तरह अत्यन्त असह्य हो उठेंगे । हे संजय ! मैं घर में बैठे बैठे बारम्बार सुनूंगा कि कौरव-सेना छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर भाग रही है । निश्चय है कि यह कौरवों का नाश करनेवाला युद्ध होगा । १८।२० ॥

—०—

उद्योगपर्व का वाचनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—यथैव पांडवाः सर्वे पराक्रांता जिगीषवः ।

तथैवाऽभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः ॥ १ ॥

त्वमेव हि पराक्रांतानाचक्षीथाः परान्मम ।

पंचालान्केकयान्मत्स्यान्मागधान्वरसभूमिपान् ॥ २ ॥

यश्च सेन्द्रानिमांल्लोकानिच्छन्कुर्याद्विशे वली ।

तिरपनवा अध्याय ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय ! जय की इच्छा रखनेवाले पाण्डव जैसे पराक्रमी हैं वैसे ही उनके शागे युद्ध-भूमि में चलनेवाले योद्धा भी उनके लिए प्राण

देने का दृढ़ निश्चय किये हुए हैं । तुम्हीं ने कहा है कि बड़े वली और पराक्रमी पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, मगध और वरभद्र देश के राजा पाण्डवों की सहायता

तपंतमभि को मंदः पतिष्यति पतंगवत् ।
 पांडवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ॥ १२ ॥
 तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
 मंदानां मम पुत्राणां युद्धेनाऽतं करिष्यति ॥ १३ ॥
 तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निवोधत ।
 युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम् ॥ १४ ॥
 एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः ।
 यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शांस्तै यतामहे ॥ १५ ॥
 न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः ।
 जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

को अच्छी तरह जाननेवाले, जितेन्द्रिय, वृद्धों की सेवा में रहनेवाले और पुण्यात्मा हैं। इन सब गुणों से अलंकृत महारमा युधिष्ठिर प्रज्वलित अग्नि के समान हैं। कौन मूढ़ पुरुष मरने की इच्छा से उस अनिवार्य अग्नि में पतझ की तरह कूदना चाहेगा? मैंने अग्नि के समान तजस्वी राजा युधिष्ठिर से अनुचित कपट का व्यवहार किया है। इस कारण मुझे निश्चय है कि वे युद्ध में मेरे अर्मांग पुत्रों का नाश कर डालेंगे ॥ ८।१३ ॥

हे कौरव लोगों! मेरी समझ में उन वीर पाण्डवों से युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। युद्ध करने से कौरव-कुल का संहार हो जायगा। यही मेरा निश्चय है। सन्धि कर लेने से ही मेरे मन को शान्ति मिलेगी। जो तुम प्रसन्न हो जाओ तो मैं सन्धि के लिए यत्न करूँ; नहीं तो मेरे अत्यन्त बलेश को देखकर भी युधिष्ठिर तरह नहीं देंगे। वे मुझे ही इस अधर्म का कारण मानकर मेरी निन्दा किया करते हैं ॥ १४।१६ ॥

उद्योगपर्व का तिरपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

अथ चतुःपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

संज्ञय उवाच—एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत ।
 युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गांडीवेन प्रदृश्यते ॥ १ ॥
 इदं तु नाऽभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः ।
 यत्पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

चौवनवां अध्याय ॥ ५४ ॥

संज्ञय ने कहा—हे भारतश्रेष्ठ! आपका कहना नाश होता देख पड़ता है। किन्तु नहीं मालूम, आप सत्य है। युद्ध में गाण्डीव धनुष से सब क्षत्रियों का अर्जुन के बल-विक्रम को अच्छी तरह जानकर भी

प्रवर्षतः शरवातानर्जुनस्याऽशितान्वहून् ।
 अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनेयः ॥ ११ ॥
 अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गांडिवं धनुषां वरम् ।
 केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ॥ १२ ॥
 वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः ।
 एवमेतानि सरथो बहूश्चेतहयो रणे ॥ १३ ॥
 क्षपयिष्यति नो राजन्कालचक्रामिवोद्यतम् ।
 तस्याऽद्य वसुधा राजन्निखिला भरतर्षभ ॥ १४ ॥
 यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम ।
 तथा भीमहत्प्रयां मञ्जतीं तव वाहिनीम् ॥ १५ ॥
 दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यंति कौरवाः ।
 न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यंते विजयं विभो ॥ १६ ॥
 तव पुत्रा महाराज राजानश्चाऽनुसारिणः ।
 मत्स्यास्त्वामद्य नाऽर्चति पंचालाश्च सकेकयाः ॥ १७ ॥
 शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते ।
 पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ॥ १८ ॥

हे राजेन्द्र ! पाण्डव जब जुए में हारकर वन को चले जा रहे थे तब आप बालकों की तरह बारबार मुसकाकर प्रसन्नता प्रगट कर रहे थे ॥१०॥

हे महाराज ! अर्जुन के वाण बरसाने पर मनुष्यों की कौन कहे, समुद्र भी सूख जा सकते हैं । अर्जुन सब धनुष धारण करनेवाले वीरों में श्रेष्ठ हैं । गाण्डीव सब धनुषों में श्रेष्ठ है । वैसे ही श्रीकृष्ण सब प्राणियों में श्रेष्ठ हैं और उनका सुदर्शन चक्र सब शस्त्रों में अद्वितीय है ॥१११२॥

अर्जुन का वानरयुक्त केतु (ध्वजा) भी अद्वितीय है । हे राजेन्द्र ! यह सब सामग्री जब भेत घोड़ों से शोभित अर्जुन के रथ पर एकत्र होगी

तब प्रतापी अर्जुन कालदण्ड की तरह कौरवपक्ष के सब लोगों का विनाश कर डालेंगे । हे भरतश्रेष्ठ ! भीमसेन और अर्जुन जिनकी ओर युद्ध करनेवाले हैं वे युधिष्ठिर इसी समय सारी पृथ्वी को जातिकर अपने अधिकार में कर सकते हैं । दुर्योधन आदि कौरव भीमसेन के हाथ से अपनी सेना का संहार होते देखेंगे और आप भी विनाश को प्राप्त होंगे । हे स्वामी ! भीम और अर्जुन के पराक्रम से मन ही मन डरनेवाले आपके पुत्र और उनके अनुगामी लोग कभी विजय नहीं पा सकते ॥१३१६॥

हे महाराज ! मत्स्य, पांचाल, कंकय, शाल्व, शूरसेन आदि देशों के राजा अर्जुन के पराक्रम को